श्री अरविन्द का समाज दर्शन

दर्शनशास्त्र में लेखक की रचनाएँ

1. The Philosophy of Sri Aurobindo, 3rd Ed.
2. The Social Philosophy of Sri Aurobindo
3. Indian Philosophy, 2nd Ed.
4. Outlines of Ethics
5. Philosophical Problems
6. Philosophy of Religion
7. History of Western Philosophy
8. Modern Western Philosophy
9. Philosophy of Culture
10. PLATO
11. SAMKARA
12. LOGIC
13. Nature of Self (Ed.)
14. Indian Psychology (Ed.)
15. Yoga and Para-Psychology
16. Overview of Philosophy
17. Essentials of Indian Philosophy
18. Social Philosophy
19. Social Philosophy of Sri Aurobindo
20. Philosophy of Education
21. श्री अरविन्द का सर्वांग दर्शन, तृतीय संस्करण
22. राष्ट्र धर्म दृष्टा श्री अरविन्द, द्वितीय संस्करण
23. भारतीय दर्शन के मूल तत्व, पंचम संस्करण
24. नीतिशास्त्र की रूपरेखा, पंचम संस्करण
25. पाश्चात्य दर्शन का ऐतिहासिक विवेचन, द्वितीय संस्करण
26. पाश्चात्य दर्शन का समस्यात्मक विवेचन, द्वितीय संस्करण
27. तर्कशास्त्र, द्वितीय संस्करण
28. समाज दर्शन, द्वितीय संस्करण
29. भारतीय मनोविज्ञान
30. समकालीन दर्शन
31. समकालीन भारतीय दर्शन
32. भारतीय नीतिशास्त्र
33. धर्म दर्शन
34. शिक्षा दर्शन
35. पाश्चात्य नीतिशास्त्र
36. यूनानी दर्शन
37. आधुनिक पाश्चात्य दर्शन
38. समकालीन भारतीय शिक्षा दार्शनिक
39. समकालीन भारतीय शिक्षा दर्शन
40. धर्म का दर्शन एवं मनोविज्ञान

श्री अरविन्द का समाज दर्शन

डॉ० रामनाथ शर्मा
डी० फ़िल० (प्रयाग), डी० लिट्० (मेरठ)
रीडर तथा अध्यक्ष
स्नातकोत्तर अध्ययन एवं अनुसन्धान विभाग
मेरठ कॉलिज, मेरठ विश्वविद्यालय

प्रकाशक :

विवेक प्रकाशन
7-UA, जवाहर नगर
दिल्ली-110007

प्रथम 1982 मूल्य 60 00 रुपये

प्रकाशक

विवेक प्रकाशन
7-UA, जवाहर नगर,
दिल्ली-110007.

प्रथम संस्करण, 1982

मुद्रक :
सरस्वती मुद्रण प्रतिष्ठान,
H-26, राधेपुरी, दिल्ली-110051;
द्वारा अजय प्रिंटर्स दिल्ली 110032

भूमिका

हमारा युग मानव-इतिहास में आध्यात्मिक संकट का युग है। यह संकट बौद्धिक, वैज्ञानिक सभ्यता के एकांगी विकास का परिणाम है। इस संकट को समझना और उसके निदान तथा उपचार निकालना मनुष्य की भावी प्रगति के लिए आवश्यक है। इसके लिए सामाजिक विकास की सम्पूर्ण प्रक्रिया और उसे प्राप्त करने के लिए अब तक उपयोग की गई विभिन्न प्रणालियों के समीक्षात्मक विवेचन की आवश्यकता है। आज मनुष्य को एक सर्वांग समाज दर्शन की आवश्यकता है जोकि व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध को स्पष्ट कर सके और मानव-प्रजाति के एक नवीन आध्यात्मिक योग में प्रवेश के लिए सर्वांग विकास में सहायता कर सके।

श्री अरविन्द का स्थान समकालीन युग के प्रमुख समाज-दार्शनिकों में है। उन्होंने आजीवन एक सर्वांग दर्शन और उसके अंगस्वरूप एक सर्वांग समाज दर्शन के विकास करने का गम्भीर प्रयास किया। इस प्रयास में उन्होंने सामाजिक विकास के आदर्श को स्पष्ट किया और फिर इस आदर्श को प्राप्त करने के लिए मनुष्य द्वारा अब तक प्रयोग की गई विभिन्न प्रणालियों का विश्लेषण एवं विवेचन किया। उन्होंने यह दिखलाया कि इन प्रणालियों की क्या सीमाएँ हैं और इनका क्या योगदान है। किन्तु वे प्राचीन प्रणालियों के विवेचन पर ही नहीं रुक गए, उन्होंने सर्वांग योग के रूप में सामाजिक विकास की एक सर्वथा भिन्न प्रणाली निकाली। किन्तु उनके समाज दर्शन का अभी तक कोई व्यवस्थित प्रणयन और मूल्यांकन नहीं हुआ है। प्रस्तुत पुस्तक का प्रयोजन सबसे पहले श्री अरविन्द के समाज दर्शन को व्यवस्थित रूप से उपस्थित करना है। इसमें उनके कथनों पर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया जाएगा और उनके अर्थ स्पष्ट करने का प्रयास किया जाएगा। दूसरे, समकालीन भारत के प्रसिद्ध समाज-दार्शनिक मो० क० गांधी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा हमारे युग के प्रसिद्ध पाश्चात्य समाज-दार्शनिक कार्ल मार्क्स के समाज दर्शन के साथ श्री अरविन्द के विचारों की तुलना करके उनके गुण-दोषों की समीक्षा की जाएगी। पुस्तक के अन्तिम अध्याय में यह दिखलाने का प्रयास किया जाएगा कि अपनी मौलिक मान्यताओं से श्री अरविन्द अपनी परिकल्पनाओं में कहाँ तक हटे हैं अर्थात् उनका समाज दर्शन कहाँ पर एकांगी हो गया है। इस सम्बन्ध में उनकी मानव के भविष्य के विषय में परिकल्पनाओं की विशेष रूप से समीक्षा की जाएगी। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ लेखक के पूर्व-प्रकाशित ग्रन्थ 'श्री अरविन्द का सर्वांग दर्शन' का पूरक है। उपरोक्त ग्रन्थ में श्री अरविन्द के तत्त्वविद्या और ज्ञानशास्त्र की विवेचना की गई है। प्रस्तुत ग्रन्थ श्री अरविन्द के नीतिदर्शन, धर्मदर्शन, राजदर्शन और समाजदर्शन की विवेचना करता है। इस प्रकार ये दोनों ग्रन्थ मिलाकर श्री अरविन्द के समस्त चिन्तन का समी ८ विवेचन प्रस्तुत करते हैं

विवेचन की सुविधा के लिए प्रस्तुत पुस्तक में वर्तमान युग के संकट से आरम्भ किया गया है। समाज दर्शन का विवेचन प्रारम्भ करने से पूर्व उसके स्वरूप और प्रणालियों को स्पष्ट किया गया है। समाज दर्शन का लक्ष्य सामाजिक विकास की सैद्धान्तिक विवेचना करना है। अस्तु, पुस्तक के तीसरे और चौथे अध्यायों में क्रमशः सामाजिक विकास के दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक आधार स्पष्ट किए गए है। अगले चार अध्याय सामाजिक विकास की प्रक्रिया से सम्बन्धित हैं। इनमें क्रमशः इतिहास-दर्शन, सामाजिक विकास का मनोविज्ञान, सामाजिक विकास का आदर्श और राष्ट्रीयता एवं मानव-एकता को स्पष्ट किया गया है। पुस्तक के अगले चार अध्याय सामाजिक विकास के निर्धारकों के विषय में हैं। ये निर्धारक संस्कृति और सभ्यता, शिक्षा, नीति और धर्म हैं। श्री अरविन्द ने सर्वांग योग के रूप में एक नया निर्धारक प्रस्तुत किया है। पुस्तक के चौदहवें अध्याय में मानव-जाति के भविष्य के विषय में श्री अरविन्द की कल्पनाएँ स्पष्ट की गई हैं। अन्तिम अध्याय में पिछले अध्यायों के निष्कर्ष के अतिरिक्त श्री अरविन्द के समाज दर्शन का समीक्षात्मक विवेचन और तुलनात्मक अनुमान प्रस्तुत किया गया है।

लेखक के पूर्व-प्रकाशित ग्रन्थ 'श्री अरविन्द का सर्वांग दर्शन' के तीन संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। आशा है कि प्रस्तुत ग्रन्थ का भी पाठकों के द्वारा वैसा ही स्वागत होगा! सुझाव मिलने पर लेखक आभारी होगा।

—रामनाथ शर्मा

"अर्चना",
सिविल लाइन्स,
मेरठ-250001.

विषय-सूची

1

संकट के काल में समाज दर्शन

"वह एक नियम और एक सत्य होना चाहिए जोकि प्रत्येक प्राणी से और प्रकृति में समस्त प्राणियों से विविधता में एकता के हमारे सम्बन्धों को पूर्णतया निर्धारित करता और एक महान् आध्यात्मिक समष्टिगत जीवन की पूर्ण गति, समन्वय और लय का पता लगाता हो। उसी समय वह एक नियम और सत्य होना चाहिए जोकि हममें से प्रत्येक के लिए प्रत्येक क्षण, आत्मा, मानस जीवन, व्यक्तिगत प्राणी के शरीर में दैवी तत्त्व की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति की लयों और वास्तविक सोपानों का पता लगाता हो।"[1] —श्री अरविन्द

हमारे युग का संकट

हमारा समकालीन युग मानव-सभ्यता में एक महान् क्रान्ति का युग है। इतिहास और संस्कृति के अधिकतर उल्लेखनीय दार्शनिक इस बात पर सहमत हैं कि वर्तमान प्रवृत्तियाँ एक खतरनाक परिस्थिति दिखलाती हैं। स्पैंगलर, डेनिलवस्की, श्वाइट्ज़र, शूबर्ट, बर्दाइयेव, नारथ्रोप, टायनबी, क्रोयबर, सोरोकिन और श्री अरविन्द आदि आधुनिक युग के विभिन्न विचारकों ने युग के वर्तमान संकट को पहचाना है। जैसाकि श्री अरविन्द ने कहा है, "मानव ने सभ्यता की एक ऐसी व्यवस्था उत्पन्न की है जोकि उसकी सीमित मानसिक सामर्थ्य और समझ के परे हो गई है और उसकी प्रयोग करने और व्यवस्थित करने की और भी अधिक सीमित आध्यात्मिक और नैतिक सामर्थ्य से बड़ी है, उसके त्रुटिपूर्ण अहम् तथा उसकी भूखों का एक अत्यन्त खतरनाक नृत्य है।"[2] ओसवाल्ड स्पेंगलर ने इस संकट की व्याख्या एक मृतप्राय सभ्यता के अन्तिम प्रश्वास के रूप में की है। उसके अपने शब्दों मे, "यान्त्रिक प्रौद्योगिकी का इतिहास तीव्र गति से अपने अनिवार्य अन्त की ओर जा रहा है। प्रत्येक संस्कृति के महान् रूपों की तरह यह संस्कृति भी खा ली जाएगी। कब और किस तरह यह हम नहीं जानते।"[3] स्पेंगलर के निराशावादी निष्कर्षों से चाहे कोई कितना भी असहमत क्यों न हो किन्तु सांस्कृतिक पतन के चिह्नों का निरीक्षण इतना कठिन नहीं है। मानव-जाति की सृजन शक्ति तकनीकी बोझ के नीचे क्रमशः समाप्त होती जा रही है। वर्ग, वर्ण और शक्ति के विभाजनों के अन्तरों पर आधारित भारी मतभेद और शत्रुता से मानव-समाज की एकता समाप्त होती जा रही है तकनीक में

प्रगति के साथ संस्कृति में मनुष्य का प्रगति नहीं हुई है। हमारे युग की चुनौती का जवाब नहीं दिया जा सका है। आधुनिक मानव की शक्ति की प्रवृत्ति उसके बाहर की ओर है। उसकी प्रगति अन्तर्विरोधों से परिपूर्ण है। धार्मिक और नैतिक मूल्यों के पुनर्जागरण के साथ-साथ वर्तमान काल में व्यापक रूप में फैला हुआ वैज्ञानिक अधर्मवाद, अमूर्त मृतप्राय दर्शन, साम्राज्यवाद, नागरीकरण, अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता, प्रजातिवाद और वर्ग-संघर्ष दिखलाई पड़ते हैं। मानव-जीवन का क्रम भंग हो चुका है। वह अपने अन्तरंग निरीक्षण पर ध्यान नहीं जमा सकता। अखबारों और पत्रिकाओं की बनी-बनाई जानकारी के बोझ के नीचे रचनात्मक चिन्तन लगभग समाप्त हो चुका है। मनुष्य, जैसाकि श्री अरविन्द ने कहा है, 'चिन्तन भीति' से रुग्ण है। नैतिक रूप से तटस्थ ज्ञान और प्रविधि में तेजी से प्रगति हो रही है। जैसाकि ऐरिक फ्राम ने कहा है, "वास्तव में हमारे पास करने की जानकारी है, परन्तु क्यों करने और किसलिए करने की जानकारी नहीं है।"[4] सभ्यता का आध्यात्मिक पहलू भौतिक पहलू के तीव्र विकास के नीचे मरणासन्न है। "क्योंकि यह आदर्श, भौतिक और आर्थिक जीवन पर यह चेतन और, वास्तव में, मनुष्य का अपनी पहली दशा की ओर सांस्कृतिक प्रतीपगमन है, विकसित मानवता का मस्तिष्क और एक पूर्ण विकसित विज्ञान को लेकर प्रारम्भ की दशा की ओर लौटना है।"[5] इस प्रकार, "हम एक अन्धेरे युग में एक अन्धेरी यात्रा पर चल पड़े हैं।"[6]

विज्ञान का योगदान

एक समाज दार्शनिक के रूप में श्री अरविन्द ने मानव-प्रगति में विज्ञान के योगदान का मूल्यांकन किया है। विज्ञान ने मानव के विकास में एक महत्त्वपूर्ण भाग अदा किया है किन्तु वही उसके अस्तित्व के लिए सबसे भयंकर खतरा बन गया है। किन्तु यह खतरा विज्ञान में नहीं है जोकि केवल एक शक्ति है, बल्कि वह तो मनुष्यों में है जो इस शक्ति का प्रयोग करते हैं। विज्ञान ने भारी कल्याण किया है। उसने शिक्षा के माध्यम से अज्ञान के विरुद्ध युद्ध किया है। उसने सब-कहीं अधिकाधिक ज्ञान की ओर प्रवृत्ति को उकसाया है। वह क्रमशः ज्ञान और बौद्धिक सक्रियता को सार्वभौम बना रहा है। उसने बौद्धिक क्षितिज को व्यापक किया है और बौद्धिक सामर्थ्य की गहराई बढ़ाई है। उसका भौतिकवाद प्राचीन काल के आत्मा और शरीर के तादात्म्य के भौतिकवाद से भिन्न है। यह विवेक की श्रेष्ठता पर आधारित है। विज्ञान के द्वारा मानस भौतिक और प्राणात्मक तत्त्वों को जीतने का प्रयास करता है, यह एक ऐसा ज्ञान है जो मानव के विकास के लिए अपरिहार्य है। मानसिक विज्ञानों का विकास भौतिक विज्ञानों के द्वारा मिले हुए ज्ञान का पूरक है।

निषेधात्मक पहलू में विज्ञान ने दर्शन से घृणा की, काव्य और कला को फलवादी प्रवृत्ति के द्वारा निरुत्साहित किया, धर्म और धार्मिकता का गला घोंटा और एक बदसूरत यथार्थवाद और उपयोगितावाद को प्रोत्साहित किया। श्री अरविन्द के अनुसार यह निषेध भी जरूरी था, क्योंकि इन सबने अपने आध्यात्मिक सत्य को खो दिया था और प्राचीनतावादिता, अन्धविश्वास तथा रूढ़िवाद में फँस गए थे। विज्ञान के आक्रमण ने उन्हें यह सीखने पर मजबूर किया कि उनका अपना सत्य जीवन और शक्ति का रहस्य है

और केवल उसी को प्राप्त करके वे मानव-जीवन में अपने यथार्थ प्रयोजन को पूरा कर सकते थे। इस प्रकार विज्ञान ने मनुष्य को एक अधिक व्यापक और गहरी संस्कृति के युग के लिए तैयार किया और वास्तविक अर्थों में जड़वाद की फिर से वापसी को लगभग असम्भव बना दिया।

आर्थिक बर्बरतावाद

परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से, विज्ञान ने, जीवन और आविष्कारों के प्रति अपनी अभिवृत्ति से, एक दूसरे प्रकार की बर्बरता को जन्म दिया है जिसको श्री अरविन्द ने, "औद्योगिक, व्यापारिक, आर्थिक युग की बर्बरता"[7] कहा है। हमारा युग आर्थिक आदर्शों को लिए हुए एक जड़वादी युग है। निश्चय ही ये आदर्श नितान्त मूल्यहीन नहीं हैं किन्तु उन पर अत्यधिक जोर दिया जाना खतरनाक है। आज मानव-सभ्यता को बर्बरता से कोई खतरा नहीं है क्योंकि विज्ञान ने सभ्य मानव के हाथ में महती शक्ति सौंप दी है। आज मानव को सबसे बड़ा खतरा उसके अपने अन्दर से है। यह मानव-जाति में पुराने प्राणात्मक और भौतिक बर्बर तत्त्व के पुनर्जागरण का खतरा है। क्योंकि, जैसाकि श्री अरविन्द ने दिखलाया है, "वह निश्चय ही आएगा यदि हमारे अन्दर भौतिक और प्राणात्मक तत्त्व को ऊपर उठाने और नियन्त्रण करने के लिए कोई ऊँचा और प्रभावशाली मानसिक और नैतिक आदर्श और हमारे सत् को हमारे अन्तरंग सत् में मोक्ष प्रदान करने के लिए कोई आध्यात्मिक आदर्श नही होगा।"[8]

इस प्रकार, श्री अरविन्द के अनुसार, समकालीन युग में हम जो देख रहे हैं वह सस्कृति नहीं बल्कि एक आर्थिक बर्बरता है जिसका आदर्श सुसंस्कृत, चिन्तनशील, शरीफ, नैतिक और धार्मिक मानव नहीं बल्कि एक सफल मनुष्य है। मनुष्य ने अपने प्राणात्मक तत्त्व को भूल से अपनी सच्ची आत्मा मान लिया है और उसका लक्ष्य इसी प्राणात्मक तत्त्व की इच्छाओं और मूल प्रवृत्तियों को सन्तुष्ट करना रह गया है। आधुनिक मनुष्य की कसौटी और लक्ष्य आवश्यकताओं और इच्छाओं का सन्तोष और सम्पत्ति का संग्रह है। इस व्यापारिक बर्बरता में उसके अस्तित्व का अर्थ पहुँचना, सफलता प्राप्त करना, उत्पादन करना, संग्रह करना और अधिकार जमाना है। "सम्पत्ति तथा और भी अधिक धन का एकत्रीकरण, संग्रहों के साथ संग्रहों को जोड़ते जाना, समृद्धि, दिखावा, सुख, बोझिल कला-विहीन विलासिता, आरामों की बहुलायत, सौन्दर्य और शराफतविहीन जिन्दगी, औपचारिकताओं से भ्रष्ट धर्म, व्यापार और व्यवसाय में बदली हुई राजनीति और सरकार, व्यापार बना हुआ आनन्द, यही व्यापारवाद है।"[9] यह व्यापारिकता वर्तमान सभ्यता का हृदय है। उसके अति मानव और शासक राजनीतिज्ञ, विशालकाय उद्योगों के मालिक सफल पूँजीपति और व्यापारों के आयोजक लोग हैं।

आर्थिक मानव

इस व्यवसायवाद ने आधुनिक आर्थिक मानव को जन्म दिया है। इस आर्थिक मानव के लिए सौन्दर्य एक व्यर्थ की वस्तु है। कला और काव्य इसके लिए दिखावे अथव

विज्ञापन के साधन मात्र हैं। आर्थिक मानव के लिए सभ्यता का अर्थ सुविधाएँ है, नैतिकता सामाजिक सम्मानशीलता, राजनीति उद्योगों को प्रोत्साहन, बाजारों, व्यापार और शोषण का विस्तार तथा धर्म एक महज़ औपचारिकता है। उसके लिए शिक्षा का लक्ष्य मनुष्य को एक प्रतियोगी और समाजवादी औद्योगिक अस्तित्व में सफलता प्राप्त करने के लिए उपयुक्त बनाना है। विज्ञान का प्रयोजन उपयोगी ज्ञान, सुविधाएँ, आराम और उत्पादन के यन्त्रों का निर्माण करना है।

संवेदनात्मक मानव

आधुनिक संवेदनात्मक मानव में प्राचीन आदिम मनुष्य ने पुनर्जन्म लिया है, एक ऐसा मानसिक बर्बर जोकि शरीर के जीवन के प्रति बुद्धिहीन रागात्मकता, प्राणात्मक आवश्यकताओं और प्रवृत्तियों के प्रति एक पालतू और आर्थिक मानव पशु का आदर्श लिए हुए है। आधुनिक मानव एक निम्न मानसिक स्तर पर जीता है। उसका जीवन संवेदनाओं, संवेगों और व्यावहारिक आचरण का जीवन है। ये सब न तो किसी उच्चतर सिद्धान्त द्वारा प्रशासित हैं और न किसी उच्चतर स्तर पर उठाए गए हैं, बल्कि उच्चतर प्रवृत्तियों को ही खींचकर इस निम्न स्तर पर लाया गया है। उसका विवेक और संकल्प या तो समूह मस्तिष्क के अंश हैं अथवा फलवादी, संवेदनात्मक अथवा भावात्मक तत्त्वों की आदतों से परिचालित यान्त्रिक नियमों से प्रशासित हैं। आधुनिक मनुष्य सक्रिय नहीं, बल्कि प्रतिक्रियात्मक है।

आधुनिक मानव की प्रगति

श्री अरविन्द के अनुसार, यह आधुनिक संवेदनात्मक मानव निश्चय ही आदिम मानव से बेहतर है यद्यपि वह उससे पूर्णतया भिन्न नहीं है। श्री अरविन्द यह मानते हैं कि मनुष्य ने अपने भूतकाल से प्रगति की है। "यदि सौन्दर्य नहीं तो विचार और ज्ञान की बात सुनी जाती है और उनके तीव्र तथा व्यापक अस्पष्ट तो भी अन्त में प्रभावशाली परिणाम होते हैं; अधिकांश संस्कृति और मनुष्य जोकि सोचते हैं तथा मूल्यांकन करने और जानने के लिए गम्भीरतापूर्वक प्रयास करते हैं, उन्होंने संवेदनात्मकता के इस बाहरी आवरण के बावजूद भारी प्रगति की है और संवेदनात्मक मानव भी रूपान्तर की प्रक्रिया का शिकार हो रहा है।"[10] शिक्षा की नवीन प्रणालियाँ और समाज के नवीन सिद्धान्त क्रमशः अधिकाधिक प्रचलित हो रहे हैं। मनुष्य मानसिक रूप से सक्रिय होने का प्रयास कर रहा है। वह अपनी उच्चतर शक्तियों के प्रयोग की आवश्यकता अनुभव करता है। उसके चारों ओर नई जानकारी, नए बौद्धिक फैशन, नए विचार और नए आन्दोलन फैले हुए हैं, जिनको समझने की और व्यवहार में अपनाने की वह निरन्तर कोशिश कर रहा है। आधुनिक सुशिक्षित व्यक्ति सामाजिक, राजनीतिक और नैतिक समस्याओं तथा धर्म, विज्ञान और दर्शन के प्रश्नों पर विचार करता है। वह जीवन में कला के महत्त्व को भी जानता है, भले ही उसमें सौन्दर्य तथा सौन्दर्यशास्त्र के विषय में स्पष्ट विचार न पाए जाते हों। वह काव्य और सब प्रकार का सामयिक साहित्य पढ़ता है। उसने प्रकृति के

विषय में अधिकाधिक ज्ञान अर्जित किया है और वह स्वयं अपने अस्तित्व, अपने मनोविज्ञान और इस ज्ञान के परिणामों को प्राप्त करने के साधनों के रहस्यों को जानने का प्रयास करता है। उसने न केवल सुधारों का प्रस्ताव किया है बल्कि उनके लिए संघर्ष भी किया है। उसने अराजकतावाद, सिंडीकेटवाद, समाजवाद इत्यादि अनेक राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्थाओं का विकास किया है। उसने विचारों अथवा संस्कृतियों का एक युद्ध छेड़ा है जिससे श्रमिकों का उत्थान हुआ है और स्त्रियों को वयस्क मताधिकार प्राप्त हुआ है। आधुनिक जनताओं की इस तीव्र प्रतिक्रिया से ही साम्यवाद, नाज़ीवाद और फासीवाद इत्यादि को अत्यन्त तीव्र और स्तम्भित कर देने वाली सफलता मिली है।

वर्तमान संकट

किन्तु, यह समस्त परिवर्तन, मानव के जीवन में आत्मसात् और समन्वित नहीं हो सका है। संस्कृति अथवा उससे मिलता-जुलता तत्त्व जनतन्त्रीय तो बना है किन्तु ऊपर नहीं उठा है। शिक्षा ने मनुष्य को मानसिक सक्रियता तथा व्यवसाय, बौद्धिक और सौन्दर्यात्मक संवेदनाएँ तथा आदर्शवाद की भावनाएँ प्रदान की हैं किन्तु उसे रूपान्तरित नहीं किया है। आधुनिक मनुष्य को सामान्य ज्ञान और जनप्रिय विज्ञान के प्रति भारी आग्रह है किन्तु वह कभी भी उनका समायोजन करने या उन्हें आत्मसात् करने का प्रयास नहीं करता। अधिक स्वतन्त्र और उन्मुक्त होने के बावजूद यह सब सक्रियता और संवेदनात्मकता अपरिष्कृत मानसिकता की परिचायक है। आधुनिक मनुष्य सुन सकता है और कर सकता है, यदि उसे ऐसा करने के लिए प्रोत्साहित किया जाए। आधुनिक लेखक, विचारक, वैज्ञानिक और कलाकर यूनानी सांस्कृतिक दास के समान है, जिसका कार्य रोमन परिवार में सबको प्रसन्न करना, सबका मनोरंजन करना और अपने मालिक की रुचियों तथा पसन्द पर ध्यान रखते हुए उसे प्रशिक्षण देना था। आज दर्शन, कला और साहित्य एक अभूतपूर्व पैमाने पर सस्ते और व्यावसायिक बन गए हैं। मनुष्य के सामने मानव-समाज के एक स्थिर सुविधाभोगी, यन्त्रवत्, आदर्शहीन सामाजिक जीवन अथवा दृष्टिकोण में बदल जाने का भयंकर खतरा उपस्थित है। श्री अरविन्द के विश्लेषण और दृष्टिकोण के अनुसार, "वर्तमान काल में मानव-जाति एक विकासोन्मुख संकट से गुजर रही है जिसमें उसके भाग्य का एक चुनाव छिपा हुआ है; क्योंकि एक ऐसी स्थिति आ गई है जिसमें कि मानव-मस्तिष्क ने कुछ दिशाओं में अत्यधिक विकास प्राप्त किया है, जबकि अन्य में उसका विकास अवरुद्ध और दिशाविहीन है तथा आगे मार्ग नहीं देख पाता।"[11]

विकासात्मक संकट

इस प्रकार श्री अरविन्द के अनुसार, हमारी सभ्यता का संकट वह नहीं है जोकि उसकी बाहरी समस्याओं में दिखलाई पड़ता है। श्री अरविन्द ने उसे दार्शनिक रूप से देखा है, मनोवैज्ञानिक रूप से विश्लेषण किया है और विकासवादी रूप से व्याख्या की है। वह एक विकासात्मक संकट है, मनुष्य के जीवन के वर्तमान सोपान पर निर्देशन करने में विवेक की से उत्पन्न संकट है वर्तमान संकट की श्री अरविन्द की

व्यापक दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत पुस्तक में क्रमशः पाँचवें और छठे अध्याय में दी गई है। श्री अरविन्द के अनुसार, "विकासात्मक दबाव एक आध्यात्मिक प्रवृत्ति है।"[12] विवेक मनुष्य को प्राण, शरीर और आत्मा में मध्यस्थता तक ले जा सकता है। श्री अरविन्द के समाज दर्शन में आध्यात्मिक विकास एकमात्र लक्ष्य तथा एकमात्र प्रणाली है। उन्होंने चेतावनी दी है कि, "इसको छोड़ देने पर मनुष्य या तो फिर से मूल पर वापस पहुँच जाएगा और सब कुछ दोबारा आरम्भ करेगा अथवा एक विकासात्मक असफलता के रूप में उसके पहले आए हुए जीवन के अनेक प्रकारों के समान विकासात्मक प्रवृत्ति को बनाए रखने और पूरा करने की सामर्थ्य के अभाव के कारण अन्तर्ध्यान हो जाएगा।"[13] यदि मनुष्य इससे बच भी जाता है तो वह अन्य पाशविक प्रकारों के समान जीवित रहेगा जबकि प्रकृति उससे ऊँचे जीवप्राणियों का सृजन करने के लिए आगे बढ़ेगी। इस प्रकार मानव के वर्तमान में जहाँ भयंकर खतरे हैं वहाँ भारी सम्भावनाएँ भी हैं। मानव-जीवन की वर्तमान समृद्धि का उपयोग उसकी नवीन आवश्यकताओं को बढ़ाने और उसके सामूहिक अहंकार के विस्तार के लिए किया जा रहा है यद्यपि जीवन की इसी समृद्धि का उपयोग उच्चतर सत्य, शिव और सौंदर्य की खोज तथा एक अधिक उच्च और अधिक दैवी आध्यात्मिकता की ओर ले जाने के लिए किया जा सकता है जो कि एक उच्चतर पूर्णता के जीवन को इस्तेमाल करे। विज्ञान ने मानव-जाति के जीवन को भौतिक रूप से एक कर दिया है यद्यपि इसी एकता को मानसिक और आध्यात्मिक एकता का आधार भी बनाया जा सकता है। श्री अरविन्द के अनुसार, वर्तमान संकट का सुलझाव केवल मनुष्य के अति बौद्धिक तत्वों को जीवन के निदेशक के रूप में स्वीकार करने से ही हो सकता है। श्री अरविन्द के इस सुझाव की प्रामाणिकता और अन्य सिद्धान्तों से उसकी श्रेष्ठता का परीक्षण इस पुस्तक के पाँचवें अध्याय में किया गया है।

समन्वय की समस्या

हमारे युग के समस्त संकट के पीछे मूल समस्या क्या है? अर्थशास्त्रियों, राजवेत्ताओं, मनोवैज्ञानिकों, इतिहासकारों और दार्शनिकों ने इस संकट को विभिन्न पहलुओं की दृष्टि से और विभिन्न समस्याओं के रूप में देखा है। लेनिन के अनुसार, "जब तक वर्गों का उन्मूलन और समाजवाद की स्थापना नहीं की जा सकती युद्ध समाप्त नहीं किए जा सकते।"[14] अलबर्ट श्वाइट्ज़र जैसे नीतिशास्त्रियों के अनुसार वास्तविक समस्या मानव के नैतिक पुनरुत्थान की समस्या है। धार्मिक व्यक्तियों के लिए मनुष्यों में बढ़ते हुए नास्तिकवाद से मानव-प्रगति में सब कहीं बाधा पड़ रही है। समाजशास्त्रियों के लिए असली समस्या सामाजिक विघटन है। मनोवैज्ञानिक के लिए "जब तक हम स्वयं अपने को समझने और उसकी समस्याओं को सुलझाने, हमारे अपने मस्तिष्कों के गर्द-गुबार को दूर करने, आत्मनियन्त्रण और आत्मज्ञान की कला को सीखने के लिए तैयार नहीं होते तब तक हम चाहे कितनी भी योजनाएँ बना लें और निर्माण कर लें हम असफल होंगे।"[15]

अनेक अन्य विद्वानों के अनुसार, मूल समस्या मनुष्य के अन्तर्गत समन्वय की नही बल्कि उसके साथियों से उसके समन्वय की है। सी० ए० एलवुड के शब्दों में, "आर्थिक सम्बन्धों तक सीमित दृष्टिकोणों के लिए भौतिक वस्तुओं के उत्पादन और वितरण की उपयुक्त प्रणाली सामाजिक समस्या को सुलझाएगी; अहिंसावादी के लिए सबसे प्रमुख सामाजिक समस्या अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की है, प्रजननवादी के लिए समस्या आनुवंशिकता का नियन्त्रण है, नारीवादियों के लिए यह व्यापक रूप से नारी की समस्या है। परन्तु वास्तविक समस्या एक मनुष्य के दूसरे से सम्बन्ध की समस्या है।"[16] मानव-सभ्यता के एक रचनात्मक पुनर्जागरण के लिए उस न्यूनतम तत्त्व की निश्चित आवश्यकता है जिसको श्वाइट्ज़र जीवन के प्रति आस्था और बरट्रैण्ड रसन प्रेम कहते हैं किन्तु यह सामाजिक सम्बन्धों और आस्थाओं के समन्वय पर निर्भर करता है। उद्योगवाद, यन्त्रीकरण, युद्ध, शक्ति के केन्द्रीकरण, प्रेमहीनता, अनैतिकता और अन्त में सब प्रकार के विघटन के मूल मे मुख्य समस्या व्यक्ति और समाज में समन्वय का अभाव है। जैसाकि आइन्स्टाइन ने कहा था, "अब मैं एक ऐसे बिन्दु पर पहुँच गया हूँ जहाँ मैं अपने युग के संकट के सार को रचना को सच्चे रूप में बतला सकता हूँ। यह व्यक्ति के समाज से सम्बन्ध के विषय मे है।"[17] ये सब विचार जहाँ तक वे जाते हैं वहाँ तक सत्य हैं किन्तु ये बहुत दूर नही जाते। इनमें से कोई भी उस वास्तविक समस्या को नहीं छूता जिसको सुलझाने से मनुष्य वर्तमान संकट का अतिक्रमण कर सकेगा। व्यापकतम दृष्टिकोण अधिकतम बुद्धिमत्तापूर्ण होता है। बुद्धिमत्ता निषेध नहीं करती बल्कि परिपूर्ति करती है। केवल वही व्यक्ति वर्तमान सकट में निहित वास्तविक समस्या को समझ सकता है जोकि पीछे बतलाई गई सभी कठिनाइयों के केन्द्र में पहुँच सकता है। इस प्रकार के दृष्टिकोण में सभी धार्मिक प्राणियो, नीतिशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों, राजशास्त्रियों और अर्थशास्त्रियों की खोजों का समावेश होगा। इस प्रकार का सारात्मक और सर्वांग दृष्टिकोण श्री अरविन्द के इस सिद्धान्त में मिलता है कि "अस्तित्व की सभी समस्याएँ सार रूप में समन्वय की समस्याएँ हैं।"[18] यह समन्वय सर्वांग है अर्थात् इसमें अस्तित्व के सभी पहलुओं का समन्वय, व्यक्ति के अन्तर्गत समन्वय, व्यक्तियों के मध्यस्थ समन्वय, व्यष्टि और समष्टि का समन्वय, मनुष्यों की विभिन्न समष्टियों का समन्वय और अन्त में मानव-जाति का प्रकृति और ईश्वर से समन्वय सम्मिलित है। इस प्रकार वांछित समन्वय समस्त अस्तित्व का समन्वय है। इस समन्वय की सैद्धान्तिक विवेचना समाज दर्शन है और व्यावहारिक प्रणाली योग है तथा इन दोनों का वैसा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है जैसाकि किसी भी सिद्धान्त और व्यवहार का हो सकता है।

समाजदर्शन : वर्तमान संकट में उसकी आवश्यकता

विज्ञान इस समन्वय की समस्या को नहीं सुलझा सकता। विज्ञान न केवल मानव-सम्बन्धों में समन्वय के सिद्धान्त को खोजने में असफल रहा है बल्कि उसने बहुधा उन्हें बदतर बना दिया है। उपयोगी होने के लिए विज्ञान को आध्यात्मिक आदर्शों के अधीन होना चाहिए आदर्श स्वयं तब तक मनुष्यों को विकसित नहीं कर सकते जब

तक कि उन्हें व्यवहार में न उतारा जाए, किन्तु उनकी उपस्थिति सब प्रकार की प्रयोजनमय प्रगति की पूर्वावस्था है। प्रो० हैरोल्ड एच० टाइटस के शब्दों में, "मनुष्यों को निर्णय लेने पड़ते हैं और काम करने पड़ते हैं, और दर्शनशास्त्र को उन्हें मूल्यों के एक मापदण्ड का निर्माण करने और एक ऐसा जीवनदर्शन बनाने में सहायता करनी चाहिए जिससे कि वे जीवन बिता सकें।"[19] आज मनुष्य को तथ्यों के ज्ञान और आदर्शों की व्यवस्था दोनों की आवश्यकता है। समाज दर्शन मानव का पुनरुत्थान नहीं करेगा जब तक कि उसे व्यवहार में न उतारा जाए किन्तु फिर भी वह मानव-जाति के सम्मुख उपस्थित वर्तमान संकट पर विजय प्राप्त करने के लिए व्यवस्थित प्रयास करने के पहले न्यूनतम आवश्यकता है। जिन विचारकों ने मानव के इतिहास की प्रगति का अवलोकन किया है, मानव-सभ्यता के इतिहास के वे दार्शनिक जैसे नारथ्रोप, शुबर्ट, बर्दाइयेव, श्वाइट्ज़र और सोरोकिन इत्यादि इस बात पर सहमत हैं कि मनुष्य को आज बोधजन्य साधनों पर आधारित और बौद्धिक तथा ऐन्द्रिक विवेक से संकलित एक सर्वांग दर्शन की आवश्यकता है। हमारे युग का संकट मानव-इतिहास के नाटक में अन्तिम अंक हो सकता है और ऐसा होना आवश्यक भी नहीं है। वर्तमान स्थिति पर मनुष्य का विकास अकेली प्रकृति की विकासवादी प्रवृत्ति से नहीं हुआ है। प्रकृति मनुष्य में आत्मचेतन हो गई है ताकि मनुष्य उसे उसके विकास में चेतन रूप से सहायता करें। मनुष्य के प्रादुर्भाव के पश्चात् प्रकृति का विकास नवीन प्रजातियों के आविर्भाव से नहीं बल्कि मानव-चेतना के विकास से होगा। श्री अरविन्द के अनुसार, वर्तमान संकट मानव की चेतना के भावी विकास की ओर प्रकृति की प्रेरणा का परिणाम है। यदि मनुष्य इस आध्यात्मिक आह्वान का प्रत्युत्तर देता है तो उसकी समस्याएँ सुलझ जाएँगी। मानव-चेतना में एक आध्यात्मिक परिवर्तन उसे वर्तमान से एक अधिक उच्च और अधिक यशस्वी नवीन युग में ले जाएगा। वैज्ञानिक और तकनीकी विकासों से भी अधिक आज मानव-जाति में जीवन के प्रति प्रेम और आस्था के पुनर्जागरण और मनुष्यों के दृष्टिकोण में परिवर्तन की आवश्यकता है। मनुष्य को अपनी भौतिक प्रगति की अन्धी दौड़, प्रकृति की शक्तियों पर अपनी विजय, बाह्य आकाश में सुदूर तक पहुँचने की चेष्टा में ठहरकर सोचना होगा ताकि ये सब मिलकर किसी प्राणघातक छलांग का रूप ग्रहण न कर लें। उसे फिर से अपने भूतकालीन इतिहास में झाँकना चाहिए, उसके दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक अर्थ को समझना चाहिए और अपनी वृद्धि के वास्तविक प्रयोजन और अर्थ का साक्षात्कार करना चाहिए। उसे उसके अन्तर्गत प्रकृति के प्रयोजन के प्रकाश में विकास के अग्रदूत के रूप में अपने लक्ष्यों को स्पष्ट करना चाहिए। उसे अपनी जटिल प्रकृति और अन्त में अपने अस्तित्व के आध्यात्मिक सत्यों के प्रकाश में अपने को पहचानना चाहिए। उसे अपने विकास की अब तक अपनायी गई प्रणालियों का मूल्यांकन करना चाहिए, उनमें सुधार करना चाहिए और जहाँ आवश्यकता हो वहाँ परिवर्तन भी करना चाहिए। सर्वोपरि, उसे एक ऐसी प्रणाली का विकास करना चाहिए जोकि उन समस्त प्रणालियों का संकलन करे और उन पर विकास करे जिससे कि मनुष्य को उसके अन्तरंग के सभी तत्त्वों का समन्वय तथा अपने साथियों

से समन्वय प्राप्त हो और जोकि समस्त अस्तित्व के मूल में काम करने वाला सिद्धान्त हो। मनुष्य को अपनी वर्तमान सामाजिक संस्थाओं, उनके गुणों और दोषों की परीक्षा करनी चाहिए और उनके भविष्य का अनुमान लगाना चाहिए। यह सब आवश्यक है यद्यपि पर्याप्त नहीं है क्योंकि, यथार्थ परिणाम प्राप्त करने के लिए, संकट का अतिक्रमण करने के लिए पूर्ण आध्यात्मिक रूपान्तरण और प्रणालियों के पूर्ण परिवर्तन से कम में काम नहीं चलेगा। अस्तु, मनुष्य को एक ऐसे समाज दर्शन की आवश्यकता है जोकि उसके आदर्शों को सैद्धान्तिक रूप से स्पष्ट करे और विकास की एक आध्यात्मिक प्रणाली की ओर ले जाए।

इस प्रकार के आध्यात्मिक समाज दर्शन का आधार स्पष्ट रूप से सहज, अपरोक्ष, साक्षात्, स्वयम्भु और सम्बोधिजन्य ज्ञान है। स्पेंगलर, शूबर्ट, नारथ्रोप, बर्दाइयेव, सोरोकिन और स्वाइट्ज़र, सभी इस बात पर जोर देते हैं कि इस विश्वदर्शन में रहस्यवादी अथवा बोधजन्य तत्त्व होता है। इस सहज अनुभूति की प्रवृत्ति को हेनरी बर्गसाँ के बोधजन्य ज्ञान व रचनात्मकता में, हुसर्ल के तत्त्वों के बोध में, एस० फ्रैन्क, एम० हाईडैगर, एस० कीरकैगार्ड, के० जास्पर्स, जे० पी० सार्त्र, एन० हार्टमैन के ज्ञानात्मक सिद्धान्तों में, नारथ्रोप, ई० कैसियर तथा पी० फ्रैन्क की सौन्दर्यात्मक चेतना में तथा सर्वोपरि श्री अरविन्द के सर्वांग योग में पाया जा सकता है। उपयोगितावाद अथवा फलवाद पर आधारित समाज दर्शनों का वर्तमान संकट में सफल होने का कोई अवसर नहीं है। भौतिक प्रगति अथवा राजनीतिक शक्ति का समर्थन करने वाले सिद्धान्त सच्ची समस्या का अज्ञान दिखलाते है जोकि श्री अरविन्द के शब्दों में, "मानव-प्राणी का स्वयं में पूर्ण एकात्मक विकास, व्यक्ति की पूर्णता, समष्टिगत सत् का पूर्ण विकास, समाज की परिपूर्णता और अधिक फलवादी रूप में व्यक्ति से व्यक्ति और समाज तथा समुदाय से समुदाय के परिपूर्ण और सर्वोत्तम सम्भव सम्बन्धों का विकास है।"[20] केवल एक आध्यात्मिक समाज दर्शन ही इस प्रकार की व्यापक समस्या के सुलझाव के लिए एक उपयोगी रूपरेखा उपस्थित कर सकता है।

2

समाज दर्शन : उसकी प्रणाली

"ईश्वर और जगत् का आध्यात्मिक प्रत्यक्षीकरण केवल विचारात्मक अथवा मुख्य रूप से या प्राथमिक रूप से विचारात्मक नहीं है। वह एक प्रत्यक्ष अनुभव है जोकि उतना ही वास्तविक, विविध, निकट, सतत, प्रभावशाली, मानस के लिए अन्तरंग है जितना कि उसका ऐन्द्रिक प्रत्यक्षीकरण तथा प्रतिमाओं, वस्तुओं और व्यक्तियों की अनुभूति।"[1]

—श्री अरविन्द

खोज के मूल तत्व

यदि हमारा उद्देश्य वास्तव में सत्य पर पहुँचने का है तो किसी भी ज्ञान की खोज की प्रणालियाँ खोज आरम्भ करने से पूर्व निर्धारित की जानी चाहिएँ। ज्ञान में अधिकतर अव्यवस्था ज्ञानार्जन की प्रणालियों में अव्यवस्था के कारण होती है। प्रत्येक प्रकार के ज्ञान की अपनी विशिष्ट प्रकृति, समस्याएँ और सीमाएँ होती हैं जोकि अन्य प्रकार के ज्ञान से समानताओं के बावजूद दिखलाई पड़ती हैं। अस्तु, किसी एक क्षेत्र में खोज की प्रणालियाँ अन्य क्षेत्र में पूर्ण परिणाम नहीं दे सकतीं, भले ही हम उनसे कुछ अस्पष्ट प्रकाश प्राप्त कर सकें। दार्शनिक खोज में वैज्ञानिक प्रणाली का प्रयोग विषय में कुछ अस्पष्ट अन्तर्दृष्टि भले ही दे सके किन्तु वह हमें बहुत दूर तक ले जाने में अशक्त है। किसी भी दर्शन का मूल्य उसके दार्शनिक होने में है, वैज्ञानिक होने में नहीं है, यद्यपि अन्त में विज्ञान और दर्शन एक-दूसरे के पूरक हैं और दर्शन समन्वयात्मक होने के कारण, वैज्ञानिक प्रणालियों से प्राप्त किए गए ज्ञान को सम्मिलित करता है। इन्हीं कारणों से, एक दार्शनिक प्रणाली वैज्ञानिक खोज में समान रूप से अनुपयुक्त है। किसी भी ज्ञान में, चाहे वह साध्यों का ज्ञान हो या साधनों का अथवा अन्य विस्तार का, यथार्थता प्राप्त करने के लिए समानताओं की तुलना में भेदों का प्रत्यक्षीकरण अधिक आवश्यक है। भेद करने का अर्थ अलग करना या विभाजन करना नहीं है; इसका अर्थ पूर्ण में प्रत्येक अंश की विशिष्टता को जानना है। अस्तु, खोज की प्रकृति के अनुकूल प्रणालियों में परिवर्तन किया जाना चाहिए।

किन्तु प्रणालियों की यह विशेषता, किसी भी ज्ञान की श्रेष्ठता अथवा निम्नता को निश्चित नहीं करती प्रणाली एक साधन है जोकि तार्किक एवं व्यावहारिक दोनों ही

रूप में साध्य के पश्चात् आती है। जैसे-जैसे साध्य बदलते जाते हैं वैसे-वैसे साधन भी बदलने चाहिएँ। प्रत्येक ज्ञान का एक अपना स्वधर्म है और उसी को पूर्णतया प्राप्त करना उसका लक्ष्य होना चाहिए। दूसरे के क्षेत्र में अनधिकार प्रवेश अथवा श्रेष्ठता का दावा करना नितान्त अनुचित है क्योंकि ज्ञान के पूर्ण में सूक्ष्मतम ज्ञान का भी अपना विशिष्ट स्थान है।

साध्यों के विषय में स्पष्टीकरण किसी भी खोज में सफलता की पहली आवश्यकता है। जितना ही स्पष्ट हमारा प्रश्न होगा उतनी ही स्पष्टता की हम उसके उत्तर में आशा कर सकते हैं। मनुष्य प्रकृति से उत्तर पाने में असफल होते है क्योंकि वे स्वयं यह नहीं जानते कि वे क्या चाहते हैं और यही एक ओर एक वैज्ञानिक और दार्शनिक में तथा दूसरी ओर वैज्ञानिक और सामान्य जन में अन्तर है। साध्यों का स्पष्टीकरण ज्ञान की द्वितीय आवश्यकता है किन्तु यह किसी भी प्रकार से पहली आवश्यकता से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसका तात्पर्य साध्यों को प्राप्त करने के लिए साधनों की उपयुक्तता से है। जैसा कि श्री अरविन्द ने संकेत किया है, "ज्ञान के हमारे साधन ज्ञेय के अनुकूल होने चाहिएँ।"[2] इस प्रकार समाज दर्शन में खोज उसकी प्रणालियों में खोज से आरम्भ होनी चाहिए जोकि सीधे उसकी प्रकृति से निकलती है।

जानने का अर्थ भेद करना है, यद्यपि भेद करने के लिए भी कुछ पूर्वज्ञान की आवश्यकता होती है। इस प्रकार समाज दर्शन का समाजशास्त्र से अन्तर भी समाज दर्शन की प्रणालियों पर कुछ प्रकाश डालेगा। समाजशास्त्र एक विज्ञान है। ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक अथवा मनोसामाजिक कोई भी प्रणालियाँ, जो उसके द्वारा अपनायी जाती है, वे वैज्ञानिक प्रणालियाँ है। दूसरी ओर, समाज दर्शन एक दर्शन है। अस्तु, समाजशास्त्र और समाज दर्शन की प्रणालियों में वही अन्तर होगा जोकि विज्ञान और दर्शन की प्रणालियों में पाया जाता है।

वैज्ञानिक प्रणाली

वैज्ञानिक प्रणाली तथ्यों के प्रत्यक्षीकरण, सामग्री के संकलन, उनके वर्गीकरण और भेद तथा आगमनात्मक सामान्यीकरण के द्वारा सामान्य सिद्धान्तों पर पहुँचने में निहित है। इस प्रकार निरीक्षण और अनुमान वैज्ञानिक प्रणाली की दो प्रमुख कुँजियाँ है। निरीक्षण, सामान्यीकरण और प्रमाणीकरण उसके तीन सोपान हैं। वैज्ञानिक निर्णयों की प्रामाणिकता इस बात पर निर्भर है कि उनकी कभी भी जाँच की जा सकती है। पिछली शताब्दियों में वैज्ञानिक खोजों के निर्णयों में परिवर्तन हुआ है किन्तु खोज की प्रणालियाँ, यहाँ अथवा वहाँ जोर देने में परिवर्तन के बावजूद, न्यूनाधिक रूप से वही रही हैं।

वैज्ञानिक प्रणाली की सीमाएँ

वैज्ञानिक प्रणालियों की अपनी विशेषताएँ हैं किन्तु उनमें गम्भीर सीमाएँ भी हैं सबसे पहले ९ प्रणाली की प्रामाणिकता सुनिश्चित नहीं है क्योंकि वह

सदैव अपवादों को छोड़ देती है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "जो कुछ देशकाल में विभाजित है उसके प्रत्यक्षीकरण पर आधारित एक नियम अविभाज्य के सत् और क्रिया पर पूर्ण विश्वास से लागू नहीं किया जा सकता; न केवल वह एक असीम काल में लागू नहीं किया जा सकता बल्कि एक असीम देश में भी लागू नहीं हो सकता।"[3] डेविड ह्यूम ने यह दिखलाया था कि कारणता में आस्था के कोई प्रामाणिक कारण नहीं हैं। वह केवल सम्भाव्य है, कभी भी सुनिश्चित नहीं है। दूसरे, वैज्ञानिक प्रणालियाँ ज्ञात के आधार पर अज्ञात के विषय में अनुमान करने के लिए आस्था के अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं देतीं। वे हमें मानव-जाति के भविष्य में अन्तर्दृष्टि, उसकी आध्यात्मिक सम्भावनाओं और उसमें प्रकृति के प्रयोजन तथा अन्त में उस पर काम करने वाली आध्यात्मिक शक्तियों की प्रकृति में अन्तर्दृष्टि नहीं प्रदान कर सकतीं। वे हमें मानव-प्रकृति, मानव-जाति के आदर्श, उसके इतिहास तथा उसके भौतिक और आध्यात्मिक विकास की प्रणालियों के अर्थों के विषय में पूर्ण जानकारी प्रदान नहीं कर सकतीं। जैसा-कि श्री अरविन्द ने संकेत किया है, "जब तक हम अपने को ऐन्द्रिक प्रमाण और भौतिक चेतना तक सीमित रखते हैं, हम भौतिक जगत और उसके प्रपंचों के अतिरिक्त और कुछ नहीं सोच सकते तथा कुछ नहीं जान सकते।"[4] पुनः, वैज्ञानिक प्रणालियों में भी इन समस्याओं के विषय में कुछ अनुमान लगाया जाता है, किन्तु उनके अनुमान अत्यन्त अस्पष्ट होते हैं और हमें पर्याप्त जानकारी नहीं देते। एक बार फिर श्री अरविन्द के शब्दों में कहें तो, "भौतिक प्रकृति के कानून अथवा सम्भावनाओं में से कोई भी पूर्णतया नहीं जाने जा सकते जब तक कि हम अति-भौतिक प्रकृति के नियमों और सम्भावनाओं को नहीं जानते।"[5] सच तो यह है कि बहुत-सा वैज्ञानिक ज्ञान ऐसी आस्था पर आधारित है जो विज्ञान प्रदान नहीं करता। "विज्ञान जो ज्ञान देता है वह उस व्यावहारिक ज्ञान का पूरक है जिससे सभी मनुष्य जीवित रहते हैं, वह उस आस्था का स्थानापन्न नहीं है जोकि जीवन को जीने योग्य बनाती है।"[6] विज्ञान ने मनुष्य को प्रकृति पर शक्ति प्रदान की है किन्तु उसने उसके विकासवादी सत्यों में कोई भी अन्तर्दृष्टि नहीं दी है। यह वैज्ञानिक प्रणालियों के क्षेत्र के परे है। विज्ञान क्रमशः सत्य के स्थान पर शक्ति की खोज बनता जा रहा है। नैतिक और आध्यात्मिक नियन्त्रण के अभाव में वह मानव-प्रजाति के लिए खतरनाक भी साबित हो सकता है। जैसाकि बरट्रैण्ड रसल ने ठीक ही कहा है, "परन्तु यदि मानव-जीवन को विज्ञान के बावजूद बने रहना है, तो मानव-जाति को अपने आवेगों को अनुशासित करना सीखना पड़ेगा जोकि, भूतकाल में, आवश्यक नहीं था।"[7]

दार्शनिक बनाम वैज्ञानिक प्रणाली

विज्ञान की सीमित प्रणालियों से भिन्न दार्शनिक प्रणाली सारात्मक और व्यापक है। विश्लेषणात्मक, खण्डनात्मक तथा परिमाणात्मक होने के कारण वैज्ञानिक प्रणालियाँ दर्शन के क्षेत्र में अनुपयुक्त है। दर्शन का सम्बन्ध मूल्यों से है जोकि केवल अतीन्द्रिय ही नहीं बल्कि बहुधा अति भौतिक होते हैं। अस्तु, दार्शनिक क्षेत्रों में खोज विज्ञान की व्यावहारिक नि ८ और प्रयोगात्मक विधियों से परे है यदि ज्ञान के साधन

परोक्ष और अपूर्ण हैं तो ज्ञान भी परोक्ष और अपूर्ण हो जाएगा।"[8] श्री अरविन्द के शब्दों में, "सर्वोच्च परम ज्ञान वस्तुओं को सम्पूर्ण में, एक अविभाज्य पूर्ण के अंगों के विस्तार में देखता है, उसकी प्रवृत्ति ज्ञान के एक तात्कालिक समन्वय और एकता की ओर है।"[9] इस प्रकार दर्शन में वैज्ञानिक ज्ञान सम्मिलित है, केवल वह उसे एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखता है, उसकी सीमाएँ निर्धारित करता है और अपने विश्वदर्शन में उसे सम्मिलित कर लेता है।

इतिहास दार्शनिकों के निष्कर्ष

समाज दर्शन की प्रणाली निश्चित करने से पूर्व यह दिलचस्प होगा कि इतिहास दार्शनिकों के उन निर्णयों पर एक दृष्टि डाली जाए जिनको वे अत्यन्त आवश्यक सर्वांग दर्शन की प्रणाली मानते हैं। डेनिलवस्की, स्पैंगलर, शूबर्ट, वर्दाइयेव, नारथ्रोप, टायनबी, क्रोयबर तथा सोरोकिन कुछ ऐसे निष्कर्षों पर पहुँचे हैं जो श्री अरविन्द की खोजों से आश्चर्यजनक समानता रखते हैं। उपरोक्त इतिहास दार्शनिक इस बात पर सहमत हैं, "(अ) कि विशुद्ध इन्द्रियजन्य अथवा बौद्धिक चिन्तन, चिन्तन के एकमात्र रूप नहीं है, (ब) कि वे एक पूर्ण चिन्तन उपस्थित नहीं करते,[10] (स) कि जानने की इन विधियों के अतिरिक्त एक सहज ज्ञानमय, सौन्दर्यानुभूतिमय, रहस्यमय, अति बौद्धिक और अतीन्द्रिय तथा प्रत्यक्ष चिन्तन का रूप है जोकि ऐन्द्रिक और बौद्धिक चिन्तन से भिन्न है, (द) कि यह अतीन्द्रिय प्रणाली ज्ञाता और ज्ञेय के पूर्ण तादात्म्य में निहित है जिसमें विषय और विषयी के मध्य का अन्तर पूर्णतया समाप्त हो जाता है, विषयी केवल बाहरी द्रष्टा नहीं रहता बल्कि विषयी और विषय एक हो जाते हैं।"[11]

इस प्रकार सर्वांग प्रणाली में ज्ञाता और ज्ञेय का कोई विरोध नहीं है क्योंकि, जैसाकि श्री अरविन्द ने संकेत किया है, "चेतना ज्ञाता और ज्ञेय दोनों में एक है।"[12] यह प्रत्यक्ष और बोधजन्य है। "वह उतना ही प्रत्यक्ष, स्पष्ट, निकट, सतत प्रभावशाली, अन्तरंग अनुभव है जितना कि मानस के लिए उसके ऐन्द्रिक प्रत्यक्षीकरण और प्रतिमाओं, वस्तुओं और व्यक्तियों की अनुभूतियाँ हैं।"[13] यह आध्यात्मिक ज्ञान है जिसमें ऐन्द्रिक, तार्किक और बोधजन्य ज्ञान सम्मिलित है। यह जानने और होने में अन्तर नहीं करता क्योंकि, जैसाकि प्रोफेसर वर्दाइयेव ने कहा है, "ज्ञान को सत् से विरुद्ध मानना ज्ञान को सत् से अलग कर देना है।"[14] इस प्रणाली में, जानने का अर्थ होना है और होने का अर्थ सार्वभौम और सर्वांग होना है। जैसाकि श्री अरविन्द ने संकेत किया है, "यह सम्पूर्ण जागरूकता अन्तरंग रूप से, स्वयम्भू रूप से स्वभावतया, किसी क्रिया, सम्बन्ध अथवा ज्ञान की आवश्यकता के बगैर अस्तित्व रखती है, क्योंकि यहाँ पर ज्ञान एक क्रिया नहीं है, बल्कि एक शुद्ध, सतत और अन्तर्निहित अवस्था है।"[15] यह सर्वांग प्रणाली सभी दर्शन की प्रणाली है, चाहे वह समाज दर्शन हो या अन्य कोई दर्शन।

समाजदर्शन की प्रणालिया

श्री अरविन्द ने कहा है, "जिस ज्ञान की ओर हम जाना चाहते हैं उसकी स्थिति का विवरण उन साधनों को निश्चित करता है जोकि हम प्रयोग करेंगे।"[16] इस प्रकार, समाज दर्शन की प्रणाली उसकी प्रकृति से निर्धारित होगी। वह कोई परात्पर अथवा अनुभवपूर्व प्रणाली नहीं होगी जैसाकि वह प्राचीन काल के समाज दार्शनिकों के लिए थी। दर्शनशास्त्र में, जैसाकि श्री अरविन्द ने संकेत किया है, "हमें अस्तित्व की परीक्षा जो कुछ हम मानसिक रूप से चिन्तन करते हैं उससे नहीं बल्कि उससे करनी चाहिए जो कुछ हम अस्तित्व मे देखते है।"[17] समाज दर्शन के नियम अथवा आदर्श अनुभवपूर्व निर्धारित नहीं हो सकते जैसाकि कुछ विचारकों ने मान लिया है। उनकी नींव दार्शनिक के सामाजिक अनुभव एवं मानव-जाति के विकास में प्रकृति के प्रयोजन के आध्यात्मिक अनुभव में होती है। इस अध्यात्मिक अनुभव में सामाजिक तथ्यों का और विभिन्न पहलुओं में मानव-इतिहास की प्रक्रिया का निरीक्षण सम्मिलित है। श्री अरविन्द के शब्दो मे, "हम भौतिक विज्ञान और उसकी वास्तविक उपयोगिताओ को अन्तिम समन्वय मे भी बनाए रखेंगे, भले ही उसके अनेक अथवा सभी वर्तमान रूप टूट जाएँ या छोड दिए जाएँ। उपयुक्त वस्तुओं के संरक्षण में और भी अधिक सावधानी को परम्परा के विषय मे व्यवहार करते समय हमारा निर्देशन करना चाहिए, चाहे वह आर्यों के भूतकाल से कितनी ही कम अथवा न्यून क्यों न हो गई हो।"[18] आध्यात्मिक अनुभव ही दिव्य दृष्टि देता है किन्तु यह दिव्य दृष्टि शून्य मे काम नहीं करती। इसके काम करने के लिए तथ्यो का निरीक्षण एक अनिवार्य दशा है।

दोहरी प्रक्रिया

इस प्रकार समाज दार्शनिक को एक दोहरी प्रक्रिया से चलना है। उसे अपने क्षेत्र के सन्दर्भ में सभी तथ्य और मूल्य पता होने चाहिएँ, सामाजिक विज्ञानो के, विशेषतया समाजशास्त्र के तथ्य तथा नीतिशास्त्र, धर्म और आध्यात्म विद्या के मूल्य, तथा उसको सद्वस्तु से सर्वांग एकीकरण के द्वारा एक आध्यात्मिक दृष्टिकोण भी विकसित करना चाहिए ताकि वह प्रकृति के आन्तरिक प्रयोजन को पकड़ सके। जितना ही वह इस आध्यात्मिक दृष्टिकोण में आगे बढ़ेगा और जितना ही उसके तथ्यो का ज्ञान भण्डार बढ़ेगा उतना ही उसका समाज दर्शन सत्य के निकट पहुँचेगा। आन्तरिक प्रयोजन का यह ज्ञान विज्ञान की विशिष्ट प्रणालियों के द्वारा सम्भव नहीं है। इसके लिए सूक्ष्म प्रक्रिया को उसकी पूर्णता में प्रत्यक्ष, बोधात्मक एवं तत्काल प्रत्यक्षीकरण की आवश्यकता है। इसे श्री अरविन्द ने यौगिक दृष्टि कहा है, एक ऐसी दृष्टि जोकि असीम की समस्त समृद्धि में उससे प्रत्यक्ष एकीकरण का परिणाम है। इस दृष्टि के अभाव मे मनुष्य स्वयं अपने और प्रकृति के तथ्यों के अर्थ समझने में असफल रहता है। यही कारण है कि वह मनुष्य और प्रकृति की मूल एकता को नहीं समझ पाया है तथा उसके अपने आध्यात्मिक विकास की सम्भावनाओं तथा उन्हें प्राप्त करने की सही प्रणालियों को नही जान सका है इसी दृष्टिकोण से ही समाज दार्शनिक विभिन्न सामाजिक आदर्शों की

आध्यात्मिक प्रामाणिकता की परीक्षा करेगा, परम सामाजिक आदर्श को प्राप्त करने में विभिन्न प्रणालियों की जाँच करेगा, मानव-समाज की वर्तमान संरचना के गुणों और दोषों का मूल्यांकन करेगा तथा आध्यात्मिक आदर्श एवं सामाजिक विकास के मनोविज्ञान के प्रकाश में उसके भविष्य के विषय में भविष्यवाणी करेगा।

विवेक का स्थान

एक मानसिक अथवा बौद्धिक समन्वय इस आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि का स्थानापन्न नहीं हो सकता क्योंकि, "बौद्धिक विवेक उसकी ओर केवल अस्पष्ट रूप में संकेत कर सकता है अथवा डगमगाते हुए अनुभव कर सकता है अथवा यहाँ पर उसकी अभिव्यक्ति के परस्पर विरोधी पहलुओं अथवा आंशिक तत्त्वों के विषय में बतलाने का प्रयास कर सकता है, वह उसमें घुस नहीं सकता और उसे जान नहीं सकता।"[19] जीवन की गतिशील शक्तियाँ या तो बुद्धि से निम्न अथवा बुद्धि से परे हैं। विचार एक साधन है और उसके भाग्य का निर्णय उसको प्रयोग करने वाली शक्ति करती है। वह आवेगों का दास है, वह समस्त उच्चतर मूल्यों के प्रति सन्देह और निषेध पर पहुँचता है। किन्तु यदि आध्यात्मिक दृष्टि के साथ उसका प्रयोग किया जाए तो वह सत्य का वाहक बन सकता है। अस्तु, तार्किक समन्वय नहीं बल्कि आध्यात्मिक समन्वय समाज दर्शन की प्रणालियों का लक्ष्य है यद्यपि अन्तिम विश्लेषण में, आध्यात्मिक समन्वय तार्किक संगतता से पूर्णतया समीचीन होता है। इस प्रक्रिया में, आध्यात्मिक दृष्टि तर्क और चिन्तन का निर्देशन करेगी और इसका उल्टा नहीं होगा।

चिन्तन का मूल्य

चिन्तन की निश्चय ही अपनी सीमाएँ हैं, "किन्तु यदि बुद्धि समर्पित, उन्मुक्त, शान्त एवं ग्रहणशील है तो कोई कारण नहीं है कि क्यों वह प्रकाश को ग्रहण करने का एक साधन अथवा आध्यात्मिक दशाओं के अनुभव और आन्तरिक परिवर्तन की पूर्णता की सहायक न बन जाए।"[20] चिन्तन न केवल लाभदायक है बल्कि आध्यात्मिक दृष्टिकोण में बाधक बुद्धि से निम्न तत्त्वों को हटाने के लिए समाज दर्शन में वह अनिवार्य भी है। वह सब प्रकार के अन्धविश्वासों, पूर्वाग्रहों एवं अन्धी अवस्थाओं से छुटकारा पाने के लिए एक प्रभावशाली यन्त्र है। जैसाकि श्री अरविन्द ने संकेत किया है, विवेक परम प्रकाश नहीं है किन्तु फिर भी वह एक अनिवार्य प्रकाशवाहक है और जब तक उसे उसके अधिकार नहीं दिए जाते और उसे हमारी बुद्धि से निम्न प्रवृत्तियों, आवेगों, पक्षपातों, विश्वासों और पूर्वनिर्णयों को जाँचने और शुद्ध करने की अनुमति नहीं दी जाती, हम एक महान् आन्तरिक प्रकाश के पूर्ण अवतरण के लिए पूरी तरह तैयार नहीं हो सकते।"[21] तार्किक संगतता किसी भी यथार्थ दर्शन की न्यूनतम आवश्यकता है किन्तु वह उसकी अधिकतम सीमा नहीं है। समाज दर्शन को केवल एक तर्कसंगत सिद्धान्त से अधिक होना चाहिए। उसे मानव-जाति के आध्यात्मिक विकास के रहस्यों में अन्तर्दृष्टि प्रदान करनी चाहिए।

विवेक और बोध का समन्वय

इस प्रकार, समाज दार्शनिक को अपने साधनों के रूप में विवेक और बोध दोनों को ही प्रयोग करना होगा। सर्वांग ज्ञान अन्तर्निहित, अन्तरस्थित और तादात्म्य का ज्ञान है। यह अधिचेतन के विस्तार से सम्भव होता है जहाँ तक कि वह विश्व से एकाकार हो जाता है किन्तु यह बोध आध्यात्मिक है और इसे मानसिक, प्राणात्मक अथवा भौतिक बोधों से अलग किया जाना चाहिए। इन दूसरे बोधों की प्रामाणिकता विवेक द्वारा जाँच किए जाने पर निर्भर है जबकि आध्यात्मिक बोध बुद्धि से परे है। इस उच्चतर बोध के क्षेत्र मे विवेक निर्णायक नहीं बल्कि शान्त निरीक्षक मात्र है। "आध्यात्मिक बोध का निर्णय केवल उच्चतर बोध के द्वारा होता है जोकि निम्नतर का निषेध नहीं करता, बल्कि उसका अतिक्रमण करते हुए और साथ-ही-साथ उसे सम्मिलित करते हुए उसकी सीमाएँ दिखलाता है।"[22] आध्यात्मिक बोध में अभिव्यक्ति, प्रेरणा, स्पर्श और विभेद सत्य के विषय में ये चार शक्तियाँ होती हैं। किन्तु वास्तव में विवेक और बोध का विरोध केवल अज्ञान के क्षेत्र में है ज्ञान के क्षेत्र में नहीं है। विशुद्ध, परिष्कृत और प्रकाशित होकर विवेक आध्यात्मिक बोध में सहायक हो जाता है।

समाज दर्शन में श्री अरविन्द की सर्वांग प्रणाली

दोहरा प्रत्यक्षीकरण

जैसाकि पीछे दिखलाया गया है, यह दोहरी प्रणाली श्री अरविन्द के समाज दर्शन में स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ती है। उनके अनुसार, दर्शन प्रक्रियाओं और इन प्रक्रियाओं से निकलने वाले प्रपंचों से भिन्न मूलभूत सद्वस्तुओं और सत् के सिद्धान्तों को स्थापित करने का प्रयास है।[23] इस प्रकार समाज दर्शन की प्रणाली विज्ञानों की प्रणालियों से भिन्न होगी। यह भेद निरीक्षण की प्रणाली में और भी स्पष्ट हो जाता है। समाजशास्त्र के समान समाज दर्शन भी सामाजिक सम्बन्धों के ताने-बाने से सम्बन्धित तथ्यों का निरीक्षण करता है किन्तु यह निरीक्षण दार्शनिक निरीक्षण है। सामाजिक तथ्यों के अपने निरीक्षण में, समाज-दार्शनिक प्रक्रियाओं के विस्तार में नहीं जाएगा, वह तो सामाजिक सम्बन्धों के ताने-बाने के अन्तर्गत और उनकी पृष्ठभूमि में काम करने वाली आन्तरिक शक्तियों को देखेगा। इस प्रकार उसका निरीक्षण समाज वैज्ञानिक के निरीक्षण से अधिक गहरा और सूक्ष्म होना चाहिए। समाज दार्शनिक का समाज विज्ञानों के परिणामों से सम्बन्ध अवश्य है किन्तु उनके सांख्यिकीय साधारणीकरण के बाह्यरूपों से नहीं बल्कि उनकी आन्तरिक प्रवृत्तियों से है। दूसरे, उसका निरीक्षण सामाजिक विज्ञानों की प्रणाली से भिन्न सारात्मक होता है। वह समाजशास्त्र के समन्वय और गैस्टाल्ट मनोविज्ञान के संगठन से कहीं अधिक गहरा है। समन्वय के प्रयास में समाजशास्त्री, सामाजिक जीवन के विभिन्न कारकों अथवा विभिन्न भागों के मध्य सम्बन्ध निश्चित करने का प्रयास करता है उदाहरण के लिए आर्थिक और राजनीतिक नैतिक और

धार्मिक, नैतिक और विधि सम्बन्धी, बौद्धिक और सामाजिक तत्त्वों में सम्बन्ध।[24] दूसरी ओर, समाज दार्शनिक, अपने सारात्मक और गहरे निरीक्षण में सामाजिक जीवन के विभिन्न कारकों के मध्य सम्बन्धों के मूल में काम करने वाली विभिन्न शक्तियों की अन्त:क्रियाओं को देखने का प्रयास करता है। उदाहरण के लिए, जबकि समाजशास्त्र वर्तमान संकट की ओर ले जाने वाले विभिन्न सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक तथ्यों का पता लगाएगा, समाज दर्शन उन तथ्यों के मूल में काम करने वाली शक्तियो मे सकट का स्रोत खोजेगा। वह वर्तमान सकट की व्याख्या उसकी पृष्ठभूमि में काम करने वाले प्रकृति के प्रयोजन के सन्दर्भ में करेगा। जैसाकि श्री अरविन्द ने दिलीप को अपने पत्र में लिखा था, "हमें वस्तुओं को उनके सभी पहलुओं में लगातार और पूर्णरूप से देखना है। एक बार फिर, मुझे पृष्ठभूमि में काम करने वाली शक्तियों की ओर देखना है, मैं सतही विस्तार में अन्धे होकर जाना नहीं चाहता।"[25]

मानसिक निरीक्षण की अपर्याप्तता

किन्तु यह दोहरा निरीक्षण भी पर्याप्त नहीं है। जब तक हम मानसिक स्तर तक सीमित रहते है तब तक यह भी पूर्णतया सम्भव नहीं है। मानस आन्तरिक ज्ञान का यन्त्र है। प्रत्यक्षीकरण का गैस्टाल्ट सिद्धान्त साहचर्यवादी मनोविज्ञान से अवश्य आगे था क्योंकि किसी वस्तु का पृष्ठभूमि में प्रत्यक्षीकरण निश्चय ही उसको पृथक् करके देखने की तुलना में अधिक व्यापक निरीक्षण है। किन्तु निरीक्षण का यह सिद्धान्त भी हमें बहुत दूर नहीं ले जा सकता, क्योंकि मूल रूप से वह एक मानसिक निरीक्षण है। वैज्ञानिक विधियों की सीमाएँ मानस की सीमाओं में अन्तर्निहित हैं। फिर भी मानसिक स्तर पर उसकी सहायता करने के लिए चाहे कितने भी भौतिक यन्त्र प्रयोग किए जाएँ, जानने का अर्थ सीमित करना, वस्तुओं को अमूर्त्त रूप में देखना और मूर्त्त सद्वस्तु से रूपों को काटकर अलग करना है। ज्ञान की प्रकृति का काण्ट का विश्लेषण प्रशंसनीय रूप से मानस की सीमाओं को स्थापित करता है। बर्गसाँ की स्तरीकरण की धारणा मूर्त्त सद्वस्तु को पकड़ने में बुद्धि की अयोग्यता का वर्णन करती है। किन्तु बुद्धि की असफलताएँ मूल प्रवृत्ति, अनुभूति और संकल्प से दूर नहीं की जा सकतीं क्योंकि बुद्धि इनसे उच्चतर है।

मानसिक स्तर का अतिक्रमण

मानस की सीमाओं का अतिक्रमण करने की एक प्रविधि निकालकर श्री अरविन्द ने समाज दर्शन को एक नई प्रणाली प्रदान की है। श्री अरविन्द के अनुसार, मानस के परे उच्चतर मानस है। इस स्तर पर हम चिन्तन के रूपान्तर और परिपूर्ति के द्वारा वस्तुओं को समग्र रूप में जानते हैं। उच्चतर मानस के परे ज्योतिर्मय मानस है जोकि चिन्तन के द्वारा नहीं बल्कि दृष्टि के द्वारा काम करता है। ज्योतिर्मय मानस के परे बोधमय मानस है जो बोध के माध्यम से कार्य करता है। इससे भी ऊपर अधिमानस है। इसका चिन्तन सार्वभौम होता है और यह मानसिक स्तर के विरोधियो को पूरक बना देता है किन्तु इस स्तर पर भी निश्चेतना का सतत खिचाव बना रहता

है; न यह मानस से निम्न साधनों जैसे संकल्प, अनुभूति, मूल प्रवृत्ति इत्यादि को रूपान्तरित ही करता है। अधिमानस के परे अतिमानस है। श्री अरविन्द के अनुसार यह अतिमानस ही वास्तविक सत्य चेतना है।[26]

अतिमानसिक प्रज्ञा दृष्टि

श्री अरविन्द ने कहा है, "वस्तुओं को लगातार और उनको सम्पूर्ण रूप में देखना मानस के लिए सम्भव नहीं है, परन्तु वह परात्पर अतिमानस की प्रकृति ही है।"[27] केवल इस अतिमानसिक प्रज्ञा दृष्टि के द्वारा ही समाज दार्शनिक सामाजिक सम्बन्धों के क्षेत्र में काम करती हुई शक्तियों के पीछे प्रकृति के प्रयोजन में अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर सकता है। यहीं पर वह यह समझ सकता है कि मानव-प्रकृति के विभिन्न पहलू और मानव-समाज का किस प्रकार सकलन किया जाएगा। इस प्रज्ञा दृष्टि में ही समाज दार्शनिक सामाजिक सम्बन्धों की भावी रूपान्तरित अवस्था का अनुमान लगा सकता है। यहीं पर वह मानव-इतिहास के सच्चे अर्थों, उसके लक्ष्य, उसकी सम्प्राप्ति की व्यापक रूपरेखाएँ, वर्तमान प्रणाली की सीमाओं और सामाजिक विकास की एक सच्ची प्रणाली की दिशा को समझ सकता है। यहीं पर वह सामाजिक समस्याओं के मूल में अन्तर-सम्बन्धों को भूत और भविष्य, समस्त सार्वभौम विकास के प्रसंग में और गहरी शक्तियों के रूप में देख सकता है।

अब कुछ बुद्धिवादियों को यह दावा अत्यन्त अतिशयोक्तिपूर्ण और अनुचित प्रतीत हो सकता है। परन्तु इस विषय में यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि यहाँ पर श्री अरविन्द के दावे तार्किक निगमनों, व्यावहारिक आगमनों अथवा मानसिक चिन्तन पर आधारित नहीं हैं। वे मानस से परे विभिन्न स्तरों के उनके अपने प्रत्यक्ष अनुभव के तथ्य पर आधारित हैं। तथ्यात्मक कथनों को तार्किक कठिनाइयों से चुनौती नहीं दी जा सकती। अतिमानसिक स्तर पर यदि तर्क का वास्तविक अनुभव से संघर्ष होता है तो तर्क को ही सिर झुकाना चाहिए और परिवर्तित होना चाहिए। एक तथ्य को केवल दूसरे तथ्य से चुनौती दी जा सकती है, और कोई भी दूसरे का बहिष्कार नहीं कर सकता क्योंकि दोनों ही सामान्य रूप से सीमित हैं और सद्वस्तु के दो भिन्न पहलू दिखलाते हैं। एक तथ्य का विरोधी दूसरा तथ्य उससे ऊँचा न होकर केवल भिन्न होता है। उच्चतर तथ्य अथवा अनुभव तो वह है जो निम्न को सम्मिलित कर लेता है और उसका अतिक्रमण भी करता है। इस प्रकार श्री अरविन्द के समाज दर्शन में अतिमानसिक दृष्टि की प्रणाली का मूल्य मानसिक स्तर के परस्पर विरोधी दिखलाई पड़ने वाले तथ्यों को परस्पर पूरक और संकलित करने में है। उसकी प्रामाणिकता बोधजन्य अनुभव पर आधारित होने के कारण है जोकि एक ऐसा अनुभव है जो केवल श्री अरविन्द तक सीमित नहीं है बल्कि उन सभी को प्राप्त हो सकता है जोकि आवश्यक प्रशिक्षण और साधनों के साथ-साथ इस प्रविधि का प्रयोग करने को तैयार हों। इसकी विश्वसनीयता दो प्रकार से परखी जाती है, पहले तो सभी के लिए उन्मुक्त योग के व्यक्तिगत अनुभव के द्वारा और दूसरे इस तथ्य के द्वारा कि वह काम करती है

अतिमानसिक आरोहण

इस प्रकार, समाज दार्शनिक को न केवल सामाजिक शक्तियों का निरीक्षण करना है बल्कि उसे अतिमानसिक स्तर में आगे बढ़ना और आरोहण करना भी है। ताकि अति मानसिक चेतना के अवरोहण से वह वास्तविक सर्वांग ज्ञान प्राप्त कर सके। यह अपरिहार्य है। "क्योंकि" जैसाकि श्री अरविन्द ने संकेत किया है, "ज्ञान और क्रिया के हमारे साधन और प्रणालियां हमारी चेतना की प्रकृति के अनुरूप होनी चाहिएँ जोकि आमूल-चूल परिवर्तित होनी चाहिएँ यदि हम ज्ञान की उच्चतर शक्ति का केवल आकस्मिक दर्शन न करके उस पर शासन करना चाहते हैं।"[28] मानसिक ज्ञान द्वैतवादी होता है। बोध एक क्षणिक किरण के समान होता है। प्रज्ञा की स्थिति में मानस के विभिन्न यन्त्र जैसे स्मृति, कल्पना, निरीक्षण, तुलना, विरोध, उपमा, तर्क इत्यादि सम्पूर्ण सत्य की प्रत्यक्ष अनुभूति तथा साथ ही उस पर ठोस अधिकार बन जाते हैं।

समाज दर्शन योग के आधीन होना चाहिए

इस अतिमानसिक आरोहण की प्रविधि को श्री अरविन्द ने योग कहा है। योग से श्री अरविन्द के तात्पर्य की विवेचना प्रस्तुत पुस्तक के बारहवें अध्याय में विस्तारपूर्वक की जाएगी। इस स्थान पर केवल यही याद रखना पर्याप्त है कि श्री अरविन्द की योग की धारणा में कुछ भी अवैज्ञानिक, तर्कविहीन अथवा रहस्यवादी नहीं है। श्री अरविन्द के अनुसार, समाज दर्शन को योग के आधीन होना चाहिए। उनके अपने शब्दों में, "दर्शन का कार्य ज्ञान के विभिन्न साधनों द्वारा उपलब्ध सामग्री को व्यवस्थित करना, किसी को भी न छोड़ते हुए उन सबको एक सत्य, एक परम सार्वभौम सद्वस्तु से संकलित सम्बन्ध में स्थापित करना है।"[29] समाज दर्शन सामाजिक सम्बन्धों के ताने-बाने के विषय में तथ्यों और मूल्यों की समस्त सामग्री को उनकी पृष्ठभूमि में काम करने वाली प्रकृति के प्रयोजन की अतिमानसिक दृष्टि के प्रकाश में एक विवेकयुक्त और प्रत्ययात्मक प्रस्तुतीकरण है। वह मानव-समाज की वर्तमान अवस्था की कठिनाइयों और समस्याओं का विश्लेषण करता है, उसके भविष्य की असीम सम्भावनाएँ दिखलाता है और सामाजिक ताने-बाने के संकलन और रूपान्तर के साधनों का सुझाव देता है। "क्योंकि, अन्त में, मनुष्य के लिए दर्शन का वास्तविक मूल्य उसे उसकी सत् की प्रकृति में, उसके मनोविज्ञान के सिद्धान्तों में, जगत और ईश्वर से उसके सम्बन्ध में, उसके भविष्य की महान् सम्भावनाओं की सुनिश्चित रेखाओं में प्रकाश प्रदान करना है।"[30] यह केवल योग के द्वारा ही सम्भव है क्योंकि, जैसाकि श्री अरविन्द ने संकेत किया है, "दर्शन सच्चे ज्ञान को प्राप्त करने में बहुत कम सहायक होता है, जोकि अनुभव और वास्तविक साक्षात्कार से आना चाहिए।"[31] योग समाज दार्शनिक को एक दृष्टि प्रदान करता है यद्यपि यह दृष्टि समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र और धर्म के द्वारा प्राप्त सामग्री के अभाव में कार्य नहीं कर सकती। पुनः योग ही सुलझाव भी उपस्थित करेगा। ज्ञान की किसी भी शाखा में विशेष योग्यता प्राप्त करने के लिए न्यूनाधिक रूप से कठोर प्रशिक्षण

की आवश्यकता होती है। अस्तु, योग समाज दार्शनिक का प्रशिक्षण है। विशेषज्ञ होने के लिए, समाज दार्शनिक को योगी होना चाहिए।

समाज दार्शनिकों की भूल

किन्तु सामाजिक सम्बन्धों के विषय में तथ्यों और मूल्यों का ज्ञान भी उतना ही आवश्यक है। समाजशास्त्री रिचार्ड टी० लापियरे समाज दार्शनिकों की भूल की ओर संकेत करता है जिससे उसका तात्पर्य, "आकाशीय कल्पना के माध्यम से उत्तरोत्तर दौड़ते जाना है और ऐसा करने में सभी मन्द किन्तु आवश्यक तथ्यों को भुला देना है।"[32] प्लेटो, अरस्तू, मार्क्स, स्पेन्सर, कन्फ्यूशियस और वेस्टरमार्क ने बार-बार भिन्न-भिन्न शब्दों में समाज के एक ही प्राचीन अर्थ को दोहराया है। लापियरे के अनुसार, उनकी व्यवस्थाएँ उनके अपने सामाजिक दृष्टिकोण के विवेकीकरण मात्र थीं, सामाजिक ताने-बाने का तटस्थ दर्शन नहीं थीं। उन्होंने पूर्वनियोजित योजना में सामाजिक तथ्यों को फिट करने के लिए अपने दृष्टिकोण के बावजूद उनको नष्ट-भ्रष्ट किया। अस्तु, समाज दार्शनिकों ने बहुधा सामाजिक सम्बन्धों के तथ्यों की अवहेलना की है। किन्तु भूतकालीन असफलताओं से यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं है कि, "पच्चीस शताब्दियों के लिखित दर्शनीकरण के पश्चात् जो कुछ सिद्ध हुआ है वह यह है कि समाज को समझने के लिए दार्शनिक दृष्टिकोण निष्फल हैं, कि हम समाज के कारणों और विशेषताओं के विषय में शताब्दी के बाद शताब्दी तक बहस करते जाने पर भी अन्त में उससे आगे नहीं पहुँचेंगे, जहाँ पर आरम्भ में थे।"[33] वास्तव में, समाज के कारणों और विशेषताओं का विवाद समाज दर्शन का कार्य भी नहीं है। यह तो समाजशास्त्र का कार्य है। लापियरे का उपरोक्त कथन समाज दर्शन और समाजशास्त्र में विरोध की कल्पना पर आधारित है। किन्तु दूसरी ओर, ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं।

किन्तु समाज दार्शनिकों की भूल के विषय में लापियरे का उपरोक्त कथन, भावी समाज दार्शनिको को एक सामयिक चेतावनी है। समाज दर्शन को तथ्यों के प्रश्नो पर कल्पनात्मक प्रणालियों से विवाद करना छोड़ देना चाहिए। इन तथ्यों को उसे समाज दर्शन से ले लेना चाहिए। न ही उसे मूल्यों के प्रश्नों पर तथ्यों से पूर्णतया अलग करके बहस करनी चाहिए। वास्तव में तथ्यों और मूल्यों का अन्तर मूर्त सद्वस्तु से प्रत्ययात्मक अमूर्तकरण है जिसमें तथ्य और मूल्य दोनों ही अन्तर्ग्रथित हैं। सैद्धान्तिक विवाद के लिए प्रत्ययात्मक अमूर्तकरण आवश्यक है। किन्तु हमें सदैव अपनी दृष्टि मूर्त सद्वस्तु पर रखनी चाहिए। एक उपयुक्त समाज दर्शन समाजशास्त्र के तथ्यों पर आधारित होगा। जैसे-जैसे तथ्य बदलेंगे और विकसित होंगे वैसे-वैसे समाज दर्शन भी बदलेगा। "अस्तु उसका अर्थ प्रमुख रूप से मूल्यों, लक्ष्यों, आदर्शों, जो कुछ अस्तित्व में है या अस्तित्व में रहा है अथवा अस्तित्व में होने की आशा है, उसका नहीं बल्कि अस्तित्व के इन प्रकारों के अर्थ और महत्त्व का अध्ययन है।"[34] किन्तु यह केवल एक सर्वांग समग्र में तथ्यों को देखने वाले यौगिक दृष्टिकोण से सम्भव है। इस प्रकार समाज दर्शन की प्रणाली और ८ दोना ही है

3

सामाजिक विकास का दार्शनिक आधार

"इतना आध्यात्मिक दिखाई पड़ने वाला अन्तर, अधिकतम व्यावहारिक महत्त्व रखता है, क्योंकि वह जीवन पर मनुष्य के समस्त दृष्टिकोण को, अपने प्रयत्नों को, जो वह लक्ष्य प्रदान करेगा और उस क्षेत्र को निर्धारित करता है जिसमें कि वह अपनी शक्तियों को सीमित करेगा।"[1] —श्री अरविन्द

समाज दर्शन आध्यात्मशास्त्र की पृष्ठभूमि में आधारित होता है क्योंकि वही समस्त दर्शन का शाश्वत ठोस आधार है। जीवन के हमारे आदर्श और लक्ष्य हमारे आध्यात्मिक दृष्टिकोण पर आधारित होते हैं, चाहे वह कितना ही अस्पष्ट और स्थूल क्यों न हो। समाज दर्शन सद्वस्तु की प्रकृति की ओर दार्शनिक के दृष्टिकोण से निर्धारित होता है। मनुष्य और मानव-समाज के आदर्श मानव और विश्व की परम प्रकृति से निर्धारित होते हैं। एक जड़वादी आध्यात्मशास्त्र जड़वादी समाज दर्शन उत्पन्न करेगा। केवल एक सर्वांग आध्यात्मशास्त्र के आधार पर ही सर्वांग समाज दर्शन का विकास किया जा सकता है।

सर्वांग आध्यात्मशास्त्र

श्री अरविन्द का सर्वांग आध्यात्मशास्त्र ऐसा ही है। वह दो अर्थों में सर्वांग है, पहले तो वह प्राप्त हुए ज्ञान में किसी विशेष मानसिक प्रक्रिया के माध्यम से नहीं बल्कि मनुष्य के सम्पूर्ण सत् के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करता है। इस प्रकार वह एक सर्वांग ज्ञानशास्त्र पर आधारित है। दूसरे, उसकी सद्वस्तु की धारणा न तो मानव और न ईश्वर, न जगत और न इनमें से किन्हीं दो पर ही आधारित है बल्कि सद्वस्तु की इन तीनों अभिव्यक्तियों में अन्तर्निहित सर्वांग चेतना पर आधारित है। श्री अरविन्द के अनुसार, सद्वस्तु एक सर्वांगपूर्ण है जिसमें कि व्यक्ति, सार्वभौम और परात्पर तीन पहलू हैं। अब इनकी क्रमशः विवेचना की जाएगी।

सर्वांग ज्ञानशास्त्र

ज्ञान

श्री अरविन्द के अनुसार ज्ञान सद्वस्तु की समस्त सर्वांगता में एक सर्वांग चेतना है। वह उत्पन्न नहीं होता बल्कि पता लगाया जाता है। वह कोई क्रिया नहीं है बल्कि स्वयं सत्य है। वह वही है जोकि ब्रह्म है, जो एक, शाश्वत और असीम है। वह मनुष्य की आध्यात्मिक चेतना का सार है। वह कोई मानसिक प्रक्रिया नहीं है बल्कि भौतिक, प्राणात्मक, मानसिक, चैत्य और अन्त में आध्यात्मिक समस्त सत् के कारण है। इस प्रकार, ज्ञान एक अविभाज्यपूर्ण है जिसमें कि उच्चतम और निम्नतम मध्य की समस्त कड़ियों के द्वारा जुड़े हुए हैं। उसके तीन पहलू हैं, जोकि उसके आत्मसाक्षात्कार के तीन सोपान हैं, अर्थात् रहस्यमय चैत्य तत्त्व की खोज, सबमें शाश्वत आत्मा का साक्षात्कार तथा दैवी, विश्वगत तथा परात्पर सत्ता का ज्ञान। निरपेक्ष चेतना की चार शक्तियों में से ज्ञान पहली तीन को सम्मिलित करता है अर्थात् सारात्मक, सर्वांग और विविध। इनमें से पहली एक ओर अतिचेतन स्तब्धता और दूसरी ओर निश्चेतना है, दूसरी अतिमानसिक केन्द्रीकरण है तथा तीसरी अधिमानसिक जागरूकता है।

अज्ञान

निरपेक्ष चेतना शक्ति की चौथी शक्ति पृथक् करने वाली शक्ति है जोकि अज्ञान का लक्षण है। इस प्रकार श्री अरविन्द के अनुसार, अज्ञान भी चेतना शक्ति का एक पहलू है जोकि सीमित, व्यावहारिक और निरपेक्ष केन्द्रीकरण के द्वारा काम करता है, वह भूत और भविष्य को भूलकर वर्तमान में मानव-ध्यान के केन्द्रित होने से प्रदीप्त होता है। इस केन्द्रीकरण से वह एक व्यावहारिक प्रयोजन, विकास के प्रयोजन को पूरा करता है और इस केन्द्रीकरण के समान उसे आत्मा के एक अधिक कठोर प्रशिक्षण, गहराई, प्रदीप्तता और विस्तार से दूर किया जा सकता है। परम दैवी आत्मज्ञान के विरुद्ध, जिसमें कि एकता और विविधता दोनों ही हैं, और दूसरी ओर पूर्ण निश्चेतना के विरुद्ध, चेतना के काम करने की इन दो परस्पर विरोधी प्रणालियों के विरुद्ध अज्ञान एक तीसरी प्रणाली है। वह आत्मा की पूर्ण आत्मज्ञान को रोक लेने की प्रणाली है जोकि अर्ध सत्य और अर्ध असत्य ज्ञान है। उसका स्रोत ज्ञान का सीमित होना है, उसका विशिष्ट लक्षण सत् को उसकी सर्वांगता से अलग उसकी सीमाओं में तथा चेतना को पृथक्ता में रखने का लक्षण है।

अज्ञान का प्रयोजन

प्रकृति में अज्ञान का प्रयोजन, "वही करना है जोकि वह अस्तित्व की किसी बाहरी क्रीड़ा में करता है।" इस प्रकार, अज्ञान भी अभिव्यक्ति के प्रयोजन को पूरा करता है क्योंकि अभिव्यक्ति अज्ञान में होकर ज्ञान के विस्तार से ही सम्भव है। अज्ञान के बिना अस्तित्व दैवी और पूर्ण होने के स्थिर हो जाएगा क्योंकि विकास में अज्ञान

को दूर करने की प्रक्रिया आवश्यक होती है, स्वयं को परस्पर विरोधियों के माध्यम से अभिव्यक्त करना ही दैवी अवरोहण का अर्थ है।

अज्ञान का आधार

अस्तु अज्ञान का आधार न एक है न अनेक। एक सर्वांग और अविभाजित है। अनेक सर्वांगता में एक से अनभिज्ञ नहीं रहते है। द्वैत अनेक का अनिवार्य लक्षण नहीं है बल्कि मानसिक और भौतिक स्तर की बाहरी सतह है। श्री अरविन्द के दर्शन में एक और अनेक समान रूप से सत् हैं। अज्ञान विविधता में अन्तर्निहित एकता को भूल जाना है, जोकि मानसिक स्तर पर चेतना के केन्द्रीकरण का लक्षण है। वह न आदिम है, न मौलिक है, बल्कि एक अल्पज्ञान की ओर सापेक्ष गति है। उसका आधार मानस है। यह मानस ही मनुष्य को सार्वभौम चेतना से हटाकर उसकी व्यक्तिगत चेतना में सीमित करता है। मानस विभाजित करता है और एकता को भुला देता है।

सप्तांग अज्ञान

श्री अरविन्द के अनुसार अज्ञान सप्तांग अर्थात् सात पहलू वाला है। प्रथम और सबसे अधिक आधारभूत भौतिक अज्ञान है जिसके कारण हम निरपेक्ष के वास्तविक स्वरूप को भूल जाते हैं और या तो सत् या सम्भूति को ही पूर्ण सद्वस्तु मानने लगते है। यह मूल अज्ञान पूर्व और पश्चिम में अधिकतर आध्यात्मिक सिद्धान्तों में अन्तर्निहित है। विश्वगत अज्ञान में सम्भूति को ही विश्व का वास्तविक रूप मान लिया जाता है और उसकी पृष्ठभूमि में कार्य करने वाले सत् को भुला दिया जाता है। यह विभिन्न प्रकार के विज्ञानों तथा दर्शन, कला, साहित्य, तथा ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में जड़वादी, प्राणवादी तथा रोमांचवादी सिद्धान्तों के मूल में उपस्थित होता है। तीसरा है अहंकारी अज्ञान जिसके कारण हम अहंकार का आत्मा से तादात्म्य करते हैं और अपनी सार्वभौम प्रकृति को भूल जाते हैं। यह आधुनिक समाज में, सामाजिक सम्बन्धों में और मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में काम कर रहा है। यही वह अज्ञान है जिसे समाज दर्शन दूर करना चाहता है। चौथा है कालात्मक अज्ञान जिसके कारण हम आत्मा के अमर स्वरूप को भूलकर अपने वर्तमान थोड़े से जीवन को ही सबकुछ मान लेते हैं। यह अज्ञान वर्तमान समाज में बढ़ते हुए जड़वाद का परिणाम और कारण दोनों ही है। पाँचवाँ है मनोवैज्ञानिक अज्ञान जिसमें हम अपनी बाह्य प्रकृति पर केन्द्रित होकर उसके ऊपर और नीचे के चेतना के स्तरों को भुला देते हैं। यह मनोविज्ञान तथा अन्य सामाजिक विज्ञानों कला, साहित्य और शिक्षा के वर्तमान सिद्धान्तों में अन्तर्निहित अज्ञान है। ये पाँचों प्रकार के अज्ञान छठे प्रकार के अज्ञान से प्रभावित होते हैं जोकि सरचना सम्बन्धी अज्ञान है जिसके कारण हम अपने सर्वांगपूर्ण सत् को भूल जाते है और शरीर, प्राण अथवा मन अथवा इनमें से किन्हीं दो को सम्पूर्ण मानव मान लेते है। ये सब छः प्रकार के अज्ञान सातवें व्यावहारिक अज्ञान की ओर ले जाते है जोकि इस

संसार में व्यक्ति और समाज में हमारे समस्त भूल, पाप, मिथ्यात्व और दुःख के लिए उत्तरदायी है, यह दैनिक जीवन की समस्त समस्याओं के मूल में पाया जाता है।

ज्ञान और अज्ञान की धारणाओं का महत्त्व

ज्ञान और अज्ञान की धारणाओं का समाज दर्शन में अत्यन्त दूरवर्ती महत्त्व होता है। इन्हीं धारणाओं पर इतिहास दर्शन, विशिष्ट समाजों के इतिहासों की घटनाओं और समस्त मानवता की घटनाओं की व्याख्या आधारित है। मार्क्स, कालिंगवुड, तथा अनेक अन्य इतिहास दार्शनिकों ने मनुष्य को प्रभावित करने वाली विश्वगत शक्तियों और मानव-इतिहास में प्रकृति के प्रयोजन को भुलाकर अपने विश्लेषण को मनुष्य की सतही प्रकृति में सीमित रखा है। फिर, मानव-प्रकृति की व्याख्या जोकि किसी भी उपयुक्त समाज दर्शन का मूल आधार मानी जाती है, विश्वगत, अहंकारी, सरचनात्मक और मनोवैज्ञानिक अज्ञान से प्रभावित होती है। इतिहास दर्शन, सामाजिक विकास के मनोविज्ञान और मानव-प्रकृति की धारणा में इस भूल से सामाजिक विकास के आदर्श के विषय में अस्पष्टता उत्पन्न होती है। इस अस्पष्टता का एक प्रत्यक्ष परिणाम सामाजिक विकास की प्रणालियों के विषय में व्यावहारिक अज्ञान है। साध्यों के विषय में अज्ञान अनिवार्य रूप से साधनों के विषय में अज्ञान की ओर ले जाता है। इस प्रकार समाज दार्शनिक अपने अधूरे उपचारों को सामाजिक रोगों की सार्वभौम औषधि मानने की भूल करके अन्धकार में भटकते रहे हैं। अज्ञान की सप्तांग प्रकृति और ज्ञान की वास्तविक प्रकृति के अपने सूक्ष्म विश्लेषण से श्री अरविन्द ने समाज दार्शनिकों की भूलों की ओर संकेत किया है। ये भूलें सप्तांग अज्ञान को उसके अनुरूप सप्तांग ज्ञान से दूर करके हटाई जा सकती हैं। अस्तु, एक सर्वांग समाज दर्शन, निरपेक्ष, विश्व, आत्मा, आत्मा की सम्भूतियाँ, अधिचेतन और अतिचेतन स्तरों की प्रकृति, मनुष्य के सर्वांग सत् की जटिल प्रकृति और अन्त में चिन्तन, संकल्प और क्रिया के उपयुक्त प्रयोग के सम्बन्ध मे ज्ञान पर आधारित है। इससे कम होने पर कोई भी समाज दर्शन सर्वांग नहीं हो सकता।

सर्वांग अनुभव के रूप में सत्य

किन्तु यह मानसिक स्तर पर तथा मनुष्य के विवेक और विवेक से निम्न शक्तियों के द्वारा सम्भव नहीं है। पूर्ण के अन्तर्गत समीचीनता मानस के लिए केवल एक आस्था होती है, अनिवार्यता नहीं होती यद्यपि यह आस्था विवेक की विरोधी नहीं है। इस आस्था को समाज दर्शन में निर्णयों का ठोस आधार एक गतिशील सत्य बनाने के लिए समाज दार्शनिक को उसे सर्वांग अनुभव के द्वारा यथार्थ बनाना चाहिए। मानसिक समीचीनता सदैव आदर्श होती है। किसी भी सत्य की वास्तविक समीचीनता सर्वांग अनुभव में समीचीनता है। श्री अरविन्द के लिए, सम्पूर्ण सत्य चेतना शक्ति के त्रिविध पहलुओं वैयक्तिकता, सार्वभौमिकता और परात्परता, तथा सार रूप में प्रत्यक्ष एकता के सर्वांग अनुभव का सत्य है। समाज दार्शनिक का दृष्टिकोण उसके अध्ययन पर नहीं

बल्कि उसके अनुभव पर आधारित होना चाहिए यद्यपि अध्ययन भी उसे सत्य में कुछ-न-कुछ प्रवेश कराता है। इस प्रकार समाज दार्शनिक की प्रणाली बौद्धिक और अनुभवात्मक दोनों ही होगी। इनमें भी दूसरा पहले का आधार है। सर्वांग अनुभव एक ही साथ सत्य और उसकी सीमाओं तथा विभिन्न दृष्टिकोणों के पूर्ण में उचित स्थान से परिचित कराता है। इस प्रकार समाज दर्शन की प्रणालियाँ ज्ञान और सत्य की आध्यात्मिक प्रकृति से निकाली गई है। समाज दर्शन को विवेकयुक्त और बौद्धिक तो होना ही चाहिए क्योंकि यह किसी भी दर्शन की न्यूनतम शर्त है। परन्तु उसमें विवेक को बोध के अनुकूल होना चाहिए जोकि सर्वांग अनुभव के द्वारा प्राप्त किया गया है, ताकि मानव किसी एकांगी और गतिहीन सिद्धान्त पर नहीं बल्कि एक सर्वांग और गतिशील समाज दर्शन पर पहुँच सके। इस प्रकार सर्वांग ज्ञान सबका आत्मा में, आत्मा का सबमें और आत्मा का सबकुछ बन जाने में, अन्तरंगता, अन्तर्निहितता और तादात्म्य का त्रिविध साक्षात्कार है। विवेक से निम्न और विवेकयुक्त बोधों से भिन्न यह अतिमानसिक स्तर का आध्यात्मिक बोध है।

सर्वांग तत्त्वविद्या

त्रिविध सद्वस्तु

श्री अरविन्द के अनुसार, "जीवन का केन्द्र व्यक्तिगत, सार्वभौम और परात्पर चेतना के इन तीन रूपों का सम्बन्ध है।"[2] अस्तु, त्रिविध सद्वस्तु का ज्ञान व्यक्तिगत अथवा सामाजिक जीवन के लक्ष्यों और सिद्धान्तों को समझने का पूर्वाधार है। समाज दर्शनों की असफलताएँ उनके आंशिक या सम्पूर्ण इनमें से किसी एक या अधिक पहलू के विषय में अज्ञान पर आधारित है। समाज दर्शन तत्त्वविद्या के साथ उठता और गिरता है।

निरपेक्ष सत्

श्री अरविन्द के अनुसार निरपेक्ष सच्चिदानन्द, अस्तित्व, चेतना और आनन्द है। वह त्रिविध पहलुओं में एक है। उसमें ये तीन-तीन नहीं बल्कि एक ही होते हैं। निरपेक्ष ब्रह्म समस्त सापेक्षों को सम्मिलित कर लेता है। वह सबका आन्तरिक आत्मा है। वह अनेक में एक, प्रत्येक वस्तु में चेतन है। वह परात्पर और सम्प्रेषणविहीन है। वह देश है और जो कुछ देश में है, आत्मगत अथवा वस्तुगत वह सब है। वह विश्वगत है और साथ ही विश्व से परे भी है। वह पुरुष है, आत्मा है और साथ ही ईश्वर भी है।

परब्रह्म

निरपेक्ष अवर्णनीय और अचिन्तनीय परब्रह्म है। वह न तो सत् और न असत्, न आत्मा और न माया, न सगुण न निर्गुण, न चेतन न अचेतन, न व्यक्तिगत और न निर्वैयक्तिक, न आनन्द न आनन्दहीन, न पुरुष न प्रकृति, न मनुष्य न पशु, न बन्धन और न मोक्ष ही है। वह इन निषेधों के द्वारा वर्णन किया जाता है क्योंकि वह इन सबसे परे है ये सब उसके प्राथमिक अथवा गौण सामान्य अथवा विशिष्ट चिह्न मात्र हैं किन्तु

इसका अर्थ यह नहीं है कि परब्रह्म इन सबका निषेध करता है क्योंकि एक अर्थ में परब्रह्म यह सब है और यह सब परब्रह्म है। यह बुद्धि की समझ के परे प्रतीत होता है क्योंकि परब्रह्म पर मानसिक प्रणाली से नही पहुँचा जा सकता। श्री अरविन्द उस पर यौगिक चेतना से पहुँचे थे जोकि अपने सतत गतिशील, उच्चतर और व्यापक विकास में ज्ञान के समस्त साधनों को परिपूर्ति करता है।

निरपेक्ष के तीन पहलू

श्री अरविन्द के आध्यात्मशास्त्र में निरपेक्ष सत् और सम्भूति दोनों ही है, वह एक अन्तर्निहित सार है। उसकी एकता असीम बहुत्व और विविधता में होती है। वह एक त्रिविध एकता, त्रिविधता मे एकता है। श्री अरविन्द के अनुसार उसके निम्नलिखित तीन पहलू है[3]—

(1) वह विश्वगत आत्मा अथवा चेतना है जोकि समस्त वस्तुओं और प्राणियो के अन्तर्गत और उनके मूल में है, जिससे और जिसमें विश्व में सभी कुछ अभिव्यक्त होता है, यद्यपि वह अज्ञान की अभिव्यक्ति है।

(2) वह आत्मा हमारे अन्तर्गत सत् का स्वामी है, जिसकी हमें सेवा करनी है और जिसके संकल्प को अपनी समस्त गतियों के द्वारा अभिव्यक्त करना हमें सीखना है ताकि हम अज्ञान से प्रकाश की ओर आगे बढ़ सकें।

(3) दैवी तत्त्व परात्पर सत् और आत्मा, समस्त आनन्द और प्रकाश और दैवी ज्ञान और शक्ति है। उस सर्वोच्च दैवी अस्तित्व और उसके प्रकाश की ओर हमें उठना है और उसकी सद्वस्तु को अपनी चेतना और जीवन में अधिकाधिक नीचे उतारना है।

सद्वस्तु की यह त्रिविध धारणा समाज दर्शन की मूल कठिनाई को दूर कर देती है। वह एक ऐसा तत्त्व प्रदान करती है जोकि मनुष्य, समाज और मानवता में समान रूप से विद्यमान है, एक ऐसा तत्त्व जोकि स्वभाव से ही गतिशील है और जोकि मनुष्य के समस्त सत् को सन्तुष्ट करता है। इस तत्त्व पर पहुँचना ही समस्त समाज दर्शन का लक्ष्य है। इस तत्त्व का प्रसार, मानव और समाज के जीवन मे उसका प्रशासन ही सामाजिक विकास की सभी प्रणालियों का लक्ष्य है। इस प्रकार की सद्वस्तु के अस्तित्व का सत्य एक ऐसे समाज दर्शन की सम्भावना का आधार है जोकि भूतकालीन असफलताओं के बावजूद मानव, समाज और मानवता का समन्वय कर सकेगा। भूतकालीन प्रयासो में समाज दर्शन इसलिए असफल रहा है क्योंकि वह इस परम सत् के विषय में मूल रूप से अज्ञानी था। एक बार इस सद्वस्तु को ग्रहण कर लेने के पश्चात् वह केन्द्रीय सूत्र को पकड़ लेगा और अपनी अब तक की उलझी हुई समस्याओं को सुलझा लेगा। अस्तित्व, चेतना और आनन्द के त्रिविध लक्षणों वाली यह सद्वस्तु की धारणा, अस्तित्ववादी, आदर्शवादी अथवा सुखवादी, अथवा अन्य अधूरे दर्शनों पर आधारित समाज दर्शनों की एकांगिता दिखलाती है। व्यक्ति, समाज तथा मानवता के लिए सद्वस्तु के ये तीनो ही पहलू जरूरी हैं। मनुष्य को केवल बने ही रहना नही है बल्कि जीना भी है। उसे केवल जीना ही नहीं है बल्कि चेतना में विकसित होना भी है। इस विकास से उसका आनन्द

और उसके सम्पूर्ण सत् का समन्वित सन्तोष भी बढ़ना चाहिए। अस्तित्व, चेतना और आनन्द में इस समस्त विकास का आधार और माध्यम हमारी अन्तर्रात्मा होनी चाहिए, जोकि समाज और मानवता, प्रकृति और अतिप्रकृति में समान रूप से विद्यमान है।

ईश्वर

श्री अरविन्द के अनुसार, ईश्वर और निरपेक्ष एक ही सद्‌वस्तु के दो पहलू मात्र हैं। इस प्रकार ईश्वर सर्वव्यापी, सर्वज्ञानी और सर्वशक्तिमान है। वह अन्तरंग भी है और परात्पर भी, व्यक्तिगत भी है और सार्वभौम भी। वह प्रत्येक वस्तु का स्रष्टा, पालक और संहारक है। वह सहायक, निर्देशक, प्रेमभाजन और सबसे प्रेम करने वाला है। वह सभी का आन्तरिक आत्मा है। वह सुनिश्चित होते हुए भी स्वतन्त्र, पूर्ण और शाश्वत है। वह सत् है और सम्भूति भी। वह जगत का साधन और भौतिक कारण, प्रथम और अन्तिम कारण है। ईश्वर आत्मा और वस्तु दोनों ही है। वह भक्ति, प्रेम और रहस्य में अनुभूति का विषय है। उसमें उदारता, अनुकम्पा, ज्ञान, आनन्द, दुःख से मुक्ति, अशुभ, कष्ट, अज्ञान, सीमितता इत्यादि से स्वतन्त्रता के गुण हैं। वह विकास का आधार, प्रेरक और लक्ष्य है। ईश्वर सर्वोच्च आत्मचेतन व्यक्ति, परपुरुष है। वह परब्रह्म है किन्तु जबकि परब्रह्म अनभिव्यक्त है, परपुरुष अभिव्यक्त है। दूसरी ओर, परब्रह्म स्वयं परपुरुष बन जाता है। जैसाकि श्री अरविन्द ने कहा है, "ईश्वर अथवा परपुरुष अभिव्यक्त और अव्यक्त, किसी प्रकार की अभिव्यक्ति की ओर मुडा हुआ परब्रह्म है, जिसके कि आत्मा और जगत दो शाश्वत पहलू हैं।"[4]

जगत

आध्यात्मशास्त्र में जगत की प्रकृति समाज दर्शन में मानव का प्रयोजन निर्धारित करती है। यदि जगत एक भ्रम, अज्ञान से परिपूर्ण एक माया है तो मनुष्य का एकमात्र आदर्श उसे सबसे पहले अवसर पर छोड़ भागना ही हो सकता है। यदि जगत सत् के बिना शाश्वत सम्भूति है तो अर्थहीन परिवर्तन ही जीवन का नियम होगा। बुद्ध का नीतिशास्त्र महान् होते हुए भी, बाद के बौद्धों को शून्यवाद और पलायनवाद की ओर जाने से नहीं रोक सका, क्योंकि यदि जगत दुःख और शाश्वत परिवर्तन है, तो यहाँ पर मनुष्य का प्रयोजन सतत परिवर्तन और निरन्तर दुःख ही हो सकता है। "जगत दुःख है," यह एकांगी सत्य, मानो कि प्रतिक्रियावश, वाममार्गी बौद्धों को सुरा और सुन्दरी में सत्य की खोज की ओर ले गया। पुनः विश्व की आध्यात्मिक प्रकृति की एक जड़वादी धारणा, जीवन की एक भौतिकवादी धारणा की ओर ले जाएगी जैसाकि भारतवर्ष में चार्वाकों और पश्चिम में सुखवाद के अनेक प्रकारों और सबसे अधिक वर्तमान काल में मनुष्य की जड़वादी सभ्यता में दिखलाई पड़ता है। जगत की आध्यात्मिक प्रकृति की एक अध्यात्मिक धारणा ही एक आध्यात्मिक समाज दर्शन का ठोस आधार हो सकती है।

शक्ति की क्रीड़ा के रूप में जगत

हैराक्लाइटस के साथ श्री अरविन्द जगत को चेतना-शक्ति की क्रीड़ा मानते हैं। विश्व असीम अस्तित्व, असीम गति, असीम सक्रियता की एक असीम शक्ति है जोकि स्वयं को असीम देश और शाश्वत काल में निरन्तर प्रवाहित कर रही है। यह शक्ति अविभाज्य है और प्रत्येक वस्तु मे और उसी काल में अपनी सम्पूर्ण आत्मा प्रदान करती है। वह सब-कहीं वही है, केवल उसका रूप, प्रकार और कार्यों के परिणाम असीम रूप से बदलते रहते हैं। यह विविधता मात्रा में परिवर्तन की ओर ले जाती है क्योंकि शक्ति न केवल गणनात्मक है अथवा अस्तित्व है बल्कि गुणात्मक है, चेतना और आनन्द है। यौगिक अनुभव पर आधारित इस दृष्टिकोण का खण्डन करने के लिए आधुनिक विज्ञान कोई आधार नहीं देता।

शक्ति की प्रकृति

यह चेतना शक्ति मानसिक चेतना से भिन्न है जोकि उससे विकसित और उसका एक साधन है। यह सर्वव्यापक, पौधे, पशु और मानव-प्राणियों में पाया जाने वाला एक समान सारतत्व है। भविष्य में आविष्कार किए जाने वाले सूक्ष्म यन्त्र जड़तत्त्व में भी उसकी उपस्थिति दिखला सकेंगे। प्रकृति में अव्यवधान का सिद्धान्त जड़तत्त्व में भी चेतना के उपस्थित होने का औचित्य ठहराता है। जिसका आरोहण होता है उसका अवरोहण भी अवश्य हुआ है। विचार ज्ञात से अज्ञात की ओर जा सकता है। विश्व की प्रकृति की धारणा श्री अरविन्द के आध्यात्मशास्त्र में मानव की प्रकृति के विषय में उनकी धारणा पर आधारित है। यदि मनुष्य का अन्तर्निहित सारतत्व चेतना-शक्ति है तो प्रकृति में अव्यवधान के नियम से, वही समस्त विश्व का सारतत्व होगी, चाहे वस्तुओं के बाहरी रूप कितने भी भिन्न क्यों न होते हों।

देश और काल

"इस प्रकार देश आकारों और वस्तुओं को एकसाथ बाँधने वाला विस्तृत ब्रह्म होगा। काल आकारों और वस्तुओं को ले जाते हुए आत्मशक्ति की गति विस्तीर्ण करने के लिए ब्रह्म का आत्मविस्तार होगा; ये दोनों सार्वभौम शाश्वत तत्त्व की एक और वही आत्माभिव्यक्ति के दो पहलू होंगे।"[5] देश असीमितता है और काल ब्रह्म की शाश्वतता है। शाश्वतता के सन्दर्भ में सत् की तीन विभिन्न अवस्थाएँ कालातीत शाश्वतता, काल की सर्वागता और काल की गति हैं। इस प्रकार शंकर के विरुद्ध, श्री अरविन्द ने काल को शाश्वत तत्त्व की एक अभिव्यक्ति माना है। जगत किसी भी अर्थ में अयथार्थ नहीं है। मानव और प्रकृति उतने ही यथार्थ हैं जितना कि निरपेक्ष। ये तीनों सार रूप में एक ही हैं। यह सर्वांग एकतत्त्ववाद, जबकि वह सांख्य के द्वैतवाद की समस्याओं को सुलझाता है, शंकर के अद्वैतवाद की कठिनाइयों से भी बच जाता है। यह धर्म और दर्शन दोनों के सत्यों की व्याख्या करता है। और सर्वोपरि, वह आधुनिक भौतिकशास्त्र की खोजों का विरोध नहीं करता देश-काल के आधुनिक चतुर्आयाम सिद्धान्त के साथ श्री अरविन्द

ने देश और काल को ताने-बाने के समान परस्पर गुँथा हुआ माना है। सापेक्षता के सिद्धान्त और आधुनिक भौतिकशास्त्र में अनिर्णायकता के सिद्धान्त से यह एक शक्ति की पूर्वकल्पना उत्पन्न होती है जिसकी गतिविधियाँ यन्त्रवत् निर्धारित नहीं होतीं। इसके आगे भौतिकशास्त्र को कुछ नहीं कहना है। विज्ञान के इस जगत से परे श्री अरविन्द एक अपरिभाष्य, असीम, कालातीत और देशातीत निरपेक्ष सत् की ओर संकेत करते हैं।

त्रिविध अभिव्यक्तियाँ

श्री अरविन्द के अनुसार स्रष्टा के रूप में ईश्वर अतिमानस है। विश्व अतिमानसिक चेतना के त्रिविध केन्द्रीकरण का परिणाम है। त्रिविध पहलुओं के साथ यह केन्द्रीकरण तीन प्रकार की अभिव्यक्तियों की ओर ले जाता है। "पहला वस्तुओं में एक अपरिहार्य एकता प्राप्त करता है; दूसरा एक में अनेक और अनेक में एक की अभिव्यक्ति का समर्थन करने के लिए इस एकता को संशोधित करता है; तीसरा उसे इस प्रकार संशोधित करता है जिससे कि विविध वैयक्तिकता के विकास को आधार मिल सके जोकि अज्ञान की क्रिया के द्वारा, हममें निम्न स्तर पर एक पृथक् अहंकार का भ्रम बन जाता है।"[6] पहला यहाँ पर शुद्ध सच्चिदानन्द चेतना नहीं है किन्तु उसके बराबर एक आत्म-विस्तार है। सृष्टि के विषय में विभिन्न सिद्धान्तों में उपरोक्त तीनों अभिव्यक्तियों में से किसी एक अथवा दो पर जोर देते हुए शेष को छोड़ दिया गया है। अतिमानसिक चेतना की त्रिविध धारणा से श्री अरविन्द ने अद्वैत, विशिष्टाद्वैत और द्वैत के सिद्धान्तों का समन्वय किया है। अतिमानस की तृतीय स्थिति आनन्दमय द्वैत की एक अवस्था है जोकि मानस की क्रिया के द्वारा अज्ञान बन जाती है।

माता

सच्चिदानन्द की चेतनाशक्ति को श्री अरविन्द ने शक्ति और तन्त्र दर्शनो के समान माता कहा है। इस महाशक्ति की चार प्रमुख शक्तियाँ है जिनको श्री अरविन्द ने माता के चार व्यक्तित्वों के रूप में वर्णन किया है अर्थात् महेश्वरी, महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती। उनके अपने शब्दो में, "महेश्वरी विश्वशक्तियों की विशाल रेखाओं को निर्धारित करती है। महाकाली उनकी शक्ति और वेग को संचालित करती है। महालक्ष्मी उनमें लय और माप का पता लगाती है, परन्तु महासरस्वती संगठन और प्रशासन के उनके विस्तार में, विभागों के सम्बन्ध और शक्तियों के प्रभावशाली संयोजन तथा परिणामों और परिपूर्तियों की अनिवार्य यथार्थता की अध्यक्षता करती है।"[7] इन चार प्रमुख शक्तियों के अतिरिक्त, माता की अन्य असंख्य शक्तियाँ हैं। माता अपनी शक्तियों से विश्व की सृष्टि करती है और उसे परम तत्त्व से जोड़ती है। व्यक्ति, सार्वभौम और परात्पर, इन तीन दशाओं से वह मानव, प्रकृति और ईश्वर में मध्यस्थता करती है। माता केवल प्रशासन ही नहीं करती बल्कि सृष्टि में सहायता और निर्देशन भी करती है। माता की धारणा से श्री अरविन्द जगत में भगवत कृपा के तत्त्व की प्रक्रिया ले आते हैं।

सृष्टि का प्रयोजन लीला

श्री अरविन्द के अनुसार सृष्टि का प्रयोजन लीला है। लीला की धारणा स्रष्टा के प्रयोजन निर्धारित करने में उठाई गई समस्त परम्परागत कठिनाइयों से बच जाती है। लीला दिव्य तत्त्व का एक प्रयोजनहीन प्रयोजन, एक स्वाभाविक प्रवाह, एक सहज आत्माभिव्यक्ति है। लीला की धारणा सृष्टि में आनन्द के कार्यभाग पर जोर देती है। प्रकृति और माया की धारणाएँ दैवी तत्त्व मे आनन्द के पहलू की व्याख्या नहीं कर पातीं। यदि जगत सच्चिदानन्द की शक्ति की अभिव्यक्ति है, उसके अस्तित्व और चेतना का विस्तार है, तो उसका प्रयोजन आनन्द के अतिरिक्त और कुछ नही हो सकता। यह लीला का अर्थ है, "लीला जोकि क्रीडा है, बालक का आनन्द है, कवि का आनन्द है अभिनेता का आनन्द है, शाश्वत रूप से युवा वस्तुओं की आत्मा का कारीगर का आनन्द है, कभी भी समाप्त न होने वाला केवल आत्मसृष्टि के लिए स्वयं में स्वयं को उत्पन्न और पुनःउत्पन्न करने वाला, आत्मप्रतिनिधित्व के लिए स्वयं क्रीड़ा, स्वयं खिलाडी और स्वयं क्रीड़ास्थल है।"[8]

विकास

श्री अरविन्द के सृष्टिशास्त्र में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त विकास का सिद्धान्त है। यह उनके अध्यात्मशास्त्र में और इसलिए उनके समाजदर्शन में भी प्रमुख सिद्धान्त है। मानव की सामाजिक विकास की प्रक्रिया, उसके लक्ष्य, प्रणालियाँ, प्रकृति अर्थ और प्रवृत्ति को समझने में विकास मूल सूत्र है, सामाजिक विकास की एक सर्वांग प्रणाली है। मानव का भविष्य प्रकृति में निहित उस आन्तरिक प्रयोजन को समझने पर निर्भर है जोकि उसके व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में अभिव्यक्त हो रहा है। इस साक्षात्कार में सफलता पर ही उसकी प्रकृति की प्रणालियों की समझ निर्भर करती है, क्योंकि, प्रकृति भी, वही लक्ष्य खोज रही है और मानवता उस लक्ष्य की ओर प्रकृति के निरन्तर प्रयास में एक सोपान है। मनुष्य प्रकृति की सन्तान है। केवल माँ प्रकृति ही उसे यह सिखाएगी कि वह क्या करेगा और कैसे करेगा। किन्तु उसके लिए, मनुष्य को प्रकृति को न केवल उसकी बाह्य रूपरेखा में, न केवल उसके बाह्य आकार और शक्ति में, बल्कि सच्चिदानन्द की चेतना-शक्ति के उसके अन्तरंग सार में भी समझना चाहिए। श्री अरविन्द ने विकास के आध्यात्मशास्त्र में यही प्रयास किया है। यहीं पर डार्विन, लामार्क, हरबर्ट स्पेन्सर, सेमुएल एलेक्ज़ैण्डर, ए० एन० व्हाइटहैड, लायड मार्गन, बर्गसाँ, हेगेल और क्रोचे पूर्ण विकासवादी सत्य से पहले ही रुक जाते हैं। ये सब एक उपयोगी प्रयोजन को पूरा करते हैं जिसमें प्रकृति की कार्य-प्रणाली के किसी एक अथवा दूसरे पहलू पर जोर दिया जाता है। किन्तु इनमें से भी कोई प्रकृति को उसकी समस्त शक्तियों और भव्यता में नहीं देख पाता। यह उनकी प्रणालियों की अपूर्णताओं के कारण है। प्रकृति से प्रत्यक्ष और सर्वांग एकता की अपनी यौगिक प्रणाली के माध्यम से श्री अरविन्द उसके लक्ष्यों और प्रणालियों के रहस्यों को स्पष्ट करने में सफल हो सके हैं।

विश्व प्रक्रिया

श्री अरविन्द के अनुसार, विश्व सच्चिदानन्द की चेतना-शक्ति की एक अभिव्यक्ति है। इस चेतना-शक्ति के दो पहलू हैं—प्रकाशमान और प्रभावशाली आत्मज्ञान की अवस्था और शक्ति तथा आत्मशक्ति की अवस्था और शक्ति। इस प्रकार जबकि वह अपनी सर्वशक्तिमान आत्मशक्ति के द्वारा विश्व को उत्पन्न करती और शासन करती है, वह अपनी सर्वशक्तिमान आत्मचेतना के द्वारा उसके अन्दर जो कुछ अभिव्यक्त है उसे भी जानती है। इस रचनात्मक क्रिया का स्रोत अतिमानस है, यथार्थ प्रत्यय है जिसमे कि दैवी ज्ञान और संकल्प अनिवार्य रूप से वस्तुओं के नियमों की गति और रूप, उनके आत्मस्थित सत्य और उसकी अभिव्यक्ति के अर्थ से समन्वय के अनुसार बन जाते है। अतिमानस में ज्ञान और संकल्प में पूर्ण एकता है क्योंकि तत्त्व और प्रकृति रूप मे दोनों में ही वही आत्म-अस्तित्व और आत्म-चेतना है।

अज्ञान में तीन तत्त्व

अज्ञान के अाधीन काम करते हुए उच्चतर तत्त्वों की त्रिविध शक्तियों से, जड तत्त्व, प्राण तत्त्व और मानस तत्त्व का विकास होता है। श्री अरविन्द के अनुसार, "मानस अतिमानस की एक गौण शक्ति है जोकि पृष्ठभूमि में छिपी एकता को वास्तविक रूप मे भूलकर विभाजन के दृष्टिकोण पर आधारित है, यद्यपि अतिमानस से प्रकाश प्राप्त करके वह वापस लौट सकता है; उसी प्रकार जीवन सच्चिदानन्द के शक्ति के पहलू की एक गौण शक्ति है। वह मानस के द्वारा उत्पन्न विभाजन के दृष्टिकोण से चेतन शक्ति के आकारों और क्रीड़ा को निर्धारित करने वाली शक्ति है। जड़तत्त्व सत् के तत्त्व का वह रूप है जिसे सच्चिदानन्द का अस्तित्व उस समय ग्रहण करता है जबकि वह स्वयं को उसकी अपनी चेतना और शक्ति की प्रपंचात्मक क्रिया के आधीन कर देता है।"[9]

जड़तत्त्व भी ब्रह्म है

इस प्रकार, श्री अरविन्द के अनुसार, जड़तत्त्व भी ब्रह्म है। श्री अरविन्द के आध्यात्मशास्त्र में जड़वादी और कठोरतावादी स्थितियों के परस्पर विरोधी सिद्धान्तो का यह समन्वय समाज दर्शन में उनके यथार्थ-आदर्शवाद की ओर ले जाता है। ये दोनो परस्पर पूरक हैं। समाज दर्शन मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, मानवशास्त्र, राजशास्त्र, अर्थशास्त्र और इतिहास जैसे विभिन्न सामाजिक विज्ञानों द्वारा बतलाए गए कठोर सत्यो पर आधारित होना चाहिए। चिन्तन, निश्चय ही ज्ञात से अज्ञात पर जा सकता है किन्तु उसके लिए उसे सबसे पहले ज्ञात के विषय में पूर्णतया स्पष्ट होना चाहिए। वैज्ञानिक तथ्यों से सम्बन्धित सामाजिक आदर्शों को निर्धारित करने में श्री अरविन्द ने समाज दार्शनिकों की परम्परागत भूल से बचाव किया है।

आत्मा जड़तत्त्व का आन्तरिक तत्त्व और जड़तत्त्व आत्मा का शरीर हैं। फिर भी जड़तत्त्व के निश्चित मौलिक लक्षण होते हैं जोकि बाह्य रूप में आध्यात्मिक तत्त्व के विरोधी हैं सबसे पहले आत्मा के विरुद्ध र अज्ञान के तत्त्व की है

दूसरे, वह यान्त्रिक नियम, स्वतन्त्रता के पूर्णतया विरुद्ध, एक व्यापक गतिहीनता के बन्धन की पराकाष्ठा है। और अन्त में वह विभाजन और संघर्ष के सिद्धान्त की चरम परिणति है। ये जड़तत्त्व के लक्षण हैं जोकि जड़तत्त्व से आत्मतत्त्व की ओर विकास में क्रमशः घटते जाते हैं और आध्यात्मिक स्तर पर पूर्णतया अन्तर्ध्यान हो जाते हैं। इस प्रकार जड़तत्त्व से आध्यात्म तत्त्व तक विकास में अधिकाधिक आध्यात्मिक और कम-से-कम जड़ असंख्य सोपान होते हैं। इस विकास में जीवन और मानस दो प्रमुख सोपान हैं।

विकास की प्रक्रिया का यह आध्यात्मशास्त्रीय विश्लेषण सामाजिक विकास की कसौटी में अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है। इस प्रकार सामाजिक विकास में प्रगति का अर्थ जड़तत्त्व के प्रमुख लक्षण अज्ञान, यान्त्रिकता, गतिहीनता, विभाजन और संघर्ष का क्रमशः घटते जाना है। यह पूर्ण आध्यात्मीकरण और जड़तत्त्व के रूपान्तर, पृथ्वी पर स्वर्ग के राज्य का सामाजिक आदर्श निर्धारित करता है। यह, यह भी स्पष्ट करता है कि इसमें जड़तत्त्व के उन्मूलन की आवश्यकता नहीं है बल्कि केवल आध्यात्म तत्त्व द्वारा उसके नियन्त्रण, रूपान्तर और संकलन की आवश्यकता है। सामाजिक विकास में भौतिक विकास अनिवार्य रूप से शामिल होता है। किन्तु यह भौतिक विकास आध्यात्मिक विकास से प्रेरित और निर्देशित होना चाहिए क्योंकि केवल इसी प्रकार व्यक्तियों और समुदायों के परस्पर संघर्ष को बचाया जा सकता है। पृथ्वी पर मानवता के लिए भौतिक समृद्धि आवश्यक है किन्तु वह आध्यात्मिक प्रयोजन का एक साधन होना चाहिए। शरीर को जीवित रहना, बढ़ना और आनन्द प्राप्त करना है क्योंकि वह भी सच्चिदानन्द की एक अभिव्यक्ति है किन्तु यह आत्मा को छोड़कर और आत्मा के विरोध में नहीं बल्कि इससे समन्वय करके होना चाहिए, क्योंकि आत्मा ही अस्तित्व, विकास और आनन्द की भौतिक प्रवृत्तियों का सच्चा लक्ष्य है। आत्मतत्त्व में ही ये प्रवृत्तियाँ पूर्णतया सन्तुष्ट हो सकती हैं क्योंकि केवल वहीं पर उन्हें उनके परम लक्ष्य सच्चिदानन्द की प्राप्ति होती है।

जीवन

श्री अरविन्द के अनुसार, "जीवन एक विश्वगत शक्ति का एक रूप, उसकी एक परिवर्तनशील गति अथवा धारा, विधायक अथवा निषेधात्मक, शक्ति की एक निरन्तर क्रिया अथवा क्रीड़ा है जोकि रूपों का निर्माण करती है, तथा उनके तत्त्व के निरन्तर विघटन और नवीनीकरण की एक सतत प्रक्रिया के द्वारा उन्हें अनुप्राणित करती है।"[10] जीवन सार्वभौम, सर्वव्यापक और अनश्वर है। विघटन और नवीनीकरण, स्थायित्व और परिवर्तन, जन्म और मृत्यु, एक ही जीवन के विभिन्न रूप और संगठन हैं। गुप्त हो अथवा अभिव्यक्त, संगठित अथवा प्राथमिक, निर्वतित अथवा विवर्तित जीवन सब-कहीं किसी-न-किसी रूप में विद्यमान है। पौधे, पशु अथवा मनुष्य में उपस्थित जीवन में मूल रूप से कोई अन्तर नहीं है। जन्म, वृद्धि और मृत्यु; पोषण, उत्पादन और बन्ध्यात्व; निद्रा और जागृति शक्ति और अवसाद बचपन से वार्धक्य की ओर जाना और उत्तेजनाओं के प्रति प्रतिक्रिया ऐसे लक्षण हैं जो सब कहीं पाए जाते हैं पौध में जीवन मानस से निम्न

सवेदना से परिपूर्ण स्नायविक शक्ति के रूप में अभिव्यक्त होता है, प्राथमिक, पाश्विक रूपो में वह इच्छाइन्द्रिय अथवा इच्छासंकल्प के रूप में, और विकसित पशु में आत्मचेतन, सवेदना और शक्ति के रूप में तथा मनुष्य में मानसिक संकल्प और ज्ञान के रूप मे अभिव्यक्त होता है।

जीवन के विकास में तीन अवस्थाएँ

श्री अरविन्द के अनुसार जीवन के विकास में तीन अवस्थाएँ हैं : भौतिक जीवन, प्राणात्मक जीवन और मानसिक जीवन; अधिचेतन, चेतन, और आत्मचेतन। निम्नतम रूप में स्पन्दन, पूर्णतया अधिचेतन और पूर्णतया यन्त्रवत् होता है। मध्य की स्थिति मे जीवन प्रतिक्रिया में सशक्त होता है किन्तु अभी भी अधिमानसिक होता है। यह पशु का स्तर है जैसे कि पहला पौधा और भौतिक वस्तुओं का स्तर है। सर्वोच्च स्थिति में, जीवन विकसित होकर मानसिक रूप से प्रत्यक्ष, गम्य, संवेदना के रूप में, चेतन मानसिकता बन जाता है जो इन्द्रिय, मानस और बुद्धि के विकास का आधार है।

प्राथमिक रूप में जीवन विभाजित और अधिचेतन होता है, जोकि भौतिक-शास्त्रियों की भौतिक शक्ति कहा जा सकता है जोकि यन्त्रवत् शक्तियों से नियन्त्रित होती है तथा रूप और परिवेश में अन्तर्क्रिया को निर्धारित करती है। अन्तिम रूप में जीवन सन्तुलन प्राप्त कर लेता है, जोकि चेतन मानस की ओर क्रमश: विकास में बढ़ता जाता है। मध्य की स्थिति में मृत्यु, इच्छा और शक्तिहीनता होते हैं जोकि अस्तित्व के लिए सघर्ष और परिवेश की विजय की ओर ले जाते हैं। तीसरी स्थिति, पहली स्थिति की विरोधी होते हुए भी, वास्तव में उसी का चरम रूपान्तर और परिपूर्ति है। जीवन की पहली स्थिति का उदाहरण अणु है जोकि विघटन की प्रक्रिया का विरोध करता है। किन्तु दूसरी स्थिति में प्राणात्मक अहंकार का भौतिक आधार ढह जाता है और परस्पर परिवर्तन, परस्पर मिश्रण और सत् के सत् से तादात्म्य के रूप में दिखलाई पड़ता है। तृतीय स्थिति में, आत्मपुष्टता परस्पर समायोजन, परिवर्तन और संकलन की ओर ले जाती है। यह मानस के प्रभाव के बढ़ने के कारण है, जिसका नियम, भौतिक जीवन के विरुद्ध, दान से समृद्धि, आत्मत्याग से आत्मसाक्षात्कार है। जीवन के प्रथम सोपान का अधिचेतन संकल्प द्वितीय सोपान पर भूख और इच्छा बन जाता है, जोकि तृतीय सोपान मे और अधिक रूपान्तरित और पुष्ट हो जाते हैं।

जीवन के विभिन्न सोपानों का यह आध्यात्मशास्त्रीय विश्लेषण समाज दर्शन मे श्री अरविन्द के जीवन के लक्ष्य की पुष्टि करता है। संघर्ष, विभाजन, बन्ध्यात्व और अवसाद जीवन के निम्न रूपो के लक्षण हैं किन्तु ये उच्चतर रूपों के लिए अनिवार्य नही है। जीवन का सन्तुलन मृत्यु नहीं है। जन्म, वृद्धि, पोषण और पुनरुत्पादन इत्यादि मानव को पशु अथवा पौधे से भिन्न नहीं बनाते। उसे जो भिन्न बनाते हैं वे हैं मानसिक सकल्प, ज्ञान और प्रेम। ये प्राथमिक अवस्थाओं से विकास के द्वारा मिलते हैं। अस्तु इनमें प्राथमिक अवस्था का निषेध नहीं बल्कि सन्लोप है। इस प्रकार जीवन का लक्ष्य

आध्यात्मिक रूपान्तर है। इसे प्रकृति स्वयं जीवन की तीन क्रमिक अवस्थाओं के माध्यम से मानसिक स्तर की ओर उन्मुक्त होते हुए जीवन के विकास में खोजती है।

मानस

विकास की प्रक्रिया में अगला सोपान मानस है। मानस वह चेतना है जोकि मापती है, सीमा निर्धारित करती है और अविभाज्य पूर्ण से वस्तुओं के रूपों को अलग करती है मानो कि वे एक-दूसरे से पृथक् स्थित हों। वह विश्व की पृष्ठभूमि में वस्तुओं को एक-दूसरे से अलग सोचती, देखती और निर्धारित करती है जोकि उसे अधिकार अथवा सृष्टि के लिए भौतिक तत्त्व की इकाइयों के रूप में दिए गए हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि मानस में अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करने की कोई प्रेरणा नहीं होती। उसमें पूर्ण की ओर एक निरन्तर प्रवृत्ति है। इस प्रकार वह भी एक सोपान मात्र है, विकास में एक अवस्था है जिसकी आन्तरिक प्रवृत्ति आगे बढ़ने की है। अस्तु, मानस विश्लेषण से सन्तुष्ट नहीं होता बल्कि सदैव पूर्ण की उस एकता पर पहुँचने के लिए प्रयत्नशील होता है जिसे उसने स्वयं तोड़ा है। अपने से परे जाने की मानस की इस प्रवृत्ति से यह स्पष्ट होता है कि वह किसी उच्चतर शक्ति के अवरोहण का परिणाम है जिसका उद्देश्य फिर से आरोहण करना है। किन्तु इस आरोहण में चिन्तन की आत्महत्या नहीं होगी बल्कि वह और भी अधिक रूपान्तरित, संकलित और सन्तुष्ट होगा।

अतिमानस

मानस जिस लक्ष्य को खोजता है वह है अतिमानस, यथार्थ प्रत्यय। अतिमानस न तो सार्वभौम मानस है और न सच्चिदानन्द है। वह तो सच्चिदानन्द और विश्व के मध्य एक कड़ी है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "हम उसे अतिमानस अथवा सत्य-चेतना कहते हैं क्योंकि वह मानसिकता से श्रेष्ठतर एक तत्त्व है और बाह्य रूपों तथा प्रपंचात्मक विभाजनों में मानस की तरह नहीं, बल्कि वस्तुओं के मूलभूत सत्य और एकता में अस्तित्व रखता, कार्य करता, और आगे बढ़ता है।"[11] कालातीत और देशातीत से आगे बढ़ने में तथा जो कुछ देश और काल में है उसकी ओर जाने में ज्ञान, संकल्प और चेतना-शक्ति के लिए यह एक तार्किक आवश्यकता है। यह अतिमानस परम्परागत वेदान्त की ब्रह्म चेतना से ऊँचा है। मानव के आरोहण में वह चौथा है और अवरोहण में भी चौथा है। उसमें विचार, संकल्प अथवा शक्ति में कोई संघर्ष नहीं है। अतिमानस स्रष्टा है। वह उत्पन्न करता, पालन करता और बनाए रखता है। वह सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञानी, सर्वोपरि और अन्तरंग ईश्वर है। वह सभी त्रिविधताओं का आधार है। उसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का कोई अन्तर नहीं होता।

मानस से अतिमानस की ओर

किन्तु मानस से अतिमानस की ओर सीधे आरोहण सम्भव नहीं है क्योंकि उनकी प्रकृति में भारी अन्तर है यह आरोहण क्रमश होगा मानस और अतिमानस

के मध्य में श्री अरविन्द ने उच्चतर मानस, प्रकाशमय मानस, बोधमय मानस और अधिमानस दिखलाए हैं। इन स्तरों को अतिमानस से अलग करने के लिए श्री अरविन्द ने उनमें अन्तर करने का भरसक प्रयास किया है।

उच्चतर मानस

मानस के परे उच्चतर मानस है। वह एक अधिक आध्यात्मिक स्पष्टता, एक प्रकाशमान चिन्तनशील मन, आध्यात्मिक प्रत्ययात्मक ज्ञान का मानस है। उच्चतर मानस में हम वस्तुओं को संकलन में नहीं बल्कि समग्रता मे जानते हैं। वह शाश्वत ज्ञान की आत्माभिव्यक्ति है, उसकी सबसे अधिक लाक्षणिक गति एक व्यापक सत्य, सत्य की समग्रता है। उसमें विचार तर्क के रूप से ही नहीं बल्कि आन्तरिक और सहज रूप से सम्बन्धित होते हैं। उच्चतर मानस में विचारात्मक, सकल्पात्मक तथा भावात्मक पहलू होते हैं। अस्तु, वह न केवल ज्ञान को बल्कि जीवन, अनुभूति, संकल्प और क्रियाओं को भी प्रभावित करता है। वह शरीर को भी प्रभावित करता है और उसमें रोग से सहमति के स्थान पर स्वास्थ्य के विचार और संकल्प की स्थापना करता है।

ज्योतिर्मय मानस

उच्चतर मानस का अवरोहण एक अधिक उच्च शक्ति ज्योतिर्मय मानस के अवरोहण के लिए आधार तैयार करता है। "जिस प्रकार उच्चतर मानस विचार और सत्य की शक्ति के द्वारा सत् में एक अधिक उच्च चेतना को ले आता है, उसी प्रकार ज्योतिर्मय मानस एक सत्य दृष्टि और सत्य प्रकाश की अपनी देखने और पकड़ने की शक्ति से एक और भी उच्चतर चेतना को ले आता है।"[12] उच्चतर मानस विचार को रूपान्तरित करता और परिपूर्ण करता है, ज्योतिर्मय मानस दृष्टि को रूपान्तरित और परिपूर्ण करता है। उच्चतर मानस की मन्द प्रक्रिया की तुलना में ज्योतिर्मय मानस तीव्र रूपान्तर का अत्यधिक वेग उत्पन्न करता है। वह एक आध्यात्मिक प्रकाश का मानस, एक प्रकाशमान आन्तरिक वेग और शक्ति है। वह एक अधिक शक्तिशाली और गतिशील संकलन उत्पन्न कर सकता है। वह अनुभूतियों, संवेगों और संकल्प को आध्यात्मिक बनाता है। वह जीवन की गतियों को ऊँचा उठाता है और क्रिया मेपरिवर्तन करता है। उसके रूपान्तरकारी प्रकाश से मानस की सीमाएँ, आलस्य, संकीर्ण चिन्तनशक्ति और सन्देह टूट जाते हैं।

बोधमय मानस

उच्चतर और ज्योतिर्मय मानस दोनों ही अपनी सत्ता के लिए बोधमय मानस पर निर्भर करते हैं। बोधमय मानस चिन्तन अथवा दृष्टि से नहीं बल्कि बोध से काम करता है। वह न केवल मानस को बल्कि जीवन और शरीर को भी रूपान्तरित करता है वह सम्पूण चेतना को बोध की सामग्री मे परिवर्तित कर देता है वह सकल्प,

अनुभूतियों और संवेगों में अपनी प्रकाशमान गति उत्पन्न करता है। वह जीवन और शरीर को सत्य के प्रकाश और सत्य पर आधारित करता है।

अधिमानस

बोधमय मानस के परे अधिमानस है। वह अज्ञान में अतिमानस का प्रतिनिधि है। अतिमानस और अधिमानस को एक रेखा विभाजित करती है किन्तु उसमें स्वतन्त्र यातायात सम्भव है। अधिमानस विकास में दो गोलार्धों के मिलने का स्थल है, परार्ध जिसमें कि सत, चित आनन्द और महत होते हैं तथा अपरार्ध जिसमें मानस, जीवन और जड़तत्त्व है। अधिमानस में अतिमानस की संकलन शक्ति नहीं होती, फिर भी वह समग्र को शामिल करता है। अधिमानस में विभाजन का उद्गम है, फिर भी उसमे यह अभी भी अन्तर्निहित प्रसुप्त एकता पर आधारित है। यहाँ पर संयोजन और सम्बन्ध की विभिन्न शक्तियों और पहलुओं मे समस्त सम्भावनाएं स्वतन्त्र रूप से संगठित की जाती हैं। वह सच्चिदानन्द को असीम सम्भावनाओं की प्रकृति प्रदान करता है, जोकि असंख्य विश्वों में विकसित की जा सकती है अथवा एक ही विश्व में एक साथ फेंकी जा सकती है।

कठोर योजना नहीं

किन्तु यह आध्यात्मिक आरोहण कोई कठोर योजना नही है। प्रत्येक स्तर पर प्रकृति के उच्चतर अंश नवीन चेतना के रूप में अस्थायी रूप से या अपूर्ण रूप से संगठित किए जा सकते हैं, जबकि निम्न सोपान प्रवाह की दशा में हो जब निम्न स्तर उच्चतर के आविर्भाव के लिए और निम्न पर उसके प्रभाव के लिए पर्याप्त रूप से संकलित होता हो तथा निम्न स्तर पूर्णतया संगठित होता हो तो उच्च स्तर अभिव्यक्त होता है। उसकी अवतरित होती हुई शक्ति अपने दबाव के वेग से निम्न को ऊपर उठा लेती है। यह प्रक्रिया संकलन की प्रकृति के कारण और भी जटिल हो जाती है क्योंकि उसमें आरोहण और अवरोहण दोनों की आवश्यकता होती है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "जब तक सब कुछ प्राप्त नहीं किया जा सकता तब तक कुछ भी प्राप्त नही किया जा सकता।"[13]

विकास प्रयोजनमय है

श्री अरविन्द के अनुसार विकास नव्योत्क्रान्त, स्वतन्त्र और प्रयोजनमय है। विकास की प्रगति की बाह्य यान्त्रिकता में एक आध्यात्मिक प्रेरणा अन्तर्निहित है। प्लेटो के समान श्री अरविन्द ने कहा है, "वस्तु जो बनाई जाती है वह सद्वस्तु है जो उसके प्रति आकर्षित है, सम्भूति सत् की ओर, प्रकृति अतिप्रकृति की ओर, चिह्न वस्तुस्वयं की ओर, प्रकृति ईश्वर की ओर आकर्षित है।"[14] विकास की योजना में प्रत्येक अगला सोपान पिछले से अधिक सूक्ष्म और उच्चतर है क्योंकि विकास का कारण सच्चिदानन्द की आत्माभि-व्यक्ति का आनन्द है। विकास के प्रयोजन का यह आध्यात्मशास्त्रीय विश्लेषण श्री अरविन्द के इतिहास दर्शन और मानव जाति के भविष्य के विषय मे उनकी

का आधार है। उन्होंने कहा है, "आनन्द ही अस्तित्व है, आनन्द सृष्टि का रहस्य है, आनन्द जन्म का मूल है, आनन्द अस्तित्व में रहने का कारण है, आनन्द ही जन्म का अन्त है और वह है जिसमें कि सृष्टि समाप्त हो जाती है।"[15] यह आनन्द जड़तत्व में विनाशहीनता, पशु में आत्मसंरक्षण की मूल प्रवृत्ति, और मानव में अमरत्व की भावना है। केवल आध्यात्मिक स्तर पर ही उसे पूरी तरह प्राप्त किया जा सकता है। इस स्तर पर विकसित होने के लिए आरोहण तथा अवरोहण, विकास तथा संकलन दोनों की आवश्यकता है। विकास की यह सर्वांगीण धारणा श्री अरविन्द के आध्यात्मशास्त्र तथा उनके समाज दर्शन का आधार है।

कर्म का सिद्धान्त

विकास के सिद्धान्त के समान श्री अरविन्द की कर्म के सिद्धान्त और पुनर्जन्म की धारणा भी विकास में निरन्तरता के सिद्धान्त पर आधारित है। न केवल क्रियाएँ बल्कि विचार और अनुभूतियाँ भी अपने अनुरूप प्रभाव और परिणाम दिखलाते है। कर्म का यह नियम आत्मा की स्वतन्त्रता में बाधा नहीं है, बल्कि वह विकास का एक साधन है। फिर, यह नियम केवल निम्न स्तरों पर ही यन्त्रवत् काम करता है। आत्मा न तो स्वच्छन्द और न यन्त्रवत् है। वह स्वयं अपनी स्वामी है, किन्तु वह आत्माभिव्यक्ति के अपने नियमों का सहज ही पालन करती है। इस अर्थ में ही श्री अरविन्द ने कर्म के नियम की व्याख्या की है।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त

इस प्रकार पुनर्जन्म कर्म के नियम से नही बल्कि आत्मा की अपनी प्रकृति से निर्धारित होता है। "जिसका अन्त नहीं है उसका अनिवार्य रूप से कोई आदि भी नही रहा होगा।"[16] आध्यात्मिक विकास को साकार करने के लिए पुनर्जन्म एक अनिवार्य साधन है। जीवन सोपानों के क्रम में एक स्थिति मात्र है जिसके माध्यम से विश्व मे आत्मा अपने प्रयोजन को क्रमशः प्राप्त करता है। श्री अरविन्द के अनुसार, "आत्मा मानसिक मानवीयता के सूत्र से बँधा हुआ नहीं है, वह उसके साथ उत्पन्न नहीं हुआ और उसके साथ समाप्त नहीं होगा। उसका एक मानव-पूर्व भूत था, उसका एक मानव से परे भविष्य है।"[17] कर्म और पुनर्जन्म का आध्यात्मशास्त्रीय सिद्धान्त समाज दर्शन में श्री अरविन्द के आशावाद का आधार है।

अशुभ, असत्य, भूल और कष्ट

इस प्रकार अशुभ, असत्य, भूल और कष्ट केवल अस्थायी दशाएँ हैं। वे मनुष्य के लिए आवश्यक नहीं हैं जोकि एक मानसिक प्राणी से अधिक है। जैसे ही मनुष्य अपने वर्तमान स्तर का अतिक्रमण करेगा, ये समाप्त हो जाएँगी। इस प्रकार आत्मा विरोधियों मे होकर और उनके माध्यम से विकसित होता है यही इन प्रपंचों का प्रयोजन भी है ये इस

प्रयोजन को पूरा करते हैं और आध्यात्मिक स्तर पर अन्तर्ध्यान हो जाते हैं क्योंकि, "अज्ञान में विकसित होने वाली एक सीमित चेतना भूल का स्रोत है, सीमा से व्यक्तिगत मोह और उसमें उत्पन्न भूल असत्य का स्रोत है, जीवन के अहंकार से अनुशासित एक मिथ्या चेतना अशुभ का स्रोत है।"[18] आध्यात्मशास्त्र में अशुभ, असत्य, भूल और कष्ट की यह धारणा ही समाज दर्शन में श्री अरविन्द के अदम्य आशावाद का ठोस आधार है।

4

सामाजिक विकास का मनोवैज्ञानिक आधार : मानव-प्रकृति की संरचना और गतिशास्त्र

"मानव-जीवन की समस्त समस्याएँ हमारे अस्तित्व की जटिलता, उसके मूलभूत तत्त्व की अस्पष्टता और गुह्यतम शक्ति की रहस्यात्मकता से उत्पन्न होती हैं जोकि उसका निर्णय करती हैं और उसके प्रयोजन तथा प्रक्रियाओं का प्रशासन करती हैं।"[1]
—श्री अरविन्द

आदर्श से हटकर तथ्यों का कोई अर्थ नहीं होता। तथ्यों में आधार के बिना आदर्श कोरी इच्छाजनित कल्पनाएँ हैं। यद्यपि वे तथ्य से निगमित नहीं होते किन्तु सद्-वस्तु के मूर्त्त समग्र में आदर्शों का तथ्यों से संकलन होना चाहिए। मानव-जाति के सामाजिक आदर्शों को पता लगाने और उनकी कसौटी से मानव-सम्बन्धों की प्रामाणिकता को आंकने के प्रयास में समाज दर्शन को मानव-प्रकृति के ठोस ज्ञान पर आधारित होना चाहिए। किन्तु मानव-प्रकृति के तथ्यों की खोज समाज दर्शन के क्षेत्र में नहीं आती। तथ्यों की खोज विज्ञान का कार्य है। दर्शनशास्त्र इन तथ्यों का परस्पर और इनका मूल्यों से समायोजन करता है। मानव-प्रकृति मे पूरी तरह खोज किसी एक अकेले विज्ञान के द्वारा नहीं की जा सकती क्योंकि मानव की जटिल प्रकृति किसी एक प्रणाली में समेटी नही जा सकती। मनुष्य भौतिक, मानसिक और चैत्य स्तरों के साथ-साथ आध्यात्मिक सार की एक जटिलता है। अस्तु, समाज दर्शन अपने तथ्यों को शरीरशास्त्र, जीवशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, मानवशास्त्र और अन्त में योग से एकत्रित करेगा। इनमें से आखिरी को छोड़कर अन्य सभी समाज दार्शनिकों के द्वारा मूल्यवान माने जा चुके है यद्यपि किसी ने भी उनके आधार पर एक संकलित दृष्टिकोण देने का प्रयास नहीं किया है। इसका कारण यह है कि इन सामाजिक विज्ञानों का उपयुक्त रूप में विकास अपेक्षाकृत नवीन है और क्योंकि मानव की सामाजिक समस्याओं के विवेचन में सर्वांग दृष्टिकोण का अभाव रहा है। मानव-प्रकृति का गतिशास्त्र समाज दर्शन की सफलता का आधार है। इस गतिशास्त्र को केवल व्यक्तित्व मनोविज्ञान, सामाजिक संरचनाशास्त्र और सांस्कृतिक म के क्षत्रों में काम करने वाले के परस्पर सहयोग से

ही समझा जा सकता है। मनोविज्ञान व्यक्ति का अध्ययन करता है, समाजशास्त्र समाज का अध्ययन करता है, मानवशास्त्र संस्कृति का अध्ययन है। मनुष्य को व्यक्ति, समाज और संस्कृति के परस्पर सम्बन्धों में समझने के लिए इन तीनों विज्ञानों को एक सामान्य भूमि पर मिलना चाहिए।

गत्यात्मक दृष्टिकोण

विभिन्न विज्ञानों के निष्कर्षों का यह संयोजन केवल जोड़ या समझौता मात्र नहीं होना चाहिए। मानव-प्रकृति स्थायी अथवा गतिहीन नहीं है, वह असंख्य सम्भावनाओं सहित गतिशील है। केवल एक संकलित आध्यात्मिक दृष्टिकोण से ही मानव-प्रकृति की गतिशील धारणा प्राप्त की जा सकती है। यह गतिशील दृष्टिकोण मनुष्य को न केवल क्षैतिज बल्कि लम्बवत्, न केवल सतह पर बल्कि गहराइयों में भी, न केवल उसके वर्तमान रूपों में बल्कि उसके भूत के पहलुओं और भविष्य की दृष्टि में भी देखेगा। समाज दर्शन मानव-प्रकृति के अनिवार्य सार पर आधारित होना चाहिए, किन्तु वह इस सार के गतिहीन और गतिशील दोनों पहलुओं, उसकी सीमाओं और सम्भावनाओं दोनों पर ही आधारित होना चाहिए।

संस्कृति का प्रभाव

मानव और संस्कृति की अन्तर्क्रिया एक द्विमुखी सम्बन्ध है। भिन्न-भिन्न सस्कृतियों में अलग-अलग मानव-व्यक्तित्व पाया जाता है। केवल इस अथवा उस समाज के दर्शन के रूप में नहीं बल्कि सामान्य समाज के दर्शन के रूप मे, समाज दर्शन का सरोकार सभी समाजों में मनुष्यों में, समान रूप से पाई जाने वाली सामान्य मानव-प्रकृति से है। कुछ विशिष्ट समाज दर्शन हो सकते हैं और उनका अपना महत्त्व है किन्तु एक सामान्य समाज दर्शन की सम्भावना इस तथ्य से दिखाई पड़ती है कि व्यापक रूप से मानव-प्रकृति में कोई परिवर्तन नहीं होता। यह सामान्य समाज दर्शन विशिष्ट परिस्थितियों में विशिष्ट समाज दर्शनों से कम लाभदायक हो सकता है, परन्तु सभी विशिष्ट प्रयासों मे निर्देशक के रूप में वह सदैव आवश्यक है, क्योंकि उसके निकट पहुँचकर के ही ये सब सन्तोष प्राप्त करते हैं। वैयक्तिकता की परिपूर्ति संकीर्ण एकाग्रता में नहीं बल्कि विश्वजनीनता और परात्परता में होती है। प्रस्तुत पुस्तक में विशिष्ट समाज दर्शन की नहीं बल्कि इसी सामान्य समाज दर्शन की रूपरेखा दी गई है। ऐसा समाज दर्शन एक ही साथ सभी विशिष्ट सिद्धान्तों का समन्वय करता है और उनके परे भी जाता है। वह मानव-प्रकृति के सार्वभौम सत्यों पर आधारित होना चाहिए। मनुष्य मे, जहाँ तक वह संस्कृति से प्रभावित है, दो तत्त्व होते हैं, एक वह जिसमें वे पहलू शामिल हैं जोकि एक विशिष्ट संस्कृति के विशिष्ट लक्षण हैं, दूसरा वह जिसमें कि वे पहलू आते हैं जोकि सभी संस्कृतियों में पाए जाने वाले सामान्य लक्षणों से सम्बन्धित हैं। व्यक्तित्व का यह दूसरा पहलू मानव-प्रकृति के लिए आवश्यक है यद्यपि एक संस्कृति मे रहने के कारण दूसरा विशिष्ट पहलू भी सब-कहीं उपस्थित दिखलाई पड़ता है

अप्राप्त कड़ियाँ

जीवशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र और मानवशास्त्र के तथ्यों का एक समायोजन भी मानव-प्रकृति का एक पूर्ण चित्र उपस्थित नहीं करता क्योंकि उनमें समायोजन के कारकों को जोड़ने वाली कड़ी का अभाव है। मानव-प्रकृति का एक सम्पूर्ण चित्र उपस्थित करने के लिए केवल सतही चित्र की नहीं बल्कि यथार्थ रूप की आवश्यकता है। इसके लिए आत्मा, आन्तरिक व्यक्ति, यथार्थ व्यक्तित्व, मानव-व्यक्तित्व को जोड़ने वाले अज्ञात तत्त्व में खोज की जानी चाहिए ताकि मानव-प्राणियों में संकलनकारी कारक को पकड़ा जा सके। ज्ञान में इस अभाव का मूल वैज्ञानिक प्रणालियों की सीमाओं में है। वैज्ञानिक प्रणालियाँ परोक्ष, विश्लेषणात्मक, अप्रत्यक्ष और सीमित होती हैं। अस्तु, विज्ञान आत्मा को नहीं जान सकता। इस आन्तरिक सद्वस्तु की खोज कला, नैतिकता और धर्म के माध्यम से की जाती है। इस आन्तरिक सद्वस्तु को केवल अपरोक्ष रूप से ही जाना जा सकता है। इस प्रकार की अपरोक्ष प्रणाली के अभाव में मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्री मानव की जटिल प्रकृति के संकलनकारी तत्त्व की खोज में व्यर्थ भटकते रहे हैं। इन सब विज्ञानों ने मानव-प्रकृति का एक क्षैतिज सर्वेक्षण उपस्थित किया है। गहराई के मनोविज्ञान में फ्रायड, युंग तथा अन्य मनोवैज्ञानिकों के अनुसन्धानों ने मानव-प्रकृति की गहराइयों में जाने का प्रयास किया है और भावी अनुसन्धान के लिए महत्त्वपूर्ण सामग्री एकत्रित की है। किन्तु इस क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए परम्परागत वैज्ञानिक प्रणालियाँ पर्याप्त नहीं हैं।

मानव-प्रकृति की सर्वांग झांकी

आन्तरिक रहस्य के साक्षात्कार की एक प्रत्यक्ष प्रणाली के द्वारा ही मानव-प्रकृति की सर्वांग झांकी सम्भव है। जैसाकि पीछे द्वितीय अध्याय में दिखलाया गया है, श्री अरविन्द का योग ऐसी ही एक प्रणाली है। केवल योग के द्वारा ही मानव-व्यक्तित्व के उस अज्ञात तत्त्व को जाना जा सकता है, पहचाना जा सकता है, पकड़ा जा सकता है और साक्षात्कार किया जा सकता है, जिसको मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय और मानवशास्त्रीय सूत्र नहीं पकड़ पाते। यहीं पर मानव-व्यक्तित्व के यथार्थ गतिशील स्रोतों को पकड़ा जा सकता है और मानव-व्यक्तित्व के संकलन और रूपान्तर तथा उसकी असीम सम्भावनाओं के साक्षात्कार के लिए उसका उपयोग किया जा सकता है। यहीं पर मानव-प्रकृति का सार्वभौम रहस्य पता चलता है। अस्तु, यही ज्ञान किसी भी स्वनामधन्य समाज दर्शन का उपयुक्त आधार हो सकता है।

गार्डनर मर्फी के निष्कर्ष

व्यक्तित्व पर अपने विशाल ग्रन्थ में गार्डनर मर्फी ने, मानव-व्यक्तित्व के विषय में सभी मनोवैज्ञानिक खोजों का सर्वेक्षण करते हुए, यह निष्कर्ष निकाला है, "व्यक्तित्व का मनोविज्ञान जैसाकि वह आजकल पाया जाता है नष्ट हो जाएगा और पिस जाएगा और उसके ढर में स एक नवीन सृष्टि होगी जोकि उसकी की बौद्धिकता में

नहीं बल्कि इस बात पर आधारित होगी कि मनुष्य की समस्याओं को सुलझाने में उसको तराजू में मापा गया और वह कम पाया गया।"[2] इस प्रकार मनोविज्ञान के सिद्धान्त वे सीमाएँ दिखलाते हैं जिनके परे सामान्यीकरण नहीं किए जा सकते। मनोविज्ञान के समकालीन सम्प्रदायों का जन्म प्रतिक्रियाओं से हुआ था। मनोविज्ञान मानव की प्रकृति और विश्व में उसके स्थान से अनभिज्ञ है। मर्फी के शब्दों में, "न तो हम मानव को, न ही विश्व को, न ही विश्व से उसके सम्बन्ध को जानते हैं।"[3] मनोविज्ञान में क्षेत्र सिद्धान्त ने निःसन्देह अनेक उपयुक्त सुझाव दिए हैं जैसे कि परिवेश में व्यक्ति का घुल जाना, किन्तु व्यक्तियों का परस्पर घुलना पर्याप्त रूप से नहीं खोजा गया है। मानव-अनुभव और आचार के निर्वैयक्तिक और अतिवैयक्तिक पहलुओं की व्याख्या इस परिकल्पना के आधार पर नहीं की जा सकती। गहरी 'अन्तर्वैयक्तिक एकता' जोकि 'मानवीय विश्व एकता' का एक पहलू है, उसके अनेक पक्षों में अभी कोई खोज नहीं की गई है। वर्तमान वैयक्तिकता के तनाव का सन्तुलन करने के लिए मर्फी ने एक 'अवैयक्तिक अथवा अतिवैयक्तिक' प्रकार के अनुभव की आवश्यकता पर जोर दिया। जैव-रासायनिक व्यवस्था के अतिरिक्त उसके अन्य अनेक आयामों के ज्ञान के पश्चात् ही मनुष्य के 'विश्व देश-काल संयोजकों' को जाना जा सकता है।

नई प्रणाली की आवश्यकता

अस्तु, मर्फी मानव-व्यक्तित्व में एक नए दृष्टिकोण की आवश्यकता पर जोर देते हैं। अन्य मनोवैज्ञानिकों, समाजशास्त्रियों और धार्मिक व्यक्तियों ने भी इस दृष्टिकोण का समर्थन किया है। मर्फी ने लिखा है, "व्यक्तित्व के एक भावी मनोविज्ञान मे निश्चय ही मनुष्य की विश्व से प्रतिक्रिया के प्रश्न, उसकी उससे एकता की भावना, उसकी उस पर सौन्दर्यात्मक माँगों की प्रकृति और उसकी अकेलेपन की अनुभूति तथा उसके चिन्तन मे परिसमाप्ति से निबटने के लिए एक प्रत्यक्ष प्रणाली को स्थान देना पड़ेगा।"[4] "व्यक्तित्व की ओर यह दृष्टिकोण सावधानीपूर्वक और नम्रतापूर्वक विभेद और संकलन के विशेष सन्दर्भ में विश्व-विकास और मानव-विकास की समानताओं पर ध्यान देगा, वह मानव-विकास के विशिष्ट चरित्र पर ध्यान देगा और उन पहलुओं पर ध्यान देगा जिनमें कि पराजननिक वृद्धि जीवों के और निर्जीव विकास के लाक्षणिक प्रकारों से भिन्न होता है।"[5] यह एक दिलचस्प बात है कि मर्फी के ग्रन्थ से लगभग दो दशक पूर्व श्री अरविन्द ने मानव-व्यक्तित्व के एक ऐसे मनोविज्ञान का विकास किया था जोकि न केवल आश्चर्यजनक रूप से मर्फी के विचारों से मिलता-जुलता है बल्कि साथ ही मनुष्य के भावी विकास, उसके वर्तमान संकट के सुलझाव, उसके भूतकालीन इतिहास की व्याख्या और इस पृथ्वी पर स्वर्ग के राज्य की स्थापना के लिए व्यावहारिक सुझाव भी देता है। यह योग मनोविज्ञान है।

श्री अरविन्द का सर्वांग मनोविज्ञान

इस प्रकार श्री अरविन्द ने एक सर्वांग मनोविज्ञान उपस्थित किया है जोकि मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, मानवशास्त्र और जीवशास्त्र के मानव-व्यक्तित्व के अध्ययनों मे अप्राप्त कड़ियों की पूर्ति करता है। इसे भारी प्रयासों और सर्वांग योग की प्रविधि में सतत उन्नति के द्वारा विकसित किया गया है। श्री अरविन्द के अनुसार मनुष्य विभु में अणु है। "समाज केवल व्यक्ति का व्यापक आकार है।"[6] वैयक्तिकता, सार्वभौमिकता और परात्परता मानव-व्यक्तित्व के तीन पहलू हैं। इस प्रकार मानव-व्यक्तित्व की यौगिक धारणा में मानव-अनुभव के अवैयक्तिक और अतिवैयक्तिक, सार्वभौमिक और परात्पर पहलुओं पर जोर दिया गया है।

मानव और पशु

मनोविज्ञान, जीवशास्त्र और अन्य विज्ञानों द्वारा खोजे गए मानव और पशु के अन्तर में यौगिक मनोविज्ञान नवीन सामग्री जोड़ता है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "प्रकृति मे मानसिक प्राणी, मनुष्य, उसके अन्य कम-विकसित जीवों से वैयक्तिकता की अधिक बड़ी शक्ति, मानसिक चेतना की मुक्ति के कारण विशिष्ट है जोकि उसे स्वयं अपने को और अपने सत् के नियम को तथा अपने विकास को समझने के अधिक योग्य बनाती है, वह मानसिक संकल्प की मुक्ति से विशिष्ट है जोकि उसे सार्वभौम संकल्प के रहस्यमय नियन्त्रण के आधीन अपने विकास की सामग्रियों और रेखाओं को अधिकाधिक व्यवस्थित बनाने और अन्त में अपने से परे जाने, अपनी मानसिकता से परे जाने तथा अपनी चेतना को उस तत्त्व में खोलने की ओर ले जाती है जिससे मानस, जीवन और शरीर निकलते है।"[7] इस प्रकार मनुष्य न केवल अपनी श्रेष्ठ योग्यताओं के द्वारा वल्कि विश्व-शक्तियो की ओर उन्मुक्त होने की अपनी असीम सम्भावनाओं के द्वारा भी पशु से विशिष्ट है। मनुष्य में एक ऐसा तत्त्व है जोकि उसके भौतिक, प्राणात्मक और मानसिक सत् का अतिक्रमण करता है। वह इन समस्त स्तरों का अतिक्रमण करके इस तत्त्व पर पहुँच सकता है।

सार्वभौम और परात्पर क्षेत्र

योग मानव-चेतना की गहराइयों में उतरता है। वह न केवल मानव-व्यक्तित्व के देश-काल में समान रूपों का पता लगाता है बल्कि उसे एक अवैयक्तिक तथा अतिवैयक्तिक अनुभव भी देता है। श्री अरविन्द के अनुसार मनुष्य एक असीम, अवैयक्तिक तथा अति-वैयक्तिक क्षेत्र में एक बिन्दु है। "व्यक्ति समस्त विश्व-चेतना का एक केन्द्र है।"[8] अति-वैयक्तिक और अवैयक्तिक क्षेत्र लेवीन के क्षेत्र सिद्धान्त से भी अधिक व्यापक है। वह मनुष्य पर लगातार क्रिया-प्रतिक्रिया करता रहता है और सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेशों के साथ-साथ उसके व्यक्तित्व का निर्माण करता है। जैसाकि श्री अरविन्द ने कहा है, "हमारे कार्यों का स्वामी और चालक एक, सार्वभौम और परम, शाश्वत और असीम तत्त्व है—जो कुछ है वह है और वह जो है उससे कहीं अधिक है और हम स्वय यद्यपि हम यह

नहीं जानते उसके सत् के सत् हैं, उसकी शक्ति की शक्ति है, उससे मिली हुई चेतना से चेतन हैं; हमारा मर्त्य अस्तित्व भी उसके तत्त्व से बना है और हमारे अन्दर एक अमर तत्त्व है जोकि उस प्रकाश और आनन्द की एक किरण है जो उसमें सदैव रहते है।"[9]

मनुष्य और विश्व की अनिवार्य प्रकृति में खोज के द्वारा उपरोक्त सत्य की स्थापना की गई है। एक गहरी आत्मप्रतीति, विश्व से एक चेतन एकता, और अतिमानस में अतिक्रमण के द्वारा उसका साक्षात्कार किया गया है। केवल मानव ही उसे अपनी आत्मा में प्राप्त कर सकता है, यद्यपि विश्व और परात्पर तत्त्व की सहायता के बिना यह कार्य सम्भव नहीं है। किन्तु यह सहायता तुरन्त मिलती है जब मनुष्य अपनी अन्तरात्मा मे उतरता है जोकि प्रकृति और दैवी तत्त्व से जुड़ी हुई है। समकालीन मनोविज्ञान विश्व से मानव के इस सम्बन्ध में खोज की अवहेलना करता है। यौगिक मनोविज्ञान के अनुसार, मानव-व्यक्तित्व की व्याख्या एक प्रक्रिया के रूप में की जानी चाहिए जिसकी कि जैव-रासायनिक अथवा मनोसामाजिक व्यवस्था केवल एक पहलू मात्र है। दैवी तत्त्व से एकता का अनुभव सभी देशों में और सभी कालों में रहस्यवादियों द्वारा किया गया है। मानव-प्रकृति उसके संकलन और विघटन में तब तक नहीं समझी जा सकती जब तक कि हम यौगिक अनुभव का अर्थ नहीं समझते।

यौगिक मनोविज्ञान की प्रामाणिकता

चिकित्सात्मक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में मानव-व्यक्तित्व पर हुई खोजों ने आत्मा की धारणा के रूप में मानव-व्यक्तित्व की सामग्री को व्यवस्थित करने का औचित्य निर्धारित किया है। इस आत्मा का विस्तार करने का अनुभव ताकि उसमें अन्य व्यक्ति भी शामिल हो जाएँ, उसका समर्थन न केवल धर्म और योग बल्कि समूह मनोविज्ञान के द्वारा भी किया गया है। यह एक मान्य तथ्य है कि सामूहिक प्रयास में सक्रिय रूप से भाग लेने में, व्यक्ति सामूहिक चेतना में स्वयं को खो देता है। यदि यह सम्भव है, तब आत्मा का और अधिक विस्तार केवल अंशों की बात है। यौगिक मनोविज्ञान की प्रामाणिकता केवल अनुभव में नहीं बल्कि व्यावहारिक परिणामों में भी है। वह शक्ति, प्रकाश तथा मानव के लिए ज्ञान की असीम नवीन सम्भावनाएँ उन्मुक्त करती है। वह आत्मा के कार्य-भाग और गतिशीलता को अधिक अच्छी तरह समझने के योग्य बनाती है। वह मानव-प्रकृति के उस पहलू को स्पष्ट करती है जो मनोविज्ञान, जीवशास्त्र, मानवशास्त्र, समाज-शास्त्र तथा मानव-प्रकृति के विषय में अन्य विज्ञानों की प्रणालियों में नहीं आ सका है। वह न केवल विश्वगत और परात्पर शक्तियों का वर्णन करती है बल्कि इन शक्तियों पर अधिकार करने की एक सम्पूर्ण प्रविधि का भी विकास करती है जिससे पृथ्वी पर आध्यात्मिक समाज की स्थापना हो सके। अब इस यौगिक मनोविज्ञान के द्वारा की गई कुछ खोजों का विवेचन किया जाएगा।

कारण पुरुष

मनोविज्ञान तथा उसके सहयोगी विज्ञानों ने मानव के विषय में अब तक भौतिक और मानसिक क्षेत्र में खोजें की है। योग, "एक तीसरे परम और अतिमानसिक सत् के दैवी आधार को मानता है जिसे कारण शरीर कहा जाता है।"[10] इस कारण शरीर मे ज्ञान और आनन्द के लक्षण होते है। यह ज्ञान शुद्ध, आत्मस्थित और मानसिक ज्ञान के विरुद्ध स्वयं प्रकाशित सत्य है। यह आनन्द एक आत्मानन्द है जो एक परात्पर और असीम सत्ता की प्रकृति और सामग्री है। यह कारण शरीर भावी विकास का आधार है। यह प्रकृति की प्रक्रिया का रहस्यमय निर्देशक है और विकास का सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है। इस आन्तरिक आत्मा के साक्षात्कार से ही मानस, शरीर तथा मानव-व्यक्तित्व के अन्य पहलू अपनी पूर्णता प्राप्त कर सकते हैं। इस तत्त्व में श्री अरविन्द ने एक ऐसे तत्त्व का पता लगाया है जोकि मनुष्य और विश्व में एक है, जिसमें व्यक्ति और प्रकृति का प्रयोजन समान है और जिसके विकास का नियम प्रकृति में विकास का नियम है। यही मानव-प्रकृति का वह आधार है जिस पर एक ठोस समाज दर्शन आधारित किया जाना चाहिए क्योंकि वह मानव और समाज दोनों की व्याख्या करता है और दोनों को अपने विकास में सम्मिलित कर देता है। इस तत्त्व की अभिव्यक्ति की प्रविधि जोकि श्री अरविन्द का सर्वांग योग है प्रकृति की अपनी प्रक्रियाओं के अनुरूप है। श्री अरविन्द के अनुसार प्रकृति "एक असीम किन्तु सूक्ष्म रूप से चुनाव करने वाली बुद्धिमत्ता" से प्रेरित, "एक विश्वगत शक्ति और स्वयं ईश्वर की कार्य-प्रणाली"[11] है। योग "सार रूप में प्रकृति की कुछ वाहन शक्तियों की विशिष्ट क्रिया या व्यवस्था है।"[12] इस प्रकार आत्मा की खोज मानव और उसके समाज दोनो का समान आदर्श है। यह ऐसा है क्योंकि, जैसाकि श्री अरविन्द ने दिखलाया है, "एक असीम रूप से परिवर्तनशील वस्तुओं में व्याप्त आत्मा अपनी सर्वव्यापकता के प्रत्येक रूप में पूर्णतया अभिव्यक्त होती है; आत्मा, सत् प्रत्येक मे एक ही साथ अनोखा, हमारे समूहों में सामान्य और सभी प्राणियो मे एक है।"[13]

यौगिक मनोविज्ञान की नवीन धारणाएँ

श्री अरविन्द के अनुसार, "आध्यात्मिक और दार्शनिक ज्ञान दोनों के ही लिए शब्दों के प्रयोग में स्पष्ट और सुनिश्चित होना आवश्यक है ताकि विचार और दृष्टिकोण की अस्पष्टता को उनको अभिव्यक्त करने वाले शब्दों की अस्पष्टता से उत्पन्न करने से बचा जाए।"[14] श्री अरविन्द ने अपने यौगिक अनुभव और गहरे अन्तर्दर्शनीय विश्लेषण और निरीक्षण से न केवल एक सम्पूर्ण नया ज्ञान ही विकसित किया है, बल्कि उन्होने सावधानीपूर्वक विभिन्न प्रकार के अनुभवों के अनुरूप सद्वस्तुओं की व्याख्या करने के लिए सर्वथा नवीन शब्दों और प्रत्ययों की उद्‌भावना की है। भौतिक और जैवकीय शब्दो के प्रति अत्यधिक उत्साह के कारण मनोवैज्ञानिकों तथा अन्य वैज्ञानिकों ने बहुधा उनको अत्यधिक भिन्न अनुभवों में लागू करने का प्रयास किया है। इस अतिसाधारणीकरण से विशेषतया गहरी सद्वस्तुओं के विषय में अस्पष्टता उत्पन्न हुई है। प्रत्ययों की अस्पष्टता विचार की की ओर ले जाती है और विचार की से प्रत्ययो में अन्तर

करना कठिन हो जाता है। अस्तु, मानव-ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में प्रत्ययों और वर्गों का स्पष्टीकरण अत्यधिक आवश्यक है, भले ही ये प्रत्यय अनुभव के पूर्ण प्रतिनिधि न हों।

मनुष्य की संरचना

श्री अरविन्द के अनुसार, मनुष्य, "मानस, जीवन और शरीर को व्यक्तिगत एवं सामूहिक अनुभव के लिए तथा विश्व में आत्माभिव्यक्ति के लिए प्रयोग करने वाला एक आत्मा है।"[15] मानव की संरचना में सर्वोच्च आत्मा, जीवात्मा और चैत्य पुरुष, भौतिक, प्राणात्मक, मानसिक, चैत्य और आध्यात्मिक कोष अथवा सूक्ष्म शरीर सम्मिलित हैं जोकि भौतिक शरीर और अहंकार के चारों ओर लिपटे हुए हैं। अहंकार के अतिरिक्त ये सभी पृथ्वी पर आत्मा की अभिव्यक्ति के साधन हैं।

आत्मा

श्री अरविन्द के अनुसार आत्मा दोहरी है। एक सतही इच्छा आत्मा है जोकि प्राणात्मक आग्रहों, संवेगों, सौन्दर्यात्मक प्रवृत्ति और शक्ति, ज्ञान तथा आनन्द की मानसिक खोज को संचालित करती है। चैत्य अस्तित्व के इस बाहरी रूप के परे एक चैत्य तलवर्ती आत्मा है। पहले के विरुद्ध, जोकि मनुष्य के अहंकारमय अस्तित्व का आधार है, यह तल-पुरुष ही वास्तविक वैयक्तिकता है। इसमें ही मनुष्य सार्वभौम सत् के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आता है।

चैत्य पुरुष

यह वास्तविक आत्मा चैत्य पुरुष कहलाता है। वह आत्मा से एक हो जाता है यद्यपि वह एक नहीं है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "चैत्य पुरुष वास्तविक सत्, जीवात्मा से एकता का साक्षात्कार करता है, किन्तु वह उसमें परिवर्तित नहीं हो जाता।"[16] आरम्भ में शरीर, प्राण, और मानस से ढँका हुआ यह चैत्य पुरुष क्रमशः आगे आता है और उन पर शासन करता है। चैत्य पुरुष आन्तरिक सत्, व्यक्तिगत आत्मा है, विश्वात्मा नहीं है। वह मानव में विकासमान तत्त्व है। वह शरीर में जन्म के समय प्रवेश करता है और मृत्यु के समय निकल जाता है। वह आत्मा का वह पहलू है जोकि भौतिक जीवन में प्रवेश करता है। इस चैत्य पुरुष को ही अहंकार के बाह्य केन्द्रीकरण से हटना है और आत्मा में पूर्ण एकता की ओर बढ़ना है। इस प्रकार चैत्य पुरुष आत्मा का एक पहलू मात्र है। दूसरा पहलू वह है जोकि जीवात्मा, परात्पर आत्मा कहलाता है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "आत्मा के दो पहलू हैं और उसके साक्षात्कार का परिणाम इन दोनों पहलुओं के अनुरूप है। एक व्यापक शान्ति, स्वतन्त्रता, निस्तब्धता का आधार है; शान्त आत्मा जोकि किसी भी अनुभव अथवा क्रिया से अप्रभावित रहता है; वह आंशिक रूप से उनको आधार प्रदान करता है परन्तु उनमें उत्पन्न हुआ नहीं प्रतीत होता, बल्कि तटस्थ और उदासीन रूप से पीछे रहता है। दूसरा पहलू गतिशील है और एक विश्वगत आत्मा के रूप में अनुभव होता है जोकि समस्त विश्व क्रिया का आधार और उदगम है—जो न केवल उसका वह अंश है जो हमारे भौतिक आत्माओं से है बल्कि वह भी है जो उससे परे जाता है

यह जगत और अन्य समस्त जगत भी, विश्व के अतिभौतिक और साथ ही भौतिक अंश भी। पुनः हम आत्मा को सबमें एक-सा अनुभव करते हैं; किन्तु हम उसे सबसे ऊपर, परात्पर, सभी व्यक्तिगत जन्म अथवा विश्वगत अस्तित्व के परे भी अनुभव करते हैं।"[17]

जीवात्मा

यह जीवात्मा है, मनुष्य में आत्मा अथवा विश्वात्मा है। यह दैवी तत्त्व का अनेक का पहलू है। यह व्यक्तिगत आत्मा अथवा उत्पन्न हुए सत् का आत्मा के रूप में दैवी तत्त्व की अभिव्यक्ति है।[18] यह आत्मस्थित, शुद्ध, पापहीन, जीवन के तनावों से अप्रभावित, तथा अहंकार और अज्ञान से मुक्त है। यह वह केन्द्रीय तत्व है जोकि चैत्य पुरुष के माध्यम से मानसिक, प्राणात्मक और भौतिक सत् को संगठित रखता है। "जीवात्मा व्यक्तिगत आत्मा, केन्द्रीय पुरुष है।"[19] यह केन्द्रीय पुरुष समस्त चेतना का संकलन करता है। यह चैत्य पुरुष के विकास की अध्यक्षता करता है। यह स्वयं विकसित नहीं होता। यह आत्मा, देश और काल से परे, नाम और रूप के बगैर, लक्षणविहीन, सम्बन्धविहीन, आत्मा में आनन्दित, शुद्ध चेतना, आत्म पर्याप्त अस्तित्व और शुद्ध सत् में शाश्वत सन्तोष पाने वाला है।

पंचकोष

श्री अरविन्द ने पंचकोष के विषय में अधिक विस्तार से नहीं लिखा है क्योंकि यह हिन्दू दर्शन का एक जाना-माना सिद्धान्त है। किन्तु श्री अरविन्द ने उसके कार्यों को विशेष रूप से स्पष्ट किया है। ये पंचकोष शारीरिक, प्राणात्मक, मानसिक, चैत्य और आध्यात्मिक कोष हैं। इनमें से अन्तिम दो चैत्य पुरुष और आत्मा के अनुरूप हैं जिनकी विवेचना पीछे की जा चुकी है। मनोमय कोष का सम्बन्ध, "चिन्तन और बुद्धि, विचार, मानसिक और विचारात्मक प्रत्यक्षीकरण, वस्तुओं के प्रति विचार की प्रतिक्रिया, वास्तविक मानसिक गतियाँ और संरचनाएँ, मानसिक दृष्टिकोण और संकल्प इत्यादि से सम्बन्धित है जोकि उसकी बुद्धि के अंग हैं।"[20] प्राणमय कोष, "इच्छाओं, संवेदनाओं, अनुभूतियों, क्रिया की शक्तियों, इच्छा के संकल्प, मनुष्य में इच्छा आत्मा की प्रतिक्रियाओं और अधिकारात्मक तथा अन्य सम्बन्धित मूल प्रवृत्तियों की क्रीड़ा जैसे क्रोध, भय, लोभ, वासना इत्यादि से सम्बन्धित है जोकि प्रकृति के इस क्षेत्र में पाए जाते है।"[21]

प्राणात्मक सत् के चार अंग

प्राणात्मक कोष के चार अंग हैं अर्थात् मनोमय प्राण, संवेगात्मक प्राण, केन्द्रीय प्राण और निम्न प्राण। श्री अरविन्द के शब्दों में, "प्राणमय कोष के चार अंग है—पहला, मानसिक प्राण जोकि विचार, वाग् तथा अन्य प्रकार से संवेगों, इच्छाओं, आवेगो, संवेदनाओं तथा प्राणमय पुरुष की अन्य गतियों को मानसिक अभिव्यक्ति देता है, संवेगात्मक प्राण जोकि विभिन्न अनुभूतियों जैसे प्रेम, हर्ष, दुःख, घृणा तथा अन्य आधार है, केन्द्रीय प्राण जोकि अधिक तीव्र प्राणात्मक इच्छाओं जैसे आकांक्षा, गर्व, भय, यश का

प्रेम, आकर्षण और विकर्षण, विभिन्न प्रकार की इच्छाओं और आवेगों तथा विभिन्न प्राणात्मक शक्तियों के क्षेत्र का आधार है; अन्तिम निम्न प्राण जोकि छोटी इच्छाओं और अनुभूतियों से लगा रहता है जोकि हमारे दैनिक जीवन का अधिकतर अंश निर्माण करती है जैसे भोजन की इच्छा, यौनेच्छा, निम्न आकर्षण और विकर्षण, गर्व, संघर्ष, प्रशंसा का प्रेम, दोषारोपण पर क्रोध, सब प्रकार की छोटी-छोटी इच्छाएँ और अन्य प्रकार की असंख्य वस्तुएँ। इनके क्रमशः आधार हैं : (1) गले से हृदय तक का क्षेत्र, (2) हृदय (वह एक दोहरा केन्द्र है जिसका अग्र भाग संवेगात्मक और प्राणात्मक तथा पीछे का भाग चैत्य से सम्बन्धित है), (3) हृदय से नाभि तक, (4) नाभि से नीचे।"[22] इस सूक्ष्म वर्गीकरण की तुलना मनोविज्ञान अथवा अन्य विज्ञानों के ग्रन्थों में मानव-प्रकृति के इस पहलू के किसी भी वर्णन से की जा सकती है। वे वर्णन न केवल प्राण के क्षेत्र में सूक्ष्म अन्तर पहचानने में असफल रहे हैं बल्कि भौतिक, मानसिक और प्राणात्मक में भी अन्तर नहीं कर सके हैं। इन विभिन्न स्तरों की व्याख्या में समरूपता के नियम को आँखें बन्द करके लागू करने से अनेक अस्पष्टताएँ उत्पन्न हुई हैं। इस अन्तर के अभाव को मनुष्य की आन्तरिक संरचना में वैज्ञानिक प्रणालियों को लागू करने के अनेक प्रयासों में देखा जा सकता है।

दोहरे तत्त्व

श्री अरविन्द के अनुसार ये सभी पाँच कोष दोहरे तत्त्व हैं, सतही और आन्तरिक। इस प्रकार एक सतही भौतिक, प्राणात्मक, मानसिक चैत्य और आध्यात्मिक कोष है तथा साथ ही एक आन्तरिक भौतिक, प्राणात्मक, मानसिक, चैत्य और आध्यात्मिक कोष है। बाह्य आध्यात्मिक कोष अहंकार है, आन्तरिक आध्यात्मिक कोष वास्तविक आत्मा है। इस दोहरी आत्मा का विवेचन पीछे किया जा चुका है। फिर, एक सतही मानस और तलवर्ती पुरुष, जीवन और एक तलवर्ती शक्ति, भौतिक शरीर और सूक्ष्म जड़ वस्तुएँ हैं। इस प्रकार, "सतही प्राण संकीर्ण, अज्ञानी, सीमित, अस्पष्ट इच्छाओं से पूर्ण, आवेगों, प्रवृत्तियों, विद्रोहों, सुखों और दुःखों, क्षणभंगुर हर्षों और विषादों, उत्प्रेरणाओं और अवसादों से परिपूर्ण है। सच्चा प्राण पुरुष, दूसरी ओर, विस्तीर्ण, व्यापक, शान्त, सुदृढ़, सीमाहीन, ठोस और स्थिर, सब प्रकार के ज्ञान और सब प्रकार के आनन्द के योग्य है। फिर वह अहंकारविहीन है क्योंकि वह अपने को दैवी तत्त्व का एक प्रक्षेप और साधन मानता है।"[23] "इसी प्रकार एक सच्चा मानसिक सत्, एक सच्चा भौतिक सत् भी है। जब ये अभिव्यक्त होते हैं, तब आप अपने अन्दर एक दोहरा अस्तित्व अनुभव करते हैं; जो पीछे है वह सदैव शान्त और मजबूत है, जो केवल सतह पर है वह परेशान और अस्पष्ट है।"[24]

सात चक्र

श्री अरविन्द के अनुसार ये सूक्ष्म शरीर सात प्रमुख केन्द्र रखते हैं जो चक्र कहलाते हैं ये केन्द्र मेरुदण्ड के मूल में, सूर्य चक्र के ऊपर जिगर में हृदय में गले के अग्र भाग में

भृकुटि के मध्य में और सिर के ऊपरी भाग में स्थित हैं। यह धारणा श्री अरविन्द ने प्राचीन हिन्दू मनोवैज्ञानिकों से ग्रहण की है परन्तु उन्होंने अपने व्यक्तिगत अनुभव मे उसकी परीक्षा की है और उनमें से प्रत्येक के कार्य को स्पष्ट किया है। इस प्रकार मूलाधार चक्र भौतिक स्तर से निम्न अधिचेतन स्तर पर प्रशासन करता है। स्वादिष्ठान चक्र इन्द्रियों की गतियों को चलाता है। मणिपुर चक्र इच्छाओं की व्यापक गतियों पर शासन करता है। अनाहत अथवा हृतपद्म चक्र संवेगों का प्रशासन करता है। विशुद्ध चक्र अभिव्यक्तिपूर्ण और बहिर्मुखी मानस पर शासन करता है। आज्ञा चक्र गतिशील संकल्प, दृष्टि, मानसिक रचना पर शासन करता है; सहस्र दल चक्र उच्च चिन्तनशील मानस पर शासन करता है। इसमें उच्चतर मानस, ज्योतिर्मय मानस और बोधमय मानस शामिल हैं जिनके माध्यम से अधिमानस अन्य से सम्पर्क स्थापित करता है।

चेतना के स्तर

अपने यौगिक अनुभव और विश्लेपण की शक्तियों के द्वारा श्री अरविन्द ने चेतना के स्तरों का वर्गीकरण किया है। चेतन स्तर के अतिरिक्त, श्री अरविन्द अचेतन, अधिचेतन, अतिचेतन और तलवर्ती चेतन का जिक्र करते हैं। इन सबके अपने समानान्तर सार्वभौम पहलू भी है।

अधिचेतन

यौगिक मनोविज्ञान में अधिचेतन फ्रॉयड और युंग द्वारा विश्लेषण किए गए अचेतन को सम्मिलित करता है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "हमारे योग में अधिचेतन से हमारा तात्पर्य हमारे सत् के उस डूबे हुए भाग से है जिसमें कि कोई भी जागृत, चेतन और समीचीन चिन्तन, संकल्प अथवा अनुभूति अथवा संगठित प्रतिक्रिया नहीं होती, परन्तु जोकि फिर भी समस्त वस्तुओं के प्रभावों को प्राप्त करता है और उन्हें वे अपने मे एकत्रित करता है तथा जिससे स्वप्न मे अथवा जागृत अवस्था में सब प्रकार की उत्तेजनाएँ, निरन्तर आदत वाली गतियाँ, स्थूल रूप से पुनरावर्त्तित और ढँके हुए विचित्र आकार आविर्भूत होते हैं।" "अधिचेतन में अदम्य संस्कारों, साहचर्यों, स्थायी धारणाओं, भूतकाल से बनी हुई आदत वाली प्रतिक्रियाओं से भरा हुआ एक अस्पष्ट मानस है, आदतन इच्छाओं, संवेदनाओं और स्नायविक प्रतिक्रियाओं के बीज से भरा हुआ एक अस्पष्ट प्राण तत्त्व है, एक अत्यन्त अस्पष्ट जड़तत्त्व है जोकि उन सबको प्रशासित करता है जोकि हमारे शरीर की दशाओं को निर्धारित करते है।"[25] इस प्रकार फ्रॉयड के अचेतन की तरह, अधिचेतन दमित और तिरस्कृत विचारों और प्रवृत्तियों का भण्डार है। वह मूलप्रवृत्तिजन्य है, मानव में पशु है और समस्त परिवर्तनों का प्रतिरोध करता है। वह स्वप्नों का स्रोत है। उसमें अचेतन आन्तरिक सत् से मिलता है और अपने आकारो को चेतन और तलवर्ती सत् में भेजता है। गहन निद्रा में अधिचेतन निश्चेतन में डूब जाता है

फ्रॉयडीय अचेतन से तुलना

अधिचेतन मानस और चेतन जीवन के स्तर से निम्न है। वह हीन और अस्पष्ट है। उसमें विशुद्ध भौतिक और प्राणात्मक तत्त्व सम्मिलित हैं जोकि मानस के द्वारा न देखे जाते हैं और न ही नियन्त्रित किए जाते हैं। गतिशील किन्तु गूंगी चेतना का आधार इसी क्षेत्र में है। इसी आधार से ही वह सम्पूर्ण शरीर के कोषों और स्नायुओं में कार्य करती है और उनकी जीवन-प्रक्रियाओं, मूल प्रवृत्तियों और सहज क्रियाओं का समायोजन करती है। क्योंकि मनुष्य ने एक मानस का विकास किया है इसलिए वह इस क्षेत्र की सहायता से अब और अधिक काम नहीं करता जोकि वनस्पति और पशु-जीवन का निर्देशक है। परन्तु चूँकि विकास की प्रक्रिया में कोई भी व्यापक अन्तर नहीं है इसलिए मनुष्य में भी पशु और वनस्पति इस अधिचेतन के माध्यम से सम्मिलित हैं जोकि डूबे हुए इन्द्रिय मानस की निम्नतम क्रिया को सम्मिलित करता है और हमारी चेतन प्रकृति के नीचे अस्पष्ट रूप से काम करता रहता है। यही वह क्षेत्र है जिसको जानने की मनोविश्लेषणवादियों ने चेष्टा की है यद्यपि उनकी प्रणालियाँ स्थूल और परोक्ष रही हैं। इस प्रकार यौगिक मनोविज्ञान का अधिचेतन मनोविश्लेषणवादियों का अचेतन नहीं है। परन्तु उसकी क्रिया प्रसुप्त मानसिक आधार के उस क्षेत्र तक फैल जाती है जिसमें कि, जैसाकि फ्रॉयड ने भी स्वीकार किया है, भूतकालीन संस्कार और सतही अहंकार द्वारा दमित सब-कुछ पैठ जाता है और स्वप्नों, सुझावों, बेहोशी, स्वचालित जैविकीय प्रतिक्रिया अथवा प्रवृत्ति, शारीरिक अथवा स्नायविक असामान्यताएँ, लिखने, बोलने अथवा कार्य करने की त्रुटियाँ इत्यादि और विभिन्न प्रकार के क्षोभ, रोग और असन्तुलन अभिव्यक्त होने के लिए संघर्ष करते रहते हैं। फिर भी, यह अधिचेतन चेतन मानस से सदैव युद्ध नहीं करता रहता। जागृत इन्द्रिय मानस और बुद्धि उससे जितना आवश्यक होते हैं उतना लेते हैं। परन्तु जब अधिचेतन प्रवृत्तियाँ, विचार और सुझाव इत्यादि सतह पर ला दिए जाते हैं, तो मानस उनका कार्यकारी मानव इन्द्रिय और बुद्धि के मूल्यों में अनुवाद करता है क्योंकि वह उनकी प्रकृति, उद्गम, प्रक्रिया और मूल्यों से अनभिज्ञ है। इस अधिचेतन का विकास स्वाभाविक, सहज और अवैकल्पिक क्रियाओं के द्वारा होता है। वह एक ऐसी चेतना है जो मनुष्य को विदेशी प्रतीत होती है क्योंकि वह उसके चेतन मानस का अंग नहीं है। वह केवल कुछ असामान्य अनुभवों, सबसे अधिक असामान्य रोगों अथवा सन्तुलन के व्यवधानों में अनुभव होती है।

अधिचेतन का मूल्य

मानव-व्यक्तित्व के संकलन के लिए अधिचेतन अत्यधिक मूल्यवान और महत्त्वपूर्ण है। इससे पहले कि मनुष्य संकलन की ओर जाने की आकांक्षा करे, उसे अधिचेतन को जानना और नियन्त्रित करना चाहिए। वह मानव-प्रकृति के रूपान्तर के लिए अनिवार्य है क्योंकि मनुष्य में पाशविक और नारकीय का क्षेत्र यहीं है। जैसाकि श्री अरविन्द ने संकेत किया है, "वह हम सबमें जो कुछ परिवर्तन का सबसे अधिक नकार करता है, हमारे बुद्धिहीन विचारों की यन्त्रवत पुनरावृत्ति अनुभूति संवेदना प्रवृत्ति अभिवृत्ति की

हमारी लगातार उद्दण्डताएँ, हमारे अनियन्त्रित चरित्र के लक्षण को सबसे अधिक बनाए रखता है और शक्ति प्रदान करता है।"[26]

अधिचेतन को जानने की प्रणाली

फिर भी, अधिचेतन को उसमें प्रत्यक्ष छलाँग लगाकर नहीं जाना जा सकता, क्योंकि वह मनुष्य को असमीचीनता अथवा गहरी निद्रा अथवा बेहोशी में ला देगा। मनोविश्लेषण प्रणाली के समान एक मानसिक खोज या अन्तर्दृष्टि से हमें इन छिपी हुई क्रियाओं में कुछ परोक्ष और कृत्रिम विचार मात्र मिल सकता है। श्री अरविन्द के अनुसार अधिचेतन को प्रत्यक्ष रूप में और समग्र रूप में या तो तलवर्ती चेतना में जाकर अथवा स्वय का इन गहराइयो में विस्तार करके, अथवा अधिचेतन आरोहण के द्वारा और अधिचेतन मे नीचे झाँककर जाना जा सकता है। इस प्रतीति से हमें अधिचेतन पर नियन्त्रण करने की शक्ति मिलेगी, जोकि अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि अधिचेतन ही चेतन बनने के प्रयास मे निश्चेतन है।

तलवर्ती चेतना

यौगिक मनोविज्ञान की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण खोज तलवर्ती चेतना है। यह निवर्तित और विवर्तित चेतना के मिलन की भूमि है। इसमें एक अन्तरंग मानस, एक अन्तरंग प्राण और एक अन्तरंग सूक्ष्म शारीरिक सत् है जोकि मानव के चेतन सत् से अधिक विस्तृत है। तलवर्ती चेतना में सूक्ष्म इन्द्रिय के द्वारा सार्वभौम का प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है। वह समस्त प्रेरणाओं, बोधों, विचारों, संकल्पों, इन्द्रिय सुझावों और क्रियाओं की प्रवृत्तियों तथा मन.पर्याय और दूरदर्शन की शक्तियों का स्रोत है। वह स्वय को विस्तृत कर सकता है और अन्य व्यक्तियों तथा विश्व को प्रत्यक्ष रूप से जान सकता है। वह सूक्ष्म विश्व-शक्तियों की सम्भावित दिशाओं को जान सकता है। वह रहस्यमय परिधिवर्ती चेतन है। वह आत्मा को सर्वांग ज्ञान और सर्वांग रूपान्तर में उसके साधनो को नियन्त्रित करने में सहायता देता है।

बाह्य मानस, मानव की सतही चेतना, अधिकतर एक चुनाव, एक बहिर्मुखी, विकृत अथवा तलवर्ती चेतना का भ्रष्ट संस्करण है। मनुष्य की सतही प्रकृति तलवर्ती चेतना की सहायता से निश्चेतन से विकसित होती है। तलवर्ती चेतना ही निश्चेतन और जीवन तथा मानस के अधिक विस्तृत स्तरों में मध्यस्थता करती है और उसका दबाव जड़तत्त्व मे प्राणतत्त्व और मानस तत्त्व के विकास में सहायक होता है। मनुष्य में भौतिक प्रवृत्तियाँ और सहज क्रियाएँ मानस द्वारा रूपान्तरित इन क्षेत्रों की प्रतिक्रियाएँ ही है, केवल भौतिक प्रतिक्रियाएँ ही नहीं बल्कि मनुष्य की मानसिक और प्राणात्मक स्तरो की अधिकतर क्रियाएँ भी जोकि बाहरी जगत की प्रतिक्रियाएँ नहीं हैं, तलवर्ती चेतना से उत्पन्न होने वाली शक्तियों, प्रभावों और प्रेरणाओं का मिला-जुला रूप बनाती है। मनोवैज्ञानिक लोग अपनी प्रणालियो की प्रकृति के कारण एक ओर तलवर्ती चेतना और

दूसरी ओर मानव-व्यक्तित्व के अतिचेतन पहलू के प्रभावों को निरीक्षण करने में असफल रहे हैं।

परिधिवर्ती चेतना

पुनः, तलवर्ती चेतना ही परिधिवर्ती चेतना है, "एक परिवेष्टित करने वाली चेतना जिसके द्वारा वह हमारे ऊपर विश्वगत मानस, विश्वगत प्राण, विश्वगत सूक्ष्म भौतिक शक्तियों के प्रवाहों और प्रवृत्तियों के आघातों को प्राप्त करता है।"[27] इन प्रभावों को मानस नहीं देख सकता। परन्तु तलवर्ती चेतना इन्हें देखती और मानती है और उन्हें ऐसे प्रकारों में बदल देती है जोकि मानव के अस्तित्व पर अत्यधिक प्रभाव डालते हैं, भले ही उसे इस तथ्य का पता न चल सके। वर्तमान मनोशक्तियों और प्राण की क्रियाओं के स्रोतों को तलवर्ती चेतना में आन्तरिक और बाह्य अस्तित्व के मध्य दीवार को पार करके पता लगाया जा सकता है और नियन्त्रित किया जा सकता है। परन्तु पूर्ण आत्मजागरूकता के लिए मनुष्य को तलवर्ती चेतना में, अन्तरंग जीवन, मानस और आत्मा में रहना पड़ेगा। यह मानव की वर्तमान विकासात्मक स्थिति को पूर्ण कर देगा।

अतिचेतन

परन्तु मनुष्य की वर्तमान स्थिति से आगे विकास तभी सम्भव है जबकि वह अति-चेतन के प्रति चेतन हो जाता है। इस अतिचेतन में अतिमानस और विशुद्ध आध्यात्मिक पुरुष की ऊँचाइयाँ सम्मिलित हैं। श्री अरविन्द के अनुसार चेतन पुरुष अधिचेतन और अतिचेतन के मध्य होता है। यहाँ पर अधिचेतन की क्रिया प्रकाश की ओर लौट जाती है, एक ऐसा बोध जोकि अतिचेतन के प्रामाणिक ज्ञान के रूप में अभिव्यक्त होता है। यह अतिचेतन सर्वोच्च, सबसे गहरा और सबसे व्यापक आत्मा है। यह आध्यात्म तत्त्व, ईश्वर और अधिआत्मा है। यह मनुष्य में दैवी तत्त्व है। यह मानव के जीवन, धर्म, कला, पराविद्या इत्यादि में उच्चतर वस्तुओं का स्रोत है।

अतिमानसिक आरोहण

इस उच्चतर स्तर की ओर प्रगति में पहला अनिवार्य कदम मानव की चेतना शक्ति को उन उच्चतर स्तरों पर ले जाना है जहाँ पर कि वह प्रेरणाएँ, बोध और अभिव्यक्तियाँ ग्रहण करता है। जब मनुष्य उच्चतर मानस, ज्योतिर्मय मानस और बोधमय मानस में आरोहण करता है तो वह अतिमानस के प्रभाव को ग्रहण करता है। परन्तु अति मानसिक चेतना मानव की चेतना के अन्य स्तरों के विस्तार और संकलन के पूर्व अवतरित नहीं होती। इस अतिमानसिक चेतना पर मानवता का आरोहण और इसका पार्थिव प्रकृति पर अवरोहण ही मानव-इतिहास की प्रक्रिया में प्रकृति का रहस्यमय प्रयोजन है। यही वह आदर्श है जो श्री अरविन्द का समाज दर्शन उपस्थित करता है। इस अतिमानसिक चेतना का एक अधिक विस्तृत विवरण 'योग' तथा 'मानव का भविष्य' नामक अध्यायों में आगे दिया जाएगा

5

इतिहास दर्शन

> "मानवता के लिए नियम मानव-प्रकारों में दिव्य तत्त्व को प्राप्त करने और अभिव्यक्त करने के लिए ऊर्ध्वोन्मुख विकास का साधन करना, मुक्त विकास का पूर्ण लाभ लेते हुए सभी व्यक्तियों और राष्ट्रों एवं मानवों के समूहों के लाभों को उस दिन की ओर काम करने के लिए लगाना है जबकि मानव मात्र न केवल आदर्श में वल्कि वास्तविकता में एक दैवी परिवार बन जाए, परन्तु तब भी जबकि वह अपने को एक करने में सफल हो गई है, अपने व्यक्तियों और संगठक समष्टियों का उनकी स्वतन्त्र वृद्धि और क्रिया के द्वारा सम्मान करना, सहायता करना और सहायता पाना है।"[1]
>
> —श्री अरविन्द

समाज दर्शन को मानव-इतिहास की प्रगति के अर्थ पर विचार करना चाहिए क्योंकि वह उसे मानव-जाति के लक्ष्य, उसकी भावी सम्भावनाओं और सामाजिक विकास के चक्र में काम करने वाली आन्तरिक प्रेरणा में अन्तर्दृष्टि प्रदान करेगा। सामाजिक विकास के वर्तुल के पीछे काम करने वाली मनोवैज्ञानिक शक्तियाँ बहुधा इतनी उलझी हुई और जटिल होती हैं कि कोई भी कठोर विश्लेषण कठिन हो जाता है। इतिहास दार्शनिकों ने बहुधा उनकी अवहेलना की है। सामाजिक विकास की प्रक्रिया की इस प्रकार की सभी व्याख्याओं के अन्तर्गत मौलिक भूल आन्तरिक की बाह्य से व्याख्या करना है। उनका दृष्टिकोण शायद ही कहीं सच्चे अर्थों में दार्शनिक रहा हो। वह सामान्यतया आर्थिक, राजनीतिक अथवा अन्य परिप्रेक्ष्यों पर आधारित रहा है। अर्थशास्त्री समस्त प्रक्रिया को अस्तित्व के लिए संघर्ष से व्याख्या करने का प्रयास करता है और राजनीतिज्ञ सत्ता के सन्तुलन के शब्दों में उसे समझाता है। साधारणतया मानव-प्रगति का मूल्यांकन कानूनों, रीति-रिवाजों, आर्थिक और भौतिक कल्याण अथवा अधिक-से-अधिक बाह्य सम्बन्धों के संगठन के रूप में किया गया है। मनोवैज्ञानिकों तक ने बहुधा विभिन्न घटनाओं की शारीरिक व्याख्या की है। पुन:, अनेक इतिहास दार्शनिकों ने सतह पर काम करने वाली भौतिक शक्तियों के द्वारा इतिहास की व्याख्या की है और व्यक्ति के कार्यभाग को घटाकर न्यूनतम कर दिया है। जहाँ कहीं परदे के पीछे झांकने के कुछ प्रयास हुए भी हैं, वहाँ भी मनोवैज्ञानिक शक्तियों में अन्तर्दृष्टि स्वदव आर्थिक और राजनीतिक शक्तियों के

इतिहास की एक मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। उनके इतिहास दर्शन में, उनका दृष्टिकोण ठोस रूप से सामाजिक विकास के समस्त सोपानों में काम करने वाले सर्वांग तत्व पर आधारित है, क्योंकि यही सर्वांग तत्त्व समाज दार्शनिक की खोज और ज्ञान का विषय है और इसी के माध्यम से वह मानव-जाति का पुनरुत्थान करना चाहता है।

सामाजिक विकास के चक्र में सोपान

जर्मन विचारक लैम्प्रैक्ट के समान श्री अरविन्द ने सामाजिक विकास के चक्र मे प्रतीकात्मक, प्रकारात्मक, परम्परागत, व्यक्तिगत और आत्मगत सोपान माने है। उनके अनुसार विकास की प्रक्रिया सीधी रेखा में न होकर, जैसी कि वह उन्नीसवी शताब्दी के इतिहास दार्शनिकों के लिए थी, वर्तुलाकार है। वह लैम्प्रैक्ट द्वारा सुझाए गए नामों को ग्रहण करते हैं। किन्तु यह समानता यहीं समाप्त हो जाती है क्योंकि उन्होंने सदैव अपनी दृष्टि मानव और समाज की विविध और जटिल प्रकृति पर रखी है। जैसाकि उन्होंने कहा है, "एक निरन्तर खोज और मस्तिष्क में नवीन रूप ग्रहण तथा व्यापक समन्वय से विस्तृत होते हुए सत्य जिसका कि पहले पता नहीं लगा है और न जिसे समझा जा सका है उसके कारण गहरे अंगों में शक्तिशाली पुर्नर्निर्माण उस आत्मा की हमारी भूतकालीन सम्प्राप्ति के विषय में प्रणाली है जबकि वह भविष्य की महानता की ओर बढ़ता है।"[2]

प्रतीकात्मक युग

मानव-समाज के आदिम आरम्भ में श्री अरविन्द के अनुसार सबसे पहला सोपान प्रतीकात्मक सोपान है। यह सोपान सदैव कल्पनाशील रूप से धार्मिक रहा है। यह वह है जिसको फ्रॉयड तथा अन्य मनोवैज्ञानिकों और धर्म-दार्शनिकों ने टोटमवादी युग कहा है। उन्होंने टोटम को उसके बाहरी रूप में लिया है। दूसरी ओर, श्री अरविन्द के अनुसार टोटम उस शक्ति का केवल एक प्रतीक था जोकि मनुष्य-प्रकृति की शक्तियो के पीछे अनुभव करता था।

वैदिक प्रतीकवाद

इस प्रकार श्री अरविन्द ने वैदिक प्रतीकवाद की एक अधिक गहरी और बोध्र-वादी व्याख्या प्रस्तुत की है। वैदिक युग और पूर्व-वैदिक युग भी प्रतीकों से परिपूर्ण हैं जोकि उनके पीछे काम करने वाली शक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस प्रकार सूर्य, वायु, इन्द्र इत्यादि स्वर्गीय वस्तुएँ नहीं बल्कि नैसर्गिक वस्तुओं के पीछे काम करने वाली शक्तियाँ थीं। वह मूल प्रवृत्ति का युग था जिसका सत्य बाद में विवेक युग के विवेक द्वारा अवरुद्ध हो गया, यद्यपि यह केवल भावी आध्यात्मिक युग के एक अधिक उच्चतर और रूपान्तरित आविर्भाव के लिए था। वैदिक ऋषियों के लिए ईश्वर मानव की प्रतिमा मे नहीं बना था बल्कि मनुष्य ईश्वर की एक निम्न प्रतिमा था विवाह का मन्त्र पुरुषसूक्त तथा विभिन्न अन्य सूक्तो में व्यावहारिक अथवा गूढ़ संस्थाओं

का प्रतिनिधित्व नहीं किया गया था। प्रतीकात्मक युग में भौतिक कारक धार्मिक और मनोवैज्ञानिक कारकों के आधीन थे। ब्लूमफील्ड की रीति-प्रधान व्याख्या तथा बर्गाइन की उपमा-प्रधान व्याख्या में वैदिक मन्त्रों के प्रतीकों का आन्तरिक अर्थ नहीं पकड़ा जा सका है। यहाँ पर श्री अरविन्द की व्याख्या स्वामी दयानन्द और राजा राम मोहन राय से भी गहरी बन पड़ी है यद्यपि वे मूल रूप से इन सबसे सहमत हैं।

वर्तुलाकार प्रक्रिया

इस प्रकार, श्री अरविन्द के अनुसार, मानव-इतिहास की सबसे पहली अवस्था सरल सत्य की अवस्था थी और बाद की जटिलताएँ उस सोपान से पतन के कारण हुई है। किन्तु इसका अर्थ प्रगति का निषेध करना नहीं है, जैसाकि कुछ प्रतिक्रियावादी और संकीर्णतावादी दार्शनिक सुझाव दे सकते हैं। पीछे हटना अधिक सर्वांग वृद्धि का संकेत है। श्री अरविन्द के इतिहास दर्शन में मानव का सामाजिक विकास एक तथ्य है किन्तु वह कोई सीधी रेखा में प्रक्रिया नहीं है। वह उससे कहीं अधिक जटिल और बहुपक्षीय है। वह वर्तुलाकार प्रक्रिया है जिसमें बहुधा प्रगति को और अधिक संकलित करने के लिए अवगति दिखलाई पड़ती है।

मूल प्रवृत्ति और विवेक

मानव-ज्ञान की वर्तमान अवस्था में विवेकवाद की असफलता से कुछ लोगो ने रोमांचवाद, अस्तित्ववाद, बुद्धिविरोधवाद और यहाँ तक कि बुद्धिहीनतावाद की ओर जाने का प्रयास किया है किन्तु यह प्रवाह को रोकने का एक अज्ञानमय प्रयास है। यह ठीक है कि मनुष्य मूल प्रवृत्ति की आदिम एकता से गिरकर विवेक के द्वैतवाद मे पहुँचा है, परन्तु वह वापस नहीं जा सकता क्योंकि उसके इस पतन के पीछे भी एक प्रयोजन रहा है। यह प्रयोजन मूल प्रवृत्ति को अधिक सन्तुलित, अधिक नियन्त्रित और अधिक परिष्कृत बनाना रहा है। किन्तु विवेकशील प्राणी के रूप में मानव की सर्वोच्च व्याख्या जान-बूझकर धोखा खाना है। अज्ञान की शान्ति खतरों से बचकर भागने का विकल्प नहीं है। उसके लिए मनुष्य को अपना अतिक्रमण करना चाहिए। केवल आत्मा मे विकास करके ही मनुष्य वह प्राप्त कर सकता है जो उसने खोया है और साथ ही मूल प्रवृत्तियों, विवेक और संकल्प की सम्भावनाओं का साक्षात्कार कर सकता है।

प्रकारात्मक युग

प्रतीकात्मक सोपान के पश्चात् दूसरा सोपान प्रकारात्मक है। यह "प्रमुख रूप से मनोवैज्ञानिक और नैतिक है।"[3] यहाँ पर धर्म और आध्यात्मिकता तथा नैतिक अनुशासन धर्म के आधीन हैं। इसका प्रमुख योगदान सामाजिक आदर्श, सामाजिक सम्मान का आदर्श रहे हैं यद्यपि ये अधिकाधिक स्थिर और परम्परागत होते गए हैं।

परम्परागत सोपान

इस प्रकार प्रकारात्मक युग स्वभावतया परम्परात्मक सोपान में पहुँच जाता है।[4] प्रकार अब परम्पराएँ बन जाते हैं। जैसे-जैसे प्रतीक परम्पराओं के रूप में रूढ़ होते गए, उनकी पृष्ठभूमि में मनोवैज्ञानिक विचार सरलता से भुला दिए गए। एक बार प्रकार निश्चित हो गया तो नैतिक विचार कल्पना मात्र रह गया। समाज का विभाजन विशुद्ध रूप से आर्थिक श्रम-विभाजन बन गया। किन्तु जब आर्थिक आधार भी टिक न सका तो यह व्यवस्था पतन और असत्य का स्रोत बन गई। श्री अरविन्द के अनुसार संस्थाओं के रूप उनके पीछे काम करने वाली आत्मा के प्रयोजन के अनुसार बदलने चाहिएँ, अन्यथा वे अपना कार्य करना बन्द कर देंगे—और व्यक्ति तथा समाज के जीवन को विघटित करेंगे।

मनोवैज्ञानिक सोपान

वास्तव में श्री अरविन्द के द्वारा बतलाए गए उपरोक्त सोपान ऐतिहासिक नहीं बल्कि मनोवैज्ञानिक हैं। वह मानव-इतिहास का कालगत विभाजन नहीं है, क्योंकि ये मनोवैज्ञानिक शक्तियाँ कभी साथ-साथ और कभी आगे-पीछे विभिन्न देश-काल में काम करती रही हैं। परम्परागत सोपान, व्यक्तिवादी तथा अन्य सोपान विभिन्न स्थानों पर समकालीन समाजों में भी देखे जा सकते हैं। वे किसी समाज के मनोवैज्ञानिक विकास की दिशा निश्चित करते हैं, जोकि वर्तमान अवस्था का मूल्यांकन करने तथा प्रगति की भावी रूपरेखा की भविष्यवाणी करने में सहायता देते हैं। श्री अरविन्द की व्याख्या से भिन्न इतिहास की व्याख्याएँ विभिन्न परिप्रेक्ष्यों में उपयोगी हैं। किन्तु श्री अरविन्द की इतिहास की व्याख्या, भले ही अन्य दृष्टिकोण से उसके मूल्य से कोई सहमत न हो, समाज दर्शन के दृष्टिकोण से विशेष रूप से मूल्यवान है। वह भूतकालीन इतिहास के आन्तरिक मनोवैज्ञानिक अर्थ, सामाजिक विकास के आदर्श की व्याख्या करने और मानव के भविष्य को जानने में सहायता देती है। वह एक सर्वांग समाज दर्शन का ठोस आधार प्रदान करती है।

तथाकथित सत्य युग

इस प्रकार श्री अरविन्द के अनुसार मानव की आदर्श अवस्था यशस्वी भूतकाल में लौटने में नहीं है बल्कि एक और भी अधिक यशस्वी भविष्य में आरोहण करने में है। परम्परात्मक सोपान का स्वर्णयुग, जिसमें आत्मा बँधी हुई थी किन्तु अभी मृत नहीं थी, बहुधा मानव-समाज की आदर्श अवस्था माना जाता है। यह तथाकथित मध्यकालीन सतयुग पूर्व और पश्चिम में कुछ प्रतिक्रियावादी समाज दार्शनिकों का आधार रहा है। दूसरी ओर श्री अरविन्द के अनुसार परम्परात्मक रूपों को बनाए रखते हुए न तो व्यक्ति और न समाज ही सच्ची मूल आत्मा को प्राप्त कर सकता है, चाहे वे अपने में सुधार करने का कितना भी प्रयास क्यों न करें। आत्मा को फिर से प्राप्त करने के लिए प्राचीन रूपों को छोड़कर उन्हें फेंक दिया जाना चाहिए व्यक्ति और समाज दोनों के क्षेत्रों में श्री

अरविन्द ने एक क्रान्ति का समर्थन किया। यह क्रान्ति अपने गहरे अर्थों में सदैव मनोवैज्ञानिक क्रान्ति है।

व्यक्तिवादी सोपान

अस्तु, जब परम्पराओं और आन्तरिक सत्य में खाई असह्य हो जाती है तो विवेक प्राचीन रूपों का तिरस्कार करता है तथा मानव-समाज परम्परात्मक सोपान से व्यक्तिवादी सोपान पर पहुँचता है। प्राचीन रूपों का खोखलापन व्यक्ति को स्वयं अपने मार्ग का निर्धारण करने के लिए छोड़ देता है। जब सामाजिक मापदण्ड, नियम और संस्थाएँ, प्रस्तरीभूत हो जाती हैं और मानव-आत्मा के स्वतन्त्र विकास को अवरुद्ध करती हैं तो व्यक्तिवाद अनिवार्य और उपयुक्त बन जाता है।

व्यक्तिवाद का यूरोपीय जन्म

जैसाकि श्री अरविन्द ने स्वीकार किया है, व्यक्तिवाद पहले यूरोप मे उत्पन्न हुआ। वह समस्त संसार में फैल गया क्योंकि शेष मानव-जाति अभी भी परम्परावादी युग की तन्द्रा में थी। वह पूर्व में फैला इसलिए नहीं कि पूर्व के पास अपना कोई सत्य नही था बल्कि इसलिए कि पूर्व-रूढ़िवादी परम्पराओं में अपनी जीवन-शक्ति को खो चुका था। व्यक्तिवादी यूरोप ने जिन सत्यों का पता लगाया वे उसके विशिष्ट विश्लेषणवादी और फलवादी विवेक के अनुरूप थे। व्यक्तिवाद इसलिए फैला क्योंकि पश्चिम में सत्य को जानने और किसी भी मूल्य पर जीवन में उसके साक्षात्कार करने का आग्रह था। वह विवेक के विद्रोह से उत्पन्न हुआ और भौतिक विज्ञान की विजय में परिपूर्ण हुआ। परम्परावादी युग में धर्म दुराग्रही था और उसके नाम पर विज्ञान का उत्पीड़न हुआ। राजनीति में उसने अत्याचार का समर्थन किया। सामाजिक व्यवस्था रूढ़िवादी परम्पराओं पर आधारित की गई। क्रमशः जब यह बोझ असहनीय हो गया तो मनुष्य में विवेक ने विद्रोह किया और समाज, राज्य, धर्म और यहाँ तक कि नैतिक नियम की सत्ता को भी चुनौती दी और इनमें से जो खोखले पाए गए उनको उखाड़ फेंका।

क्रान्ति का मनोविज्ञान

व्यक्ति और समाज में आत्मा, जब कभी उसकी वृद्धि अवरुद्ध होती है, तब विद्रोह करती है। यह विद्रोह तत्काल प्राप्त सर्वोत्तम साधन के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। यूरोप में धार्मिक स्वतन्त्रता के आन्दोलन ने धर्मग्रन्थों को चुनौती दी, व्यक्ति के अनुभव के अधिकार की स्थापना की और निरीश्वरवाद तथा निरपेक्षवाद में परिणति प्राप्त की। श्री अरविन्द के अनुसार यूरोप का विकास पुनर्जागरण से नहीं बल्कि सुधार से निर्धारित हुआ। यहूदी, ईसाई अनुशासन के साथ यूनानी रोमन प्राचीन मानसिकता की ओर वापसी ने यूरोप को प्रकृतिवाद, विज्ञान और उपयोगितावाद प्रदान किया है।

विज्ञान की विजय

फिर भी अपूर्ण मानव-जाति इस भेंट को आत्मसात करने के लिए मनोवैज्ञानिक रूप से परिपक्व नहीं थी। अनियन्त्रित व्यक्तिगत निर्णयों ने मतों में भारी अव्यवस्था उत्पन्न की। व्यक्ति अथवा वर्ग के अधिकारों और इच्छाओं की बिना शर्त स्थापना सामाजिक विघटन की ओर ले गई। अस्तु, सत्य के एक सामान्य मापदण्ड और सामाजिक न्याय के सामान्य सिद्धान्तों की खोज अनिवार्य हो गई। ये दोनों मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ विज्ञान में सन्तुष्ट हुई। विज्ञान के सत्य सार्वभौम और प्रामाणिक थे। उन्होंने सामाजिक जीवन को एक बौद्धिक आधार प्रदान किया। विज्ञान व्यक्तिवादी युग की चरम परिणति तथा अन्त था।

वैज्ञानिक समाज

श्री अरविन्द के अनुसार विज्ञान के साथ व्यक्ति ने एक ऐसी व्यवस्था विकसित की जिसने मनुष्य को एक नवीन युग में प्रवेश कराया और साथ ही व्यक्तिवाद को समाप्त किया। इससे विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियाँ अभिव्यक्त होने लगीं। इससे आर्थिक और राजकीय समाजवाद के रूप में एक नवीन प्रकारात्मक व्यवस्था स्थपित हुई। विज्ञान के सत्य व्यक्ति के नही बल्कि जनसमूह के सत्य होते हैं। वे मनुष्य पर एक व्यक्ति के रूप में नहीं बल्कि समष्टि के एक बिन्दु, मशीन के एक पुर्जे तथा प्रजाति के एक सदस्य के रूप में लागू होते हैं। अस्तु, विज्ञान पर आधारित एक समाज मे सभी संस्थाएँ वैज्ञानिक सोपान के द्वारा प्रकृतिवादी प्रेरणाओं से वैज्ञानिक, आर्थिक और प्रशासनिक विशेषताओं के द्वारा निश्चित की जाएँगी जोकि व्यक्तियो को स्वय उन व्यक्तियों से अधिक जानने का दावा करेंगे। कठोरता में यह समाज प्राचीन एशिया के समाजों अथवा भारतीय समाज-व्यवस्था से कहीं अधिक कठोर होगा। एक कठोरतावादी वैज्ञानिक समाज विशुद्ध रूप से आर्थिक कार्य और शक्ति पर आधारित होकर एकतावादी होगा। श्रीअरविन्द के अनुसार यह वैज्ञानिक समाज केवल एक गुजरता हुआ युग है।

वैज्ञानिक समाज के स्थायित्व की रसल की शर्तें

यहाँ पर बर्ट्रेण्ड रसल के विचारों की परीक्षा उपयुक्त होगी क्योंकि वह यह मानते हैं कि वैज्ञानिक समाज स्थायी हो सकता है। उन्होंने यह स्वीकार किया है कि, "विज्ञान के विकास में, शक्ति की प्रवृत्ति प्रेम की प्रवृत्ति पर अधिकाधिक हावी होती गई है।"[5] वे यह भी मानते हैं कि, "मूल्य का क्षेत्र विज्ञान के बाहर है, केवल वहाँ तक जहाँ तक कि विज्ञान ज्ञान की खोज में निहित है।"[6] परन्तु फिर भी वह यह स्थापना करते है कि कुछ अवस्थाओं में एक वैज्ञानिक समाज स्थायी हो सकता है। उनके अपने शब्दों मे, "मेरा निष्कर्ष है कि कुछ अवस्थाएँ दिए जाने पर एक वैज्ञानिक समाज स्थायी हो सकता है। इनमें से पहली समस्त विश्व की एक सरकार है, जिसका कि सेनाओं पर एकाधिकार हो और इसलिए जो शान्ति स्थापना के योग्य हो। दूसरी दशा समृद्धि का एक सामान्य विस्तार है ताकि दुनिया के एक हिस्से को दूसरे से ईर्ष्या करने का कोई अवसर न हो।

तीसरी दशा (जोकि दूसरी को पूरा हुआ मान लेती है) सब-कहीं जन्मदर का निम्न होना है ताकि विश्व की जनसंख्या जहाँ तक सम्भव हो सके स्थिर हो जाए। चौथी अवस्था कार्य और खेल दोनों में ही व्यक्तिगत प्रेरणा प्रदान करना है तथा, शक्ति का अधिकतम विस्तार जोकि अनिवार्य राजनीतिक और आर्थिक संरचना को बनाए रखने के लिए उपयुक्त हो।"[7] अन्य स्थान पर रसल यह मानते हैं कि नीतिशास्त्र, शिक्षा, दर्शन, धर्म और सामाजिक व्यवस्था, सभी विज्ञान पर आधारित होने चाहिएँ।

रसल के विचारों की आलोचना

किन्तु जब विज्ञान शक्ति की प्रवृत्ति से दबा हुआ है और जबकि मूल्य का क्षेत्र उसके बाहर है, तब क्या कोई विश्व-सरकार भी शक्ति की प्रेरणा से निर्देशित नहीं होगी ? सच तो यह है कि रसल स्वयं यह मानते हैं कि विश्व-सरकार बलपूर्वक शान्ति को लागू करेगी। किन्तु यह बल प्रयोग, चाहे वह शान्ति के लिए ही क्यों न हो, एक बाहरी सत्ता के द्वारा, चाहे वह एक विश्व-सरकार ही क्यों न हो, क्या रसल की रचनात्मकता के आदर्श से समीचीन है जिसका कि उन्होंने इतना अधिक सम्मान किया है ? क्या समृद्धि को सब-कहीं फैलाने से मनुष्यों और राष्ट्रों में ईर्ष्या और द्वेष समाप्त हो जाएँगे ? फ्रॉयड के समान रसल भी यह मानते हैं कि आक्रामकता की प्रवृत्ति सभ्यता के लिए सबसे बड़ा खतरा है और इसलिए वे विश्व-सरकार को सेनाओं का एकाधिकार सौंपे जाने का समर्थन करते हैं। किन्तु जब तक मानव-प्रकृति रूपान्तरित नहीं हो जाती, क्या गारण्टी है कि विश्व-सरकार अपनी शक्ति को शोषण और आक्रमण के लिए नहीं प्रयोग करेगी ? वास्तव में जब तक विश्व सरकार समष्टिवादी ही न हो तब तक यह सम्भावना अनिवार्य है और रसल निश्चय ही किसी भी सर्वसत्तावादी विश्व-सरकार को पसन्द नहीं करेंगे क्योंकि वे शक्ति को बाँटने के पक्ष में हैं। किन्तु यदि विश्व-सरकार जनतन्त्रीय होती है और यदि उसकी शक्ति को छोटी इकाइयों मे विकेन्द्रित कर दिया जाता है तब क्या यह सम्भव नहीं है कि विश्व-सरकार में बहुमत दल अल्पमत दल को अथवा व्यक्तियों के समूहों को पददलित न करे ? यदि व्यक्ति को कार्य और खेल में प्रेरणा दे दी जाती है तो क्या यह निश्चित है कि वह उसका दुरुपयोग नहीं करेगा अथवा क्या सरकार कभी इस स्वतन्त्रता पर रोक नहीं लगाएगी ? धर्म के अभाव में और नीति के लौकिकीकरण में यह और भी अधिक सम्भव है। अस्तु, जब तक मानव-प्रकृति जैसी है वैसी ही रहती है और लौकिक शिक्षा मानव-प्रकृति को रूपान्तरित नहीं कर सकती, वैज्ञानिक समाज स्थायी नहीं हो सकता। "एक वैज्ञानिक समाज में, प्रेम, सौन्दर्य, ज्ञान और जीवन के आनन्द"[8] की घोर दुर्दशा का अनुमान लगाना कठिन नहीं है, किन्तु ये ही वे आदर्श है जिन पर रसल ने सबसे अधिक जोर दिया है।

दो विचार-शक्तियाँ

मूल कथावस्तु पर लौटते हुए आज पूर्व मे पाश्चात्य व्यक्तिवाद और प्राचीन पर में संघर्ष दिखलाई पड़ता है जिसमें पहला जीत रहा है यद्यपि एक परिवर्तित

रूप ही ग्रहण कर रहा है। इसका विश्व पर एक व्यापक प्रभाव पड़ना चाहिए। पाश्चात्य भौतिक और बौद्धिक व्यक्तिवाद भारत में फैलना चाहिए, इस सुझाव के विरुद्ध श्री अरविन्द ने स्पष्ट रूप से कहा है, "पूर्व का प्रभाव आत्मवाद और व्यावहारिक आध्यात्मिकता की दिशा में होने की प्रवृत्ति है, जीवन और शरीर की स्थूल प्रकृति के द्वारा सुझाए गए सुदृढ परन्तु सीमित लक्ष्यों की तुलना में हमारे भौतिक अस्तित्व को अन्य आदर्शों के साक्षात्कार की ओर अधिक उन्मुक्त करने की प्रवृत्ति है।" यूरोप का व्यक्तिवादी युग फिर भी दो अत्यन्त शक्तिशाली विचार-शक्तियाँ स्थापित करता है अर्थात् व्यक्तियों की जनतन्त्रीय समानता की धारणा तथा व्यक्तिगत विकास की स्वतन्त्रता। पहले को सामान्य रूप से मान्यता मिल चुकी है और वह वर्तमान समाजवाद का आधार है। परन्तु दूसरा फासिस्टों, कम्युनिस्टों और अन्य अनेकों के द्वारा मान्य नहीं हुआ है यद्यपि यही वह विचार है जो पश्चिम का अधिकतम विवेकवाद और पूर्व का उच्चतम अध्यात्मवाद लिए हुए है तथा जिसमें भविष्य की महानतम सम्भावनाएँ हैं।

पुनरुत्थान नहीं बल्कि क्रान्ति

श्री अरविन्द के अनुसार इतिहास अपनी पुनरावृत्ति नहीं करता यद्यपि बहुधा वह ऐसा करता प्रतीत होता है। पुनरावृत्ति नहीं बल्कि परात्परता, संशोधन नहीं बल्कि रूपान्तर मानव-चक्र का नियम है। रचना के लिए विकास आवश्यक है। यूरोप के प्रभाव के अवतरित होने तक, भारतीय सुधारकों और राजनीतिक नेताओं ने एक व्यापक और सहिष्णु आध्यात्मिक विवेक के द्वारा आत्म के सत्य को पुनः पता लगाने का प्रयास किया था। यही बात चीन में राष्ट्रवाद के विकास और अन्य पूर्वी देशों में जागृति के विषय में कही जा सकती है। पाश्चात्य ज्ञान और उनकी जीवन-प्रणाली के प्रभाव से पूर्व के देशों में एक अत्यन्त दूरगामी और विचारों तथा वस्तुओं का प्रभावशाली पुनर्मूल्यांकन हुआ। यह प्रवृत्ति आधे रास्ते में नहीं रुक जाएगी। श्री अरविन्द के अनुसार, "धर्म, दर्शन, विज्ञान, कला और समाज का एक क्रान्तिकारी पुनर्निर्माण अन्तिम अनिवार्य परिणाम है।"[10] व्यक्ति का सत्य समष्टि का सत्य बन जाना चाहिए।

आत्मनिष्ठ युग

किन्तु कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ है जो कठोर बुद्धिवाद और नवीन प्रकारात्मक व्यवस्था की ओर प्रवृत्ति को संशोधित करती हैं। भौतिक और मनोवैज्ञानिक ज्ञान नवीन आयामों का विकास कर रहा है। गतिशील विचार, जैसे कि नीत्शे का जीवन का संकल्प, बर्गसाँ का बोधवाद, सार्त्र और हाईडेगर का अस्तित्ववाद समस्त संसार में फैले हैं। यह मानव-इतिहास में एक नवीन अध्याय का आरम्भ है जिसको श्री अरविन्द ने आत्मनिष्ठ युग कहा है। भौतिक, आर्थिक और समाजशास्त्रीय नियमों की खोज के पश्चात् मनुष्य को यह स्पष्ट हो जाता है कि यह ज्ञान सम्पूर्ण का अंश मात्र है। अस्तु, वह अपने अन्तर्गत गहरे जाने का प्रयास करता है। जब विवेक इस खोज में ठोकर खाता है तो मनुष्य अन्य साधनों की तलाश करता है जैसे सहज ज्ञान और गहन इस प्रकार

बौद्धिक आदर्श के स्थान पर बोधवादी ज्ञान, उपयोगितावादी मापदण्ड के स्थान पर आत्म-साक्षात्कार, भौतिक नियमों के अनुसार जीवन के स्थान पर विश्वगत नियम, संकल्प और शक्ति के अनुसार जीवन का आदर्श आ गया है। यह सब-कुछ आधुनिक प्राणवादी सिद्धान्त बहुतत्त्ववाद, फलवाद, साधनवाद और अस्तित्ववाद इत्यादि दर्शनों में देखा जा सकता है। वस्तुनिष्ठ प्रवृत्ति स्वभावतया कला, संगीत और साहित्य में अधिक स्पष्ट है। यह सबसे पहले मनोवैज्ञानिक जीववाद और रुग्ण पहलुओं पर अधिक केन्द्रीकरण मे दिखलाई पड़ी। किन्तु शीघ्र ही इसका स्थान सच्चे मनोवैज्ञानिक, मानसिक, बोधवादी और चैत्य, कला, संगीत और साहित्य ने ले लिया, जोकि अधिक वस्तुनिष्ठ थे, यद्यपि उनकी पकड़ अभी कमजोर थी और उनके आकार प्राथमिक थे। शक्ति का संकल्प और जीवन का संकल्प, भौतिक और बौद्धिक शक्तियों के साथ मिलकर विश्व में विश्व-युद्ध की आपत्तियाँ लाए। मानवता की आशा अभी छिपे हुए आत्मनिष्ठ तत्त्व पर निर्भर है। जैसाकि श्री अरविन्द ने कहा है, "एक एकतावादी और समन्वित ज्ञान ही मार्ग-दर्शन कर सकता है, किन्तु वह ज्ञान हमारे सत् के एक गहरे तत्त्व में निहित है जिसके लिए एकता और सर्वांगता स्वाभाविक है। अपने अन्दर इस तत्त्व को प्राप्त करने पर ही हम अपने अस्तित्व की समस्या को और उसके साथ ही व्यक्तिगत एवं समष्टिगत जीवन के सच्चे मार्ग की समस्या को सुलझा सकते हैं।"[11]

व्यक्ति और समाज

किसी भी समाज, समुदाय अथवा राष्ट्र का लक्ष्य, व्यक्ति के समान ही, स्वय अपनी आत्मा को खोजना, आन्तरिक नियम और शक्ति को पहचानना और उसकी समस्त सम्भावनाओं का साक्षात्कार करना है। व्यक्ति और समाज दोनों ही एक शरीर, एक अवयवीय जीवन, नैतिक और सौन्दर्यात्मक स्वभाव, मानस और एक आत्मा होते है। कठोर रूप में वे आत्मा को रखते नहीं हैं, आत्मा तो उनका सार ही है। श्री अरविन्द के अनुसार राष्ट्र एक समूह आत्मा है जोकि समष्टिगत जीवन में स्वयं का साक्षात्कार करती है। उनके समाज दर्शन में समाज न केवल सार रूप में बल्कि संरचना में भी व्यक्ति के समान है। उनके अपने शब्दों में, "यह समानान्तरता प्रत्येक मोड़ पर मिलती है, क्योंकि वह समानान्तरता से अधिक है, वह तो प्रकृति में वास्तविक तादात्म्य है।"[12] इनमे एकमात्र अन्तर यह है कि जबकि व्यक्ति प्राणात्मक अधिचेतन आत्मा का एक संगठन है, समूह आत्मा अधिक जटिल है, क्योंकि वह आंशिक रूप से आत्मचेतन मानसिक व्यक्तियों के द्वारा बनती है। समूह आत्मा अधिक कृत्रिम, प्रवाहमय और कम सावयव है। विकसित अवस्था में भी वह केवल अस्पष्ट रूप से ही आत्मनिष्ठ होती है। राष्ट्र को भूल से भौगोलिक देश का वस्तुगत रूप मान लिया गया है। आत्मनिष्ठ सामुदायिक चेतना केवल तभी विकसित हो सकती है जबकि यह मान लिया जाए कि भौगोलिक देश केवल एक बाहरी आवरण है, जबकि वास्तविक शरीर नर-नारियों से बनता है जोकि किसी राष्ट्र का निर्माण करते हैं।[13] व्यक्ति के समान ही समूह आत्मा का यह शरीर भी सदैव परिवर्तनशील है यद्यपि आकार सदैव वही रहता है।

राष्ट्र का वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण

राष्ट्र की इस आत्मनिष्ठ धारणा के विरुद्ध पूर्व और पश्चिम में सब-कहीं वस्तुनिष्ठ धारणा अधिक प्रचलित रही है। राष्ट्रीय अस्तित्व राजनीतिक स्थिति, सीमाओं के विस्तार, आर्थिक समृद्धि और विकास, कानूनों और संस्थाओं इत्यादि के शब्दों में समझा जाता रहा है। इतिहास की कल्पना राजनीतिक और आर्थिक प्रेरणाओं के कार्यों के लेखे-जोखे के रूप में की गई है जोकि राष्ट्र के जीवन में प्रभावशाली होते हैं। क्रिस्टोफर काडवैल के अनुसार, "मानवीय चेतना इतिहास में एक वास्तविक निर्णायक कारक है, किन्तु मानव की चेतना आर्थिक उत्पादन के लिए सामाजिक संगठन के प्रति एक सोपान को उत्पन्न नहीं करती बल्कि आर्थिक उत्पादन के लिए सामाजिक संगठन ही मानव की चेतना को उत्पन्न करता है।"[14] कुछ अन्य दार्शनिकों ने इतिहास को व्यक्तिगत जीवनियों का ढेर माना है। ऐतिहासिक प्रक्रियाओं की ये दोनों ही व्याख्याएँ अपर्याप्त हैं और राष्ट्रीय विकास में अपूर्ण आत्मचेतन युग की लक्षण हैं। आत्मनिष्ठ शक्ति ने काम तो करना आरम्भ कर दिया है किन्तु वह अभी सतह पर नहीं आ सकी है।

आत्मनिष्ठ प्रवृत्ति

अस्तु, राष्ट्रीयता में आत्मनिष्ठ प्रवृत्ति निकट भूतकाल में ही आरम्भ हुई है। राष्ट्र क्रमशः यह अनुभव कर रहे हैं कि उनमें आत्मा है और वे उसे पाने का प्रयास कर रहे हैं। स्वभावतया यह प्रवृत्ति नवीन और अब तक दास बने हुए राष्ट्रों में अधिक शक्तिशाली है क्योंकि वैयक्तिकता की आवश्यकता अधिक तीव्र है और क्योंकि उनका वास्तविक जीवन कम सन्तोषजनक है। भारत, आयरलैण्ड तथा अन्य स्थानों पर राष्ट्रीय आन्दोलनों में श्री अरविन्द ने आत्मसाक्षात्कार की प्रवृत्तियाँ देखी हैं जोकि विशेषतया स्वदेशी आन्दोलनों में अभिव्यक्त हुई हैं। अपने अनुरूप विकास व्यष्टि और समष्टि का नियम है। श्री अरविन्द के अनुसार यह आत्मनिष्ठ प्रवृत्ति पश्चिम की तुलना में पूर्व में अधिक प्रभावशाली है। भारत, चीन, फारस और जापान के राजनीतिक आन्दोलन मानवता में आत्मनिष्ठ युग के आविर्भाव के लक्षण हैं। अन्य देशों की नकल करने की सब जगह भर्त्सना की जाती है और प्रत्येक राष्ट्र, स्वयं अपनी आत्मा का साक्षात्कार करना चाहता है। यह युग की आत्मा की पुकार है। कार्ल मार्क्स के साथ श्री अरविन्द यह मानते हैं कि मनुष्य काल-प्रवाह को रोक नहीं सकता, परन्तु फिर जबकि मार्क्स एक ऐसे सामाजिक नियम पर पहुँचते हैं जो व्यक्ति को परिपूर्ण नहीं करता, श्री अरविन्द के अनुसार, यदि अव्यवस्था वस्तुओं का नियम नहीं है तो काल-प्रवाह का नियम व्यक्ति और सामाजिक आत्मा दोनों की ही माँगों को सन्तुष्ट करेगा। व्यवस्था और समन्वय में आस्था की मान्यता पर विवेक की समस्त कार्य-प्रणाली आधारित है। मनुष्य और समाज की अन्तरंग आत्मा की एकता व्यावहारिक सामान्यीकरण न होकर एक मान्यता है। किन्तु रहस्यवादी और यौगिक अनुभव इसका सबूत देते हैं।

जर्मन आत्मनिष्ठवाद

श्री अरविन्द के अनुसार एक सैनिक समष्टि के रूप में जर्मनी का विकास भी राष्ट्र की आत्मा की अभिव्यक्ति था यद्यपि वह अत्यधिक स्थूल और बर्बर रूप में था। विश्व के लिए इस प्रकार के आन्दोलनों के खतरे राष्ट्र आत्मा की धारणा में ही निहित है जोकि, यदि अत्यधिक संकीर्ण हो जाती है, तो दूसरों की कीमत पर अकेले ही विकसित होने का प्रयास करती है। जर्मनी और इटली के खतरनाक राष्ट्रवाद के उदाहरण से कुछ लोग राष्ट्र आत्मा की धारणा को ही मिथ्या मानकर उसका तिरस्कार करना चाहते है। किन्तु यदि व्यक्ति और राष्ट्र की वैयक्तिकता अधिक व्यापक समष्टि के लिए बहुधा खतरे का स्रोत बन गई है तो इसका अर्थ केवल यह है कि व्यक्तिवाद का विशिष्ट प्रकार भ्रामक है। गहरा सत्य सब-कहीं वही है। मनुष्यों और राष्ट्रों को न केवल अपनी आत्माओं का साक्षात्कार करना चाहिए बल्कि दूसरों में भी आत्मा का अनुभव करना चाहिए और आध्यात्मिक विकास में एक-दूसरे को सम्मान, सहायता और लाभ पहुँचाना सीखना चाहिए। यदि आत्मनिष्ठ युग को मानवता के विकास में सहायता करनी है तो यह आवश्यक है। जर्मनी में ट्रेटस्के ने नीत्शे के आत्मनिष्ठ विचारों को राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रो मे वस्तुनिष्ठ दशाओं में गलती से लागू किया था। किन्तु जर्मनी की असफलता सब-कहीं नहीं थी। वह असफलता कुछ विशेष दिशाओं में थी जोकि दुर्भाग्य से इतने अधिक केन्द्रीय थे कि पचास वर्षों से भी अधिक के आत्मनिष्ठ अन्तर्दर्शन के समस्त प्रयासों और वैज्ञानिक अनुसन्धानों के भारी प्रयास के बावजूद जर्मनी लक्ष्य पर पहुँचने में असफल रहा।

सच्चा और झूठा आत्मनिष्ठवाद

श्री अरविन्द के अनुसार एक झूठा और एक सच्चा आत्मनिष्ठवाद होता है। प्रतीकात्मक, प्रकारात्मक और परम्परावादी युगों की तुलना में उसके लाभों की दृष्टि से आत्मनिष्ठ युग के खतरे भी कहीं अधिक हैं। किन्तु यदि फिर भी मनुष्य को आत्म-अज्ञान में सीमित नहीं रहना है तो यह खेल खेलने के योग्य है। मानव की संरचना का ज्ञान, जिसकी विवेचना पिछले अध्याय में विस्तारपूर्वक की जा चुकी है, यह स्पष्ट कर देता है कि जबकि सच्ची आत्मा एक ही है, अहंकार, बाह्य और आन्तरिक मानस, प्राणतत्त्व और जड़तत्त्व तथा पंचकोष को आसानी से सच्ची आत्मा समझने की भूल की जा सकती है। यही बात सामाजिक संरचना के विषय में कही जा सकती है। अहंकार जीवन और उसके विकास के सूत्र के विरुद्ध है। मानवता को सच्ची आत्मा के साक्षात्कार का लक्ष्य सामने रखना चाहिए। सच्चा आत्मनिष्ठवाद यही प्राप्त करने का प्रयास करता है।

जर्मन आत्मनिष्ठवाद की भूल

आत्मसाक्षात्कार का आदर्श जर्मनी में सामान्य रूप से मान्यता प्राप्त कर चुका था यद्यपि व्यक्ति के मामले में उसे इतना अधिक व्यवहार में नहीं लाया गया था: परन्तु यह बात नहीं मानी गई थी कि ये नियम समान रूप से अन्य राष्ट्रों पर भी लागू होते हैं।

यह जर्मन आत्मनिष्ठवाद की मौलिक भूल थी। निश्चय ही उसने निरपेक्ष के दृष्टिकोण से, व्यक्ति और सार्वभौम के दृष्टिकोण से जीवन को देखा, परन्तु वह तीनों के मध्य वास्तविक सम्बन्ध को नहीं समझ सका। हेगेल ने राज्य को निरपेक्ष तत्त्व मान लिया। बाहर की मानवता का निषेध नहीं किया गया, परन्तु जर्मनी को सबसे अधिक प्रगतिशील, सर्वोत्तम, आत्मसाक्षात्कारमय, कुशल और सुसंस्कृत राष्ट्र माना गया। आत्मनिष्ठता का यह मूल सत्य भुला दिया गया कि 'सभी राष्ट्रों में एक ही तत्त्व अभिव्यक्त होता है' और उसके स्थान पर 'योग्यतम की विजय' का जैविकीय सिद्धान्त स्थापित किया गया। नीत्शे का दूसरों पर अतिमानव के शासन का सिद्धान्त राष्ट्रों के सम्बन्ध में लागू किया गया और यह निष्कर्ष निकाला गया कि अन्य समस्त राष्ट्रों पर ट्यूटानिक प्रजाति और जर्मनी का शासन मानवता के सर्वोच्च शुभ के हित में है और विवेक तथा बोध के नियम के द्वारा प्रमाणित है।

श्री अरविन्द के अनुसार जर्मनी का यह अहंकारमय आत्मसाक्षात्कार अनेक आत्मनिष्ठ भूलों का कारण था। सबसे पहले, व्यक्ति को समष्टि के एक कोष के रूप में विकसित, शिक्षित, प्रशिक्षित और अनुशासित किया गया। समष्टि की प्रेरणा को कार्य रूप मे परिणित करने के एक साधन के रूप में, जोकि राज्य के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ था, जर्मनी ने पूर्ण, प्रभावशाली, सर्वव्यापक, सर्वप्रत्यक्षकर्त्ता तथा सर्वाधिकारवादी राज्य की स्थापना की। व्यक्ति को अधिकाधिक आधीन बनाया गया जब तक कि वह राज्य यन्त्र मे पूर्णतया समाप्त नहीं हो गया, जिसके परिणामस्वरूप यद्यपि जर्मनी ने आर्थिक, वैज्ञानिक, सामाजिक और बौद्धिक कुशलता तथा शक्ति प्राप्त की, किन्तु गहरी जीवन-दृष्टि, बोधमय शक्ति, व्यक्तित्व की शक्ति, और चैत्य मृदुता और विस्तार समाप्त हो गए। यह सर्वाधिकारवाद का अनिवार्य परिणाम है। पुनः, चूँकि राज्य निरपेक्ष का प्रतिनिधि था इसलिए राज्य की सेवा नैतिकता का निरपेक्ष सिद्धान्त था। परन्तु जबकि राज्य के अन्तर्गत कानून का पालन ही नियम था, अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में सफलता ही निर्णायक कारक थी। वे योग्यतम की विजय और अस्तित्व के लिए संघर्ष, आर्थिक, भौतिक, बौद्धिक और सांस्कृतिक संघर्ष के नियम पर आधारित थे। विज्ञान ने सिखाया कि मनुष्य जीवन और शरीर से अधिक कुछ नहीं है। अस्तु, इन्हीं को सर्वोत्तम मानकर जोर दिया गया। युद्ध सफलता का साधन बन गया यद्यपि साधारणतया वह शान्ति के बहाने से लड़ा जाता रहा। साधनों का औचित्य साध्यों से निर्धारित किया गया। युद्ध में सफलता और शान्ति के समय उसकी तैयारी की ओर ले जाने वाली सभी प्रविधियों का नैतिक औचित्य ठहराया गया।

योग्यतम की विजय के लक्ष्य को लेकर, जोकि अयोग्य के निराकरण और कम-योग्य के आत्मसात् के द्वारा प्राप्त किया गया, जर्मन संस्कृति के द्वारा विश्व की विजय को मानव-जाति के सर्वोच्च शुभ का साधन समझा गया। संस्कृति की व्याख्या जैविकीय स्तर पर आधारित और सर्वोच्च कुशलता के लिए संगठित विचारों के द्वारा अनुशासित जीवन के रूप में की गई। इस संस्कृति को ग्रहण करने की सामर्थ्य प्रजाति पर निर्भर मानी गई अस्तु यह निश्चय किया गया कि नार्डिक प्रजाति को कम योग्य प्रजातियों को

आत्मसात् करना चाहिए और अयोग्य प्रजातियों को मिटा देना चाहिए। यह जर्मनी में सम्पूर्ण राष्ट्र का नहीं और न ही बहुमत का विचार था बल्कि राष्ट्रीय जीवन पर अधिकार जमाए हुए कुछ थोड़े से व्यक्तियों की धारणा थी। परन्तु इस अल्पमत में अपने विचार को समष्टि के मानस पर आरोपित करने के लिए पर्याप्त शक्ति उपस्थित थी।

जर्मन आत्मनिष्ठवाद का मूल्य

इन समस्त भूलों के कारण कुछ विचारकों ने जर्मन आत्मनिष्ठवाद की पूर्णतया भर्त्सना की है। किन्तु श्री अरविन्द ने एक भिन्न निर्णय दिया है। उनके अनुसार, जर्मन आत्मनिष्ठवाद सही दिशा में यद्यपि गलत दृष्टिकोण से एक प्रयास था। उसके उदाहरण का सभी को एक भिन्न रूप में अनुगमन करना चाहिए। जैसाकि श्री अरविन्द ने कहा है, "पीछे लौटना असम्भव है; प्रयास सदैव वास्तव में एक भ्रम मात्र है; हम सबको वही काम करना है जिसका प्रयास जर्मनी ने किया था, परन्तु यह सावधानी रखनी है कि उसे उसी की तरह नहीं करना है।"[15] उसकी शक्ति के रहस्य को, उसकी अत्यधिक भक्ति और ईमानदारी, वचन और कर्म की श्रेष्ठता को समझने की तुलना में इस कार्य से घृणा करना आसान है किन्तु मनुष्यों के मानसों और मानव-प्रजाति के जीवन में इस तत्त्व को हराने के लिए पहली बात अनिवार्य रूप से आवश्यक है। मानव-इतिहास के परस्पर विरोधों में अपनी गहरी अन्तर्दृष्टि के द्वारा श्री अरविन्द ने यह दिखलाया है कि राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जर्मनी का प्रभाव उसकी भौतिक हार से कम नहीं हुआ है।

जर्मन यन्त्र के दो पहलू

आन्तरिक क्षेत्र में राज्य के द्वारा व्यक्ति पर दबाव समाजवाद में, बोल्शेविक साम्यवाद में, फासीवाद में और अनेक तथाकथित जनतन्त्रों में भी सब-कहीं दिखलाई पड़ता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में युद्ध के पूर्व भी इसके चिह्न विद्यमान थे। जर्मनी का उदय पवित्र अहंकार के रोग का केवल एक लक्षण मात्र था जोकि तात्कालिक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सब-कहीं अन्तर्निहित थे। जर्मनी ने जो सोचा और किया तथा व्यवस्थापूर्वक और कठोरतापूर्वक लागू किया वही अनेक अन्य राज्यों ने कम-संगठित और सीमित क्षेत्र में किया। जर्मनी ने अपनी सम्पूर्ण नग्नता में उस अशुभ को दिखला दिया जोकि पहले से ही मानव-प्रजाति में काम कर रहा था और इस प्रकार मानव-प्रजाति को शुभ और अशुभ में असन्तुलित रहने के बजाय एक को चुनने के लिए मजबूर किया। श्री अरविन्द के अनुसार आत्मा को शरीर और जीवन समझने की जर्मन भूल बर्बरता की ओर लौटना नहीं था। वह एक नवीन अवैध सम्प्रदाय था, एक वस्तुनिष्ठ आत्मनिष्ठवाद था, निरपेक्षतावादी आध्यात्मशास्त्र के तर्क को भौतिकवादी विज्ञान, दार्शनिक आत्मनिष्ठवाद को फलवादी भाववाद में लागू करने का परिणाम था।

दो परस्पर विरोधी आदर्श

आधुनिक विज्ञान ने अत्यधिक व्यक्तिवाद और अत्यधिक समष्टिवाद के दो परस्पर विरोधी आदर्श उपस्थित किए हैं। उसने अस्तित्व के लिए संघर्ष और योग्यतम की विजय के जैविकीय तत्त्व को मानव-जीवन में लागू करके नीत्शे के जैसे दर्शनों तथा कुछ इस प्रकार के अराजकतावाद और साम्राज्यवाद को उत्पन्न किया। दूसरी ओर इस जैविकीय सिद्धान्त की प्रवृत्ति व्यक्ति को नहीं बल्कि प्रजाति को बनाए रखना चाहती है, और यह दिखाना चाहती है कि व्यक्ति का जीवन समष्टिगत आत्मविकास के नियमों के आधीन हुए बिना असम्भव है। इन सिद्धान्तों ने आधुनिक समष्टिवादी सिद्धान्तों को पुष्ट किया। जैसाकि पीछे दिखलाया जा चुका है, जर्मनी ने ये दोनों ही आदर्श अभि-व्यक्त किए, एक तो व्यक्तिगत राष्ट्र की अहंकारमय आत्मस्थापना और दूसरे व्यक्ति को समष्टि के पूर्णतया आधीन कर देना।

अधिक व्यापक समष्टि का आदर्श

किन्तु इन दो आदर्शों के संघर्ष के पीछे मानव की सार्वभौमिकता अथवा प्रजाति की समष्टि का एक नवीन विचार है जोकि राष्ट्रीय पृथक्तावाद के आदर्श को जीत सकता है। इस प्रकार हम साम्राज्यवादी, आदर्शवादी अथवा सांस्कृतिक अन्तर्राष्ट्रीय समूह पाते हैं जैसे कि संयुक्त राष्ट्र संघ, सोवियत रूस का गुट, ब्रिटिश कामनवैल्थ, अफ्रीकी-एशियाई भ्रातृत्व, अरब लीग इत्यादि जोकि राष्ट्रों की स्वतन्त्र पृथक्ता को एक अधिक व्यापक समष्टि के सन्मुख त्याग करने की माँग करते हैं।

जीवन का वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण

जीवन के वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ दोनों ही दृष्टिकोणों की सामग्री व्यक्ति और राष्ट्र है; परन्तु वे दृष्टिकोणों, प्रेरक शक्तियों और जीवन के लक्षणों में भिन्न है। वस्तुनिष्ठवाद विश्लेषणात्मक तर्क से प्रारम्भ होता है। उसका दृष्टिकोण बाह्य और यन्त्रवत् है। उसमें विवेक बाहर से देखता है और जगत को अध्ययन करने योग्य एक दी हुई प्रक्रिया मानता है। वह ऐसे नियम पता लगाता है जोकि व्यक्तियों और समूहों पर यन्त्रवत् कार्य कर रहे हैं। इन नियमों को वैज्ञानिक नियमों के रूप में संगठित और लागू किया जाता है। वे व्यक्ति पर विवेक अथवा संकल्प के द्वारा, उसके सत् के विभिन्न भागों से बाहर एक सत्ता के रूप में, अथवा अन्य व्यक्तियों अथवा समूह के विवेक और संकल्प के द्वारा लागू किए जाते हैं। वे समूह पर उसके अपने समष्टिगत विवेक और संकल्प के द्वारा लागू किए जाते हैं, जोकि राज्य में निहित माना जाता है, जोकि समूह के जीवन से बाहर है अथवा किसी अन्य बाहरी समूह के विवेक और संकल्प के द्वारा है जिसका कि वह किसी प्रकार से एक अंश है। इस प्रकार व्यष्टि और समष्टिगत जीवन, सामाजिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के नियम बाह्य सत्ता के द्वारा बलपूर्वक लागू किए जाते हैं। राज्य समाज का एक अन्तरंग भाग नहीं है। वह स्वयं एक इकाई माना गया है जोकि अधिकार के विचार को व्यक्तियों और समष्टि पर लागू करता है समाज जिस लक्ष्य को प्राप्त

करना चाहता है वह उसका अन्तरंग नियम नहीं है। वह उस पर बाहरी कानूनों के द्वारा राज्य यन्त्र के माध्यम से आरोपित किया जाता है। राष्ट्र अपनी प्रकृति में अनिवार्य किसी तत्त्व की ओर लक्ष्य नहीं रखते बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के द्वारा लादे गए लक्ष्य को मानते हैं। जीवन अन्दर से विकसित नहीं होता, वह एक यन्त्र के द्वारा पूर्णता प्राप्त करता है जोकि बाहर से उसका आकार निर्धारित करता है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "अपने से बाहर एक नियम, जोकि जबकि वह व्यक्तिगत विवेक के द्वारा पता लगाया जाता और निर्धारित किया जाता है, अथवा व्यक्तिगत संकल्प के द्वारा लागू किया जाता है तब भी बाहर ही रहता है—यह आत्मनिष्ठवाद का मूल विचार है; व्यवस्था की एक यन्त्रवत् प्रणाली, अनुशासन, पूर्णता, यह व्यवहार की उसकी धारणा है।"[16]

जीवन का आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण

इस वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण के विरुद्ध आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण अन्दर से चलता है। वह प्रत्येक दृष्टिकोण को आत्मचेतना में सम्मिलित करने के दृष्टिकोण से देखता है। यहाँ पर नियम बाहर से नहीं लादा जाता। प्रगति का उसका सिद्धान्त अधिकाधिक मान्यता, साक्षात्कार और इसलिए आत्मजीवन का निर्माण है, इस विचार में आर्थिक जीवन, एक आत्मरचनात्मक प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया सबसे पहले अधिचेतन रूप में विकसित होती है, तब अर्धचेतन और अन्त में आन्तरिक आत्मा के प्रति पूर्णतया चेतन। इस दृष्टिकोण से विवेक आत्ममान्यता की एक प्रक्रिया है, संकल्प आत्मस्वीकार की शक्ति है। ये दोनों ही आत्मसाक्षात्कार के साधनों के अंश हैं। आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण मानव की प्रकृति की एक जटिल धारणा है और ज्ञान की शक्तियों तथा प्रभाव की अनेक शक्तियों को मान्यता देता है। यह कभी-कभी विवेक के महत्त्व को कम करता है और जीवन-प्रवृत्ति, जीने के संकल्प अथवा बोध को स्थापित करता है, जोकि चेतन अनुभूति, स्वयं अपने सत्य को देखना और पकड़ना, इनके विश्लेषण के स्थान पर उनकी प्रकृति और शक्ति को अनुभव करना है। इस प्रकार आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण का लक्ष्य आत्मा पर पहुँचना और उसके सत्य में जीवित रहना है।

विरोधियों का मिलन

जीवन के प्रति दो परस्पर विरोधी दृष्टिकोण आत्मा की प्रकृति के विषय में दो भिन्न धारणाओं पर आधारित हैं। यदि आत्मा व्यक्ति है, तो जीवन का लक्ष्य व्यक्ति की शक्ति, स्वतन्त्रता और सन्तोष है, और हम एक आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण पर पहुँच जाते हैं। दूसरी ओर, यदि समष्टिगत आत्मा पर जोर दिया जाता है, तब व्यक्ति का जीवन समष्टि के जीवन के आधीन कर दिया जाता है। ये दोनों परस्पर विरोधी धारणाएँ केवल सार्वभौम सत् अथवा अस्तित्व के साक्षात्कार में ही मिल सकती हैं, जोकि व्यष्टि और समष्टि दोनों में आत्मा की धारणा को व्यापक बनाते हुए अपनी परिपूर्णता प्राप्त करता है। यह विचार जीवन के आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ दोनों ही दृष्टिकोणों से अधिक ऊँचा है इस आदर्श में व्यष्टि और समष्टि परस्पर पूर्णता के द्वारा विकसित होते हैं। यही

सच्चा आत्मनिष्ठवाद है जोकि आत्मनिष्ठ भौतिकवाद और आत्मनिष्ठ आदर्शवाद दोनों का ही अतिक्रमण करता है और उस सच्ची आत्मा का पता लगाता है जिसके कि मानस, जीवन और शरीर केवल साधन हैं, क्रम में असमान हैं यद्यपि सर्वांग पूर्णता की आवश्यकता में समान हैं। व्यष्टि और समष्टि की सर्वांग पूर्णता के इस आदर्श का 'सामाजिक विकास का मनोविज्ञान' और 'सामाजिक विकास के आदर्श नामक' अगले दो अध्यायों में अधिक विस्तारपूर्वक विवेचन किया जाएगा।

6

सामाजिक विकास का मनोविज्ञान

> "व्यक्ति के समान राष्ट्र अथवा समाज के लिए एक शरीर, एक अवयवीय जीवन, एक नैतिक और सौन्दर्यात्मक स्वभाव, एक विकासवान मानस और इन सबके चिह्नों और शक्तियों के पीछे एक आत्मा होती है जिसके लिए वे अस्तित्व रखते हैं।"[1]
>
> —श्री अरविन्द

तीन अवस्थाएँ

पिछले अध्याय में श्री अरविन्द के इतिहास दर्शन की विवेचना में व्यक्ति और समाज के विकास में समानान्तरता दिखलाई गई है, क्योंकि वे एक ही चेतना-शक्ति के दो पहलू हैं। वही समानान्तरता सामाजिक विकास के मनोविज्ञान की उनकी व्याख्या में देखी जा सकती है। इस प्रकार मानव-विकास एक बुद्धेतर अवस्था से आरम्भ होता है जिसमें मनुष्य की क्रियाएँ और संस्थाएँ मूल प्रवृत्तियों, आवेगों, सहज विचारों, प्राणात्मक बोधों और परम्परागत प्रतिक्रियाओं, इच्छाओं की उत्तेजनाओं, आवश्यकताओं अथवा परिस्थितियों से निर्देशित होती हैं। इस बुद्धेतर अवस्था से मनुष्य बौद्धिक अवस्था पर पहुँचता है, जिसमें एक बौद्धिक संकल्प उसके चिन्तनों, संकल्पों और भावों का मध्यस्थ होता है और उसके विचारों, लक्ष्यों और संस्थाओं पर शासन करता है। यदि विकास प्रकृति में प्रक्रिया का सिद्धान्त है तो यह बौद्धिक अवस्था भी एक तृतीय अवस्था में पहुँच जाएगी जोकि आध्यात्मिक, बोधवादी और प्रज्ञावादी होगी।

कठोर योजना नहीं

सामाजिक विकास के मनोविज्ञान की अवस्थाओं का यह त्रिविध वर्गीकरण कठोर, अपवादविहीन और निरपेक्ष विभाजन नहीं है, बहुधा वे विभिन्न स्थानों पर एक-साथ देखी जाती हैं। वे एक-दूसरे से उत्पन्न होती हैं और आंशिक रूप से एक-दूसरे में विकसित होती हैं। जब तक मनुष्य इनमें से कोई एक नहीं बन जाता तथा इन सबको अपनी जटिल संरचना में बनाए रखता है, तब तक अत्यधिक आदिम व्यक्ति भी अपने अन्दर कुछ विवेक और कुछ आध्यात्मिकता तथा बौद्धिक व्यक्ति कुछ बुद्धेतर प्रवृत्तियाँ और प्ररणाएँ रखता है इसी प्रकार एक मनुष्य भी अपना

विवेक और बुद्धेतर प्रवृत्तियाँ रखता है, चाहे वे रूपान्तरित और दैवी क्यों न हो गए हों। समाज दर्शन का उद्देश्य आदर्श समाजों की कल्पना करना मात्र नहीं है। उसका दृष्टिकोण वर्तमान से पूर्णतया अतिक्रमण नहीं करता क्योंकि वह मानव मनोविज्ञान पर आधारित है और उसकी सीमाओं को स्वीकार करता है। जैसाकि श्री अरविन्द ने स्वीकार किया है, "ईश्वर नहीं, बल्कि उसका सर्वोच्च प्राणी मनुष्य दैवी प्रभाव की एक किरण के साथ, मनुष्य की आध्यात्मिकता, चाहे वह कितनी भी प्रभावशाली क्यों न हो, आवश्यक रूप से, अपनी विवेकयुक्त और बुद्धेतर प्रवृत्तियाँ और तत्त्व रखता है जब तक कि वह यह अपूर्ण विकसित मानव रहता है।"[2] और जो बात व्यक्ति के बारे में सच है वही समाज के लिए भी कही जा सकती है, एक विशिष्ट स्तर की प्रवृत्तियाँ अन्य पर हावी हो सकती हैं, उनका रूपान्तरण कर सकती हैं अथवा उनसे समझौता कर सकती हैं, किन्तु उनकी अलग से क्रीड़ा प्रकृति का प्रयोजन नहीं है। श्री अरविन्द के समाज दर्शन में आध्यात्मवाद न तो विवेक और न बुद्धेतर तत्त्वों से समझौता करता है, न उनका निषेध करता है और न दमन करता है बल्कि उन्हें सम्मिलित करता है, संकलित करता है और रूपान्तरित करता है।

दो प्रवृत्तियाँ

इस प्रकार, श्री अरविन्द के अनुसार, सामाजिक विकास के मनोविज्ञान में बुद्धेतर अवस्था को बौद्धिक अवस्था पर पहुँचना चाहिए। विवेक की इस वृद्धि में, या तो आध्यात्मिक प्रवृत्ति कुछ समय के लिए छोड़ दी गई है या मान्य होते हुए भी बुद्धि के कार्यों के एक विशाल ताने-बाने से ढँकी रहती है। पहली प्रवृत्ति प्रथम बार यूनान में सोफिस्टो के युग में देखी गई जिसमें बड़ी सख्या में कवि, विचारक और वैज्ञानिक खोज करने वाले थे जिन्होंने जनसाधारण तक में बुद्धि की सामान्य क्रिया को उत्तेजित किया। दूसरी प्रवृत्ति भारतवर्ष में उस समय देखी जा सकती है जबकि वेदों और उपनिषदों के रहस्यवादी ऋषियों का स्थान दार्शनिक रहस्यवादियों, धार्मिक विचारकों और बौद्धिक दार्शनिकों ने ले लिया।

सर्वांग वृद्धि का सिद्धान्त

कुछ समय के लिए यह नवीन प्रवृत्ति एथेन्स अथवा प्राचीन आर्य भारत में समस्त समुदाय पर छाई दिखाई पड़ी, परन्तु जब तक कि सम्पूर्ण प्रजाति तैयार न हो जाए तब तक समाजों को इस प्रकार अकस्मात् परिवर्तित नहीं किया जा सकता। अस्तु, पहले आवेग पर शीघ्र ही अधिकार कर लिया गया और कभी-कभी बुद्धेतर प्रकारों को नवीन वृद्धि से दबा दिया गया। जागृत ज्ञान और जीवन के उच्च आदर्शों की परम्परा उच्च वर्गों में अथवा भारतवर्ष में ब्राह्मण जैसे सर्वोच्च वर्ग में बनी हुई है, और सामान्य जनता मानस की बुद्धेतर आदतों में फँसी है यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि भूतकाल से कुछ लाभ न हुआ हो। केवल सर्वांग विकास ही स्थायी विकास होता है। मनुष्य या समाज में जब कभी कोई विशेष तत्त्व अन्य अंगों से आगे बढ़ जाता है तो आधार को

ठोस और सर्वांग बनाने के लिए प्रतिगमन होता है, क्योंकि प्रकृति में विकास का सिद्धान्त है। समाज दर्शन को स्वयं प्रकृति में अन्तर्निहित सिद्धान्तों पर आधारित होना चाहिए, ताकि वह मानव और समाज के स्थायी विकास की ओर निर्देशित कर सके। जब कभी इन्हें भुला दिया जाता है अथवा किसी अन्य राजनीतिक, समाजशास्त्रीय, नैतिक अथवा धार्मिक सिद्धान्त के आधीन कर दिया जाता है, तो पीछे लौटने और पतन का खतरा सदैव बना रहता है।

विवेक का युग

मानवता की वर्तमान मनोवैज्ञानिक अवस्था को साधारणतया 'विवेक का युग' कहा जा सकता है। वह समाज की एक बौद्धिक अवस्था की एक ठोस नींव प्राप्त करने के लिए सही सिद्धान्त को खोजने का प्रयास कर रहा है। उसकी प्रगति या तो समायोजनात्मक है अथवा आमूलात्मक है। आमूलात्मक प्रगतियाँ इस युग के लक्षण हैं, क्योंकि नए विचारों के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया, आवश्यकताओं और सम्भावनाओं के प्रति प्रतिक्रिया विवेक का स्वभाव है, यद्यपि मनुष्य में रूढ़िवादी शक्तियाँ उसे कुछ समय तक रोके रख सकती हैं। इस प्रकार, सामाजिक विकास की अनेक विधियाँ बतलाई गई हैं, मानी गई है, दमन की गई हैं, संशोधित की गई हैं, असफल होने पर उनका विरोध किया गया है और अन्त में किसी नए सिद्धान्त के द्वारा उनको आसन से उतार दिया गया है; किन्तु फिर इस नवीन सिद्धान्त के साथ भी वही प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। जब तक विवेक किसी सिद्धान्त अथवा उसकी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने के सिद्धान्तों के योग पर नहीं पहुँच जाता तब तक यह प्रक्रिया चलती रहेगी।

व्यक्तिवाद

पिछले अध्याय में यह देखा गया है कि विवेक का युग व्यक्तिवाद से आरम्भ होता है, जोकि प्रभावशाली रूढ़िवाद के युग के बाद आता है। व्यक्तिवाद का वर्णन करते हुए श्री अरविन्द ने कहा है, "इस दृष्टिकोण से समाज व्यक्तिगत मनुष्य की क्रिया और वृद्धि के लिए एक क्षेत्र मात्र है और जब वह उसके विचार, उसके कार्य, उसकी वृद्धि, उसके सत् की पूर्णता की सम्भावनाओं के विकास को पर्याप्त स्वतन्त्रता अथवा निर्देशन देने के लिए व्यापक क्षेत्र और पर्याप्त साधन देता है वह अपने कार्य को सर्वोत्तम रूप से पूरा करता है।"[3] जैसे-जैसे चिह्न, प्रकार और संस्थाएँ रूढ़िबद्ध होती गई, जीवन को मानसिक बनाने की पुरानी प्रणालियों ने अपने प्रयोजन को पूरा करना छोड़ दिया और जीवन का मार्ग खोजने के लिए विवेक की सहायता अनिवार्य हो गई। विवेक का युग सतत प्रगति का युग होता है, क्योंकि विवेक सदैव नवीन सम्भावनाओं की ओर देखता है। वह तथ्यों को विकसित करने के लिए विचारों से उनमें प्रश्न करता और विचारों में यह देखने के लिए प्रश्न करता है कि वे तथ्यों के अनुरूप हैं या नहीं अथवा कुछ नए तथ्यों के अनुकूल बनाने के लिए क्या उनमें कुछ उन्नति की आवश्यकता है। विवेक प्रत्येक रूढ़ि और संस्था की जाँच करता है चाहे वह कितनी भी सार्वभौम रूप से मान्य अथवा उपयोगी

क्यों न हो, ताकि उच्चतर प्रयोजनों को पूरा करने के लिए नवीन सम्भावनाओं का पता लगाया जा सके। इस सार्वभौम जिज्ञासा से यह विचार अवतरित होता है कि विवेक को सब-कहीं लागू करने से ही समाज को पूर्ण बनाया जा सकता है। वैज्ञानिक समाज के आदर्श के पीछे यही विचार है जिसका पिछले अध्याय में विवेचन किया जा चुका है।

व्यक्तिवाद और जनतन्त्र

सार्वभौम रूप से लागू होने के लिए, यह विवेक न तो किसी अधिकारी वर्ग और न कुछ प्रसिद्ध विचारकों का ही हो सकता है, क्योंकि पहले मामले में वह शक्ति का दास मात्र बन जाता है और दूसरे में व्यवहार में भ्रष्ट और रूढ़िगत हो जाता है। यह विवेक प्रत्येक ऐसे व्यक्ति में होना चाहिए जोकि सामान्य आधार की खोज कर रहा हो। अस्तु, इस सिद्धान्त से कि प्रत्येक व्यक्ति में सरकार के निर्धारण और समाज की व्यवस्था के लिए समान रूप से विवेक और संकल्प पाया जाता है, विवेकवाद व्यक्तिवादी जनतन्त्र पर पहुँचता है। "क्योंकि जनतन्त्र से तात्पर्य एक ऐसा समाज है जिसमें प्रत्येक को एक व्यक्ति के रूप में गिने जाने और कुछ ऐसा करने का अवसर है जोकि विशिष्ट रूप से उसका अपना है।"[4] यह इसलिए नहीं क्योंकि विवेक सभी व्यक्तियों में समान रूप से पाया जाता है बल्कि इसलिए है क्योंकि, यदि कुछ को वरीयता दी जाती है तो विवेक बुद्धेतर तत्त्वों, वर्ग की शक्ति की प्रेरणा का दास बन जाता है।

समानता

इस प्रकार व्यक्तिवादी विवेक ने समानता का समर्थन किया। अरस्तु के अनुसार यह न्याय का आधार है। सभी व्यक्ति स्वभावतया स्वतन्त्र और समान हैं। जैसाकि हॉब्स ने कहा था, "प्रकृति ने मनुष्यों को शरीर और मानस की शक्तियों मे, इतना समान बनाया है, कि यद्यपि कोई ऐसा मनुष्य पाया जा सकता है जो कभी-कभी स्पष्ट रूप से अन्य लोगों की तुलना में शरीर में अधिक मजबूत और मस्तिष्क में अधिक तेज हो; तथापि जब सब कुछ जोड़ लिया जाता है, तो मनुष्य और मनुष्य में अन्तर इतना अधिक नहीं रहता कि एक आदमी अपने लिए किसी ऐसे लाभ का दावा कर सकता हो जिसके लिए दूसरा कोई उसके ही समान दावा न कर सके।"[5]

स्वतन्त्रता

समानता के अतिरिक्त, स्वतन्त्रता व्यक्तिवादी जनतन्त्र का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं अपने विवेक और संकल्प के द्वारा जीवन चलाने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए, जब तक कि वह दूसरों के किसी प्रकार के अधिकार का अतिक्रमण न करे। स्वतन्त्रता समानता का अनिवार्य परिणाम है। व्यक्ति का निर्णय सम्पूर्ण समाज से गौण होने के बावजूद अनिवार्य है। प्रत्येक को विवेक, मत, विवेचन और निर्णय करने की स्वतन्त्रता है। ये व्यक्तिगत निर्णय मिलकर समाज का सामान्य निर्णय बनाते हैं। इस प्रकार जनतन्त्र बहुमत की सरकार है। ये निर्णय सबके लिए समान

लक्ष्यों के विषय में ही संगठित होते हैं, अन्यथा व्यक्ति को उसके अपने विवेक और संकल्प के अनुसार समायोजन करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता है। विवेक के इस स्वतन्त्र प्रयोग के रिवाज से, मनुष्य विवेकशील प्राणी बनना और एक उदार, शक्तिशाली, स्वाभाविक और विवेकयुक्त जीवन के लिए सामान्य समझौता करने के लिए विकसित होना सीख लेते है।

व्यक्तिवाद की असफलताएँ

श्री अरविन्द के अनुसार, ये व्यक्तिवादी आदर्श कुछ व्यावहारिक कठिनाइयो के कारण बहुत लम्बे समय तक नही बने रह पाते। वर्तमान युग अभी इन आदर्शों के लिए तैयार नही है, क्योंकि सामान्य मनुष्य अभी भी बौद्धिक प्राणी होने से बहुत पीछे है। बुद्धेतर भूतकाल से आते हुए, वह सामान्य रूप से अपने विचार में स्वार्थी हितों, आवेगो और पूर्वाग्रहों तथा अन्य लोगों के सुझावों से निर्देशित होता है परन्तु स्वयं अपने विवेक से निर्देशित नहीं होता। दूसरे, मनुष्य अपने विवेक को दूसरों से सहमत होने के लिए प्रयोग नहीं करता बल्कि दूसरों पर अपना अहंकार लादने के लिए प्रयोग करता है। अन्त मे, मनुष्य दूसरों के जीवन से अपने जीवन के समायोजन के लिए अपनी स्वतन्त्रता का प्रयोग नहीं करता बल्कि दूसरों के जीवन से प्रतिद्वन्द्विता करने में अपने लक्ष्यों को बल-पूर्वक लादने के लिए प्रयोग करता है। जैसाकि जे० ए० शुम्पीटर ने लिखा है, "जनतन्त्रीय स्वतन्त्रता राजनीतिक निर्णयों पर पहुँचने के लिए वह संस्थागत व्यवस्था है जिसमे व्यक्ति जनता के मत प्राप्त करने के लिए प्रतियोगी संघर्ष के साधनों से निर्णय लेने की शक्ति प्राप्त कर लेते हैं।"[6] इन सब कठिनाइयों के कारण, व्यक्तिवादी आदर्श मूल तथ्यो के अनुकूल नहीं होते और यह खाई अन्त में असफलता की ओर ले जाती है।

व्यक्तिवादी जनतन्त्र की असफलता

इस प्रकार व्यक्तिवादी जनतन्त्र में, सभी व्यक्ति नहीं बल्कि केवल राजनीतिज्ञो का एक प्रभावशाली वर्ग शासन करता है जबकि बहुमत अज्ञान में फँसा रहता है। जी० डी० एच० कोल के शब्दों में, "राजनीति राजनीतिज्ञों के लिए यह जनतन्त्र की अन्तिम कमजोरी है जिसने कि उसके पैरों के नीचे से उसकी नींव खिसका दी है।"[7] किन्तु क्योंकि समानता और स्वतन्त्रता को और अधिक दबाया नहीं जा सकता इसलिए संसदीय जनतन्त्र की असफलता वर्ग-संघर्ष की ओर ले जाती है। व्यक्तिवादी जनतन्त्र में अन्तर्निहित इस दोष के कारण ही कार्ल मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष की आवश्यकता की घोषणा की। पुन, व्यक्तिवादी जनतन्त्रीय स्वतन्त्रता प्रतियोगिता में वृद्धि की ओर ले जाती है जिसका परिणाम व्यवस्थित संघर्ष के रूप में दिखलाई पड़ता है। इस संघर्ष में आध्यात्मिक अथवा बौद्धिक तत्त्व का बचाव नही होता किन्तु सबसे अधिक सफल प्राणात्मक तत्त्व की जीत होती है। व्यक्तिवादी विवेक समानता और स्वतन्त्रता के जनतन्त्रीय सिद्धान्तों के द्वारा इस परिणाम पर नहीं पहुँचना चाहता था। यह समाज की विवेकयुक्त व्यवस्था नही है और न यह किसी प्रकार से व्यक्ति की पूर्णता ही है

जनतन्त्रीय आदर्शों का योगदान

श्री अरविन्द के अनुसार, जनतन्त्रीय आदर्शों ने जनतन्त्र की असफलताओं के बावजूद मानव-प्रजाति के हित के लिए बहुत-कुछ किया है। सबसे पहले, मानव-इतिहास में पहली बार मनुष्य सक्रिय, और जागृत जन-समाज के रूप में सीधा खड़ा हुआ है। दूसरे, यदि सब नहीं तो अधिकाधिक मनुष्य सब प्रकार के विषयों पर जानते, सोचते, विवेचना करते और निर्णय लेते हैं। जनतन्त्र मनुष्यों को अपने मस्तिष्कों को इस्तेमाल करने और जीवन में अपने विवेक को प्रयोग करने (यद्यपि अभी पर्याप्त रूप से सही और स्पष्ट रूप से नहीं) के लिए प्रशिक्षित करता है। शिक्षा में समानता और जीवन के अवसर अभी पूरी तरह प्राप्त नहीं किए जा सके हैं किन्तु जनतन्त्र के द्वारा लाई गई समानता निश्चय ही उससे कहीं अधिक है जैसी कि वह प्राचीन राज्यों में थी।

जनतन्त्र के परिणाम

श्री अरविन्द के अनुसार, "मनुष्य में बुद्धेतर सत् तीन वस्तुएँ खोजता है, अर्थात् सन्तोष, अपनी शक्तियों का प्रयोग और पुरस्कार तथा अपनी इच्छाओं का भोग। प्राचीन समाजों में ये वस्तुएँ प्रत्येक के द्वारा उसके जन्म, सामाजिक स्थिति और उसके परम्परागत स्तर के अनुसार उसकी योग्यताओं के इस्तेमाल पर निर्भर थीं। आधुनिक समाज में सम्पत्ति एक मात्र शक्ति बन गई है जोकि अन्य सब शक्तियों को जुटा सकती है और सन्तोष दे सकती है, हमारी शक्तियों का इस्तेमाल और पुरस्कार दे सकती है और इच्छाओं का भोग करा सकती है क्योंकि अन्य सब आधार हटा दिए गए है। यह समाज के विघटन की ओर ले गया है। जनतन्त्र के आवरण में धनतन्त्र की प्रवृत्ति बढ़ रही है। समाज की प्राचीन व्यवस्था के स्थान पर एक विशाल संगठित प्रतिद्वन्द्वी व्यवस्था और एक ऊपर से भारी विकास का उद्योगवाद दिखलाई पड़ता है। श्री अरविन्द के अनुसार, "ये व्यक्तिवादी आदर्श और जनतन्त्रीय यन्त्र के अन्तिम परिणाम हैं जोकि विवेक के युग का दीवालियापन दिखलाते हैं।"[8]

मनोवैज्ञानिक निदान

श्री अरविन्द के अनुसार, "यहाँ पर मूल दोष जनतन्त्रीय सिद्धान्तों, शिक्षा और व्यक्तिवाद में नहीं है, बल्कि विवेक को उनका आधार बनाने में है। सामाजिक विकास के इतिहास का अन्तरंग अर्थ मनोवैज्ञानिक है जिसमें विभिन्न तत्त्वों, पहले बुद्धेतर और तब बौद्धिक जीवन को प्रशासित करने का अवसर दिया गया है, लम्बे समय तक परीक्षित किया गया है और कठिनाई से संदिग्ध पाया गया है। जब मनुष्य बुद्धेतर तत्त्वों से बौद्धिक पर पहुँचा तो एक भारी संकट टल गया, यद्यपि यह सीधी रेखा में विकास के द्वारा नहीं हुआ बल्कि विकास की वर्तुलाकार प्रक्रिया में अनेक प्रगतियों और अवगतियों के बाद हुआ। आज मानव-प्रजाति के सन्मुख एक और भी अधिक बड़ा संकट उपस्थित है, क्योंकि विवेक मनुष्य को प्रकृति के नियन्त्रण पर तो ले गया है परन्तु उसे आन्तरिक अधिकार दिलाने में असफल रहा है। बरट्रैण्ड रसल के शब्दों में "हमारी वर्तमान

विडम्बना किसी अन्य बात की तुलना से अधिक इस तथ्य के कारण है कि हमने बहुत दूर तक अपने बाहर की प्रकृति की शक्तियों को समझना और नियन्त्रण करना सीख लिया है, किन्तु उनको नहीं जो स्वयं हमारे अन्दर अवस्थित हैं।"[9] किन्तु रसल तथा अन्य विवेकवादी समाज दार्शनिक यह देखना भूल जाते हैं कि विवेक के द्वारा आन्तरिक शक्तियों का रूपान्तरण, संकलन अथवा पूर्णतया नियन्त्रण नहीं हो सकता। जैसाकि श्री अरविन्द ने संकेत किया है, "विवेक और विज्ञान प्रत्येक वस्तु को एक कृत्रिम रूप से व्यवस्थित और भौतिक जीवन की यन्त्रवत् इकाई के रूप प्रमाणित करके सहायता कर सकते हे। सभी कुछ को सम्पूर्ण जीवन की एक बृहत्तर इकाई में बाँधने के लिए एक बृहत्तर पूर्ण सत्, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण शक्ति की आवश्यकता है।"[10]

व्यक्ति का महत्त्व

यह बृहत्तर तत्त्व मानव-जीवन में केवल व्यक्तियों के माध्यम से अवतरित होगा। श्री अरविन्द के दर्शन में व्यक्ति, समुदाय और मानवता से बँधा हुआ है किन्तु फिर वह इनका अतिक्रमण भी करता है, क्योंकि वह पूर्ण के एक अंश मात्र से अधिक है। "आत्मा अथवा सत् के रूप में व्यक्ति केवल अपने अन्तर्गत मानवता तक ही सीमित नहीं है, वह मानवता से न्यून रहा है, वह मानव से अधिक हो सकता है।"[11] मनुष्य अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए विश्व पर निर्भर करता है; परन्तु उसकी भावी सम्भावनाएँ इतनी अधिक सामाजिक प्रभावों के कारण नहीं हैं जितनी कि उसकी अपनी आत्मा के कारण, उसके अन्दर के निरपेक्ष तत्त्व के कारण हैं जोकि विश्व का अतिक्रमण करता है।

आध्यात्मिक व्यक्तिवाद

इस प्रकार श्री अरविन्द का समाज दर्शन व्यक्ति के मूल्य पर जोर देता है। व्यक्ति विकासात्मक गति की कुँजी है क्योंकि केवल वही सद्वस्तु के प्रति चेतन होता है। समष्टिवादी कहता है, "केवल जनता ही अमर है, प्रत्येक अन्य वस्तु क्षणभंगुर है।"[12] किन्तु जनता अधिचेतन भीड़ है, जोकि सदैव विकसित व्यक्ति से कम-विकसित होती है, केवल विकसित व्यक्ति प्रगति का चेतन अग्रदूत बन सकता है। जनता की प्रगति इस पर निर्भर है कि वह जो कुछ व्यक्तियों ने स्वीकार किया है उसे कहाँ तक स्वीकार करती है। जब तक व्यक्ति अविकसित है वह समाज के, राज्य के अथवा जो कुछ उससे बड़ा है उनके आदेश को मान सकता है, परन्तु जैसे-जैसे वह आध्यात्मिक स्वतन्त्रता मे विकसित होता है, उसे राज्य अथवा समुदाय के अनुरूप होने की आवश्यकता नहीं होती, यद्यपि अन्त में उसकी अपनी पूर्णता समाज की पूर्णता की ओर ले जाती है। श्री अरविन्द के अनुसार, "व्यक्ति की परम आधीनता न तो राज्य के प्रति जोकि एक यन्त्र है और न समुदाय के प्रति होती है जोकि जीवन का एक अंश है और सम्पूर्ण जीवन नहीं है; उसकी आधीनता तो सत्य, अहम् आत्मा, दैवी तत्त्व के प्रति होनी चाहिए जोकि उसमें है और सबमें है: जनता में स्वयं को आधीन करना अथवा खोना नहीं, बल्कि सत के उस सत्य को अपने अन्दर पाना और करना समुदाय और को उसके अपने

सत्य और सत् की सम्पूर्णता की खोज करने में सहायता देना उसके अस्तित्व का वास्तविक लक्ष्य होना चाहिए।"[13] इस प्रकार, श्री अरविन्द के समाज दर्शन में व्यक्ति केवल समाज और मानवता की आध्यात्मिक स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिए ही अपनी स्वतन्त्रता का समर्थन करता है। आध्यात्मिक स्वतन्त्रता आध्यात्मिक एकता से समानुपातिक है। व्यक्तिगत पूर्णता सामाजिक पूर्णता का प्राक्कथन है। श्री अरविन्द का यह आध्यात्मिक व्यक्तिवाद बौद्धिक व्यक्तिवाद और अराजकतावाद से पूर्णतया भिन्न है। वह आध्यात्मिक समाजवाद, आध्यात्मिक साम्यवाद और आध्यात्मिक मानववाद है, क्योंकि आध्यात्मिक तत्त्व सब कहीं वही है।

जनतन्त्रीय समाजवाद

परन्तु चूँकि व्यक्ति की यह सत्यता बौद्धिक व्यक्तिवाद में अनुभव नहीं की गई थी, इसलिए वह समाज के समन्वय को बनाए रखने का कार्य नहीं कर सका। प्राचीन व्यवस्था को एक संगठित प्रतिद्वन्द्वात्मक व्यवस्था के द्वारा हटाए जाने और अधिकाधिक धनिकों के शासन की प्रवृत्ति, बौद्धिक मानस से जनतन्त्रीय व्यक्तिवाद पर ले गई। इस आदर्श में समष्टिवादी जीवन को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया था। प्रजाति का अस्तित्व और वृद्धि परम लक्ष्य माना गया था, व्यक्ति उस लक्ष्य का साधन मात्र था। वह सामाजिक शरीर का एक कोष मात्र था। अस्तु, उसका जीवन बौद्धिक संस्कृति के साँचे में ढाला जाना चाहिए। वह समष्टि के अस्तित्व और कुशलता को बनाए रखने का एक साधन मात्र है।

मार्क्सवादी समाजवाद

पुनः, यही विचारधारा मार्क्सवादी समाजवाद का आधार थी जोकि दुर्भाग्यवश, वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त पर आधारित था, क्योंकि वह पूँजीवाद के विरुद्ध विद्रोह में उत्पन्न हुआ था। मार्क्स और एंगेल्स ने घोषणा की कि, "अब तक अवस्थित समाज का समस्त इतिहास वर्ग-संघर्षों का इतिहास है।"[14] मार्क्सवादी समाजवाद एक वर्गविहीन समाज की स्थापना करना चाहता है जिसमें कि प्रत्येक का स्वतन्त्र विकास सभी के स्वतन्त्र विकास की शर्त है। वह सर्वहाराजन, जनता की सरकार की स्थापना करना चाहता है। परन्तु जनता एक अस्पष्ट शब्द है और इसलिए समाजवादी राज्यों की सरकारें कुछ व्यक्तियों के हाथों में हैं जो प्रभावशाली वर्ग अथवा दल बनाते हैं। रूस में जो वर्ग-संघर्ष जार के उन्मूलन की ओर ले गया वही फिर से स्टालिन के व्यक्तिवाद के विरुद्ध विद्रोह में अभिव्यक्त हुआ यद्यपि उसका रूप भिन्न था। जब तक मनुष्य प्राणात्मक अथवा भौतिक अहंकार की प्रेरक शक्ति से परिचालित होता है, यह मानने का कोई कारण नहीं है कि स्टालिनवाद के विरुद्ध विद्रोह वर्ग-संघर्ष में अन्तिम सोपान है। जब तक मानव-प्रकृति जैसी वह है वैसी ही रहती है, अस्पष्ट जनता से वर्ग उठते रहेंगे और वर्ग-संघर्ष कभी समाप्त नहीं होगा।

मार्क्सवाद का भौतिकवादी आधार

समाजवाद की वास्तविक प्रकृति आरम्भ से ही एक औद्योगिक समाज-व्यवस्था और उसके आर्थिक रूप से भ्रष्ट प्रकार की ओर उन्मुख है। वह इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या का एक सीधा निष्कर्ष है। मार्क्स ने हैगेल को उलटे से सीधा कर दिया ताकि रहस्यवाद के खोल से बुद्धिवादी सत् को प्राप्त किया जा सके।[15] किन्तु उसने जो पाया वह सत् नहीं था बल्कि केवल खोल मात्र था और उसने उसी को वास्तविक सत् मान लिया। मार्क्स ने पूंजीवादी व्यवस्था की अनिवार्य मृत्यु को और मानव के सामाजिक जीवन के भौतिकवादी आधार को पहचान लिया था। परन्तु जड़तत्त्व को समस्त सद् वस्तु, आर्थिक विकास को रामबाण औषधि और वर्ग-संघर्ष को अन्तिम सुलझाव मानकर वे समस्या के वास्तविक रहस्य को भूल जाते हैं। मार्क्स के सिद्धान्त, चाहे वे अपने समय में कितने भी उपयुक्त क्यों न रहे हों, संशोधित बल्कि रूपान्तरित होने चाहिएँ ताकि वे आज की बदली हुई परिस्थितियों में प्रकृति के अन्तरग प्रयोजन को पूरा कर सकें।

मार्क्सवाद का योगदान

सामाजिक जीवन के भौतिक और आर्थिक पहलुओं पर सामयिक जोर देकर मार्क्सवाद ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया परन्तु सम्पूर्ण रोग के निदान के रूप में वह पर्याप्त नहीं है। श्री अरविन्द के अनुसार, "उसकी सच्ची प्रकृति, उसका वास्तविक औचित्य मानव-विवेक पर आधारित समाज की एक विवेकयुक्त व्यवस्था स्थापित करने के प्रयास में है जिससे कि वह पूर्णता प्राप्त कर सकता है, अनियन्त्रित प्रतिद्वन्द्विता के इस भारी शोषण से छुटकारा पाने के संकल्प में हैं, मानव-जीवन के व्यवहार अथवा कोई भी उच्च आदर्श में इस भारी बाधा को हटाने के प्रयास में है।"[16] समाजवाद एक सुसंगठित, आर्थिक संघर्ष के स्थान पर शान्ति की स्थापना करना चाहता है। प्राचीन समाज में, यह शान्ति और व्यवस्था कृत्रिम और आनुवंशिक असमानता के आधार पर स्थापित की गई थी जोकि समान अवसर के नकार के द्वारा लाई गई थी और कर्म अथवा भाग्य के सिद्धान्त अथवा दैवी निर्देशों के आधार पर उचित ठहराई गई थी। आज का मानव इस अन्याय को सहन नहीं कर सकता। सामाजिक व्यवस्था को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर स्थापित करने का प्रयोग असफल हो चुका है। समाजवाद इसी का द्वन्द्वात्मक प्रतिवाद है। श्री अरविन्द के शब्दो मे, "अस्तु समाजवाद को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के जनतन्त्रीय आधार को समाप्त कर देना चाहिए, चाहे वह उसके सम्मान करने का अथवा एक अधिक बौद्धिक स्वतन्त्रता की ओर बढने का दावा करता हो।"[17]

साम्यवाद का स्थानान्तरण

श्री अरविन्द के अनुसार बौद्धिक समाजवाद अपनी अन्तर्निहित द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया से ही साम्यवाद बन जाता है। समाजवाद में, स्वतन्त्रता पर जनतन्त्रीय जोर के स्थान पर समानता पर जोर दिया जाता है। इस परिवर्तन से बौद्धिक समाज के मूलभूत सिद्धान्तो म आमूल-चूल परिवतन हो जाता है में केवल अवसर की

होती है। समाजवाद, इसके साथ ही, स्थिति की समानता की घोषणा करता है, क्योंकि स्थिति ही अवसर की समानता का सच्चा आधार है। स्थिति की समानता व्यक्तिगत अथवा आनुवंशिक सम्पत्ति के अधिकार के विरुद्ध है। अस्तु, समाजवाद निजी सम्पत्ति का उन्मूलन करता है। व्यक्ति नहीं बल्कि समस्त समष्टि सम्पत्ति पर अधिकार रखती और उसका नियोजन करती है। जैसाकि मार्क्स और इंगेल्स ने कहा है, "बिखरी हुई निजी सम्पत्ति का व्यक्तिगत श्रम से उत्पन्न यह रूपान्तरण, पूँजीवादी निजी सम्पत्ति में, स्वभावतया, तुलनात्मक रूप से अधिक सतत, हिंसापूर्ण और कठिन प्रक्रिया है। पूँजीवादी निजी सम्पत्ति के रूपान्तरण की तुलना में, जोकि पहले से ही व्यवहार में समाजीकृत उत्पादन और समाजीकृत सम्पत्ति पर आधारित है, पहले विषय में, हम जनता का कुछ व्यक्तियों के द्वारा बहिष्कार पाते हैं, दूसरे में, हम जनता के द्वारा कुछ शोषकों का बहिष्कार देखते हैं।"[18] इस प्रकार जनतन्त्र, जब तक वह समाजवादी न हो, पूँजीवाद बन जाता है, और पूँजीवाद अपने प्रतिवाद सम्पत्ति के साम्यवाद की ओर ले जाता है। परन्तु निजी सम्पत्ति के उन्मूलन का औचित्य सिद्ध करने में, जोकि एक ऐसा तर्कवाक्य है जोकि स्वयं अनुचित नहीं है, साम्यवाद वहाँ तक पहुँच जाता है जहाँ पर कि समाज के सदस्य और यन्त्र के अतिरिक्त व्यक्ति के अस्तित्व तक से इनकार किया जाता है। न केवल सम्पत्ति, बल्कि श्रम-शक्तियाँ, शिक्षा और उसकी सम्प्राप्तियाँ, मानव ज्ञान और मनुष्य का जीवन तथा उसकी पत्नी और बच्चों का जीवन भी समाज का मान लिया जाता है। मनुष्य के समाज मे उचित और विवेकयुक्त समायोजन के लिए व्यक्ति के विवेक और संकल्प पर विश्वास नही किया जा सकता। अस्तु, समष्टिगत तार्किक मानस और संकल्प न केवल आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था के विस्तार को बल्कि सामाजिक व्यवस्था और व्यक्तियों के प्राणात्मक, नैतिक और बौद्धिक सर्तों की व्यवस्था को भी निश्चित करते हैं। मनुष्य सामाजिक शरीर का एक केवल गतिशील, चिन्तनशील और अनुभूतिमय कोष मात्र मान लिया जाता है। एक पूर्ण विवेकयुक्त समाज की एक समन्वित विश्व में व्यवस्था को प्राप्त करने के लिए व्यक्तिवादी जीवन के अहंकार पर विजय प्राप्त करने के लिए यही एक मात्र मार्ग मान लिया जाता है।

समाजवादी जनतन्त्र

निःसन्देह इस अतिवाद को अधिक जनतन्त्रीय समाजवादियों ने प्राचीन जनतन्त्रीय विचारों के प्रभाव के कारण नहीं अपनाया। समाजवादी जनतन्त्र सीमित किन्तु विवेकयुक्त व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और समष्टिवादी विचार की कठोरता के मध्य एक प्रकार का समझौता कराने का प्रयास करता है। किन्तु, जैसाकि श्री अरविन्द ने कहा है, "अन्त में यदि समष्टिवादी विचार को रहना है और यात्रा के मध्य में रुकना अथवा लडखड़ाना नहीं है तो सभी चीजें इन कठोरताओं तक पहुँच जाएँगी।"[19] जनतन्त्रीय समाजवादियों अथवा समाजवादी जनतन्त्रवादियों का समाजवादी अनुशासन और जनतन्त्रीय स्वतन्त्रता के परस्पर विरोधी सिद्धान्तों के मध्य यह समझौते का प्रयास ही अनेक देशों में फी का कारण रहा है व्यक्तिवादी के समान

समष्टिवादी विचार ने भी अपने सर्वोत्तम रूप में, कुछ ऐसे तत्त्वों का समर्थन किया है जो कि मानव-जीवन और प्रकृति के वास्तविक तथ्यों से असमीचीन हैं। मनुष्य लम्बे समय तक अपने जीवन पर आरोपित किसी भी ऐसी योजना को सहन नहीं कर सकता जो उसकी वास्तविक प्रकृति के विरुद्ध है। व्यक्तिवादी जनतन्त्र ने राज्य द्वारा सुरक्षित जनतन्त्रीय स्वतन्त्रता दिलाने का प्रयास किया है। समाजवादी जनतन्त्र राज्य के माध्यम से एक सामाजिक और राजनीतिक समानता लादने का प्रयास करता है। पहले की असफलता दूसरे की ओर ले जाती है और श्री अरविन्द के अनुसार, दूसरे की असफलता विवेकयुक्त और जनतन्त्रीय विचार को एक तीसरे प्रकार के समाज के प्रयोग की ओर ले जाएगी जिसमें बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक अराजकतावाद होगा। एक बौद्धिक अराजकतावाद का विचार स्वयं कार्ल मार्क्स ने भी माना था यद्यपि यह समझना कठिन है कि राजकीय समाजवाद के माध्यम से उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है।

जनतन्त्र और समाजवाद में विरोध

श्री अरविन्द के अनुसार, समाजवाद स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के जनतन्त्रीय सिद्धान्तों के विरुद्ध है। ये व्यक्ति की माँगें हैं और समष्टिवादी आदर्श में अन्तर्निहित नहीं हैं। व्यक्ति मानस, जीवन और कार्य के संकल्प की स्वतन्त्रता माँगता है, राज्य अपनी प्रकृति से ही इनका नियन्त्रण करने के लिए अधिकाधिक बाध्य होता है जब तक कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पूर्णतया समाप्त नहीं हो जाती। सामाजिक विवेक के द्वारा यही किया गया। केवल समाजवादी व्यवस्थाओं में व्यक्ति की एक दूसरी माँग समानता को पूरा किया गया। जनतन्त्र ने स्वतन्त्रता दी, परन्तु उसने केवल कानूनी और राजनीतिक पहलुओं में समानता प्रदान की। समाजवाद ने समानता दी, परन्तु केवल उतनी स्वतन्त्रता दी जो समानता का उन्मूलन न करे। किन्तु अन्त में, यह समानता भी सामाजिक कल्याण मे स्वतन्त्रता के आदर्श से कम बाधक नहीं पाई गई। केवल जिसे अपनाने का अवसर नहीं आया था वह जनतन्त्रीय सिद्धान्तों में तीसरा सिद्धान्त भ्रातृत्व है। यदि व्यवहार मे नहीं तो कम-से-कम सिद्धान्त रूप में समाजवादी और साम्यवादी स्वतन्त्रता और समानता के उन्मूलन के बावजूद भ्रातृत्व पर जोर देते हैं। परन्तु, जैसाकि श्री अरविन्द ने संकेत किया है, "स्वतन्त्रता और समानता के बिना भाईचारा सभी व्यक्तियों के समान साहचर्य, क्रियात्मक वर्गों, व्यावसायिक संघों और समितियों, सोवियतों अथवा अन्य प्रकार की इकाइयों में राष्ट्र के जीवन की समष्टिवादी राज्य के निरपेक्ष नियन्त्रण के आधीन सामान्य सेवा से अधिक और कुछ नहीं है।"[20] इस प्रकार समाजवादी राज्यों मे, स्वतन्त्रता राज्य के निर्देशन में समुदाय की सेवा करने की स्वतन्त्रता बन जाती है, समानता कार्यों की सैद्धान्तिक समानता है, भ्रातृत्व राज्य की समान सेवा से उत्पन्न भाईचारे की भावना है किन्तु वास्तव में यह तो उन सिद्धान्तों का निषेध है जोकि जनतन्त्र के लिए तो आवश्यक हैं किन्तु समष्टिवादी आदर्श में इतने अनिवार्य नहीं हैं।

सर्वाधिकारवाद

श्री अरविन्द के अनुसार, सर्वाधिकारवाद समाजवादी अथवा समष्टिवादी विचार का पूर्ण और अनिवार्य भविष्य है। समाजवाद का सार समाज के समस्त जीवन को समग्र में और विस्तार में समष्टिगत विवेक और संकल्प के द्वारा अनुशासित और संगठित करना है। यह सब प्रकार की आन्तरिक प्रतियोगिता, शोषण, अव्यवस्था और बरबादी का उन्मूलन करता है, यह समस्त जीवन के लिए पर्याप्त समायोजन को लागू करता और पूर्ण बनाता है। श्री अरविन्द इस तथ्य की अवहेलना नहीं करते कि कुछ राज्यों में जनतन्त्रीय सिद्धान्तों के द्वारा समाजवादी आदर्श को प्राप्त करने का प्रयास किया गया है, और वे आशा करते हैं कि शायद यह सफल हो जाए। परन्तु वे चेतावनी देते हैं, "यदि एक गैर-जनतन्त्रीय राज्य-व्यवस्था और यन्त्र इस प्रयोजन को अधिक अच्छी तरह पूरा करते हुए पाए गए, तो समष्टिवादी मानस के लिए जनतन्त्रीय आदर्श में आन्तरिक रूप से ऐसा कुछ भी पवित्र नहीं है कि वह उसे कूड़े के ढेर में न फेंक दे जहाँ उसने अन्य अनेक पवित्रताओं को फेंक रखा है।"[21] अनेक राज्यों में जनतन्त्रों के स्थान पर तानाशाही शासनों की स्थापना को देखते हुए श्री अरविन्द की यह चेतावनी सामयिक प्रतीत होती है। रूसी साम्यवाद ने एक वर्गविहीन समाज में सभी के लिए समानता के सर्वहारा आदर्श को सुरक्षित रखा है परन्तु उसकी प्रेरणा जनता की तानाशाही के आधार पर, जिसका कि अर्थ वास्तव में साम्यवादी दल की तानाशाही है, एक कठोर सर्वसत्ताधिकारवाद की स्थापना करना है। सर्वहाराजन की तानाशाही वास्तव में जनतन्त्रीय समानता का भी उन्मूलन कर देती है।

एक नवीन प्रवृत्ति

कार्ल मार्क्स का समाजवाद एक तर्कयुक्त और व्यवस्थित चिन्तन से निकाली हुई एक बौद्धिक व्यवस्था थी। किन्तु रूसियों ने उसे एक सामाजिक धर्म, एक समष्टिवादी रहस्यवाद में रूपान्तरित कर दिया है। बुद्धिवाद से हटी हुई यह नवीन प्रवृत्ति बौद्धिक युग की मृत्यु का चिह्न है। यह परिवर्तन फासीवादी राज्यों में, उनके सर्वसत्ताधिकारवादी राष्ट्रीय आत्मा के नाम पर रहस्यवाद में अधिक स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ती है। साम्यवादी और फासीवादी दोनों ने ही जनता के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन को एक पूर्णतावादी कठोर संगठन में बाँध दिया है जिसमें विचार, शिक्षा, अभिव्यक्ति और क्रिया को एक लोहे के शिकंजे में जकड़ लिया गया है, जिसमें सभी मतभेदों का दमन किया गया है, यदि व्यक्तिगत विवेक की स्वतन्त्रता का यह निषेध सार्वभौम बन जाता है तो निश्चय ही वह विवेक के युग का अन्त होगा। रूस में स्टालिन के व्यक्तिवादी तन्त्र के विरुद्ध निकट भूतकाल की कुछ गतिविधियाँ तथा पिछले विश्वयुद्ध में जर्मनी और इटली में फासीवादियों की हार से प्रगति की एक अधिक स्वाभाविक रेखा फिर से बन गई है जोकि विवेक के युग को और अधिक लम्बा खींच रही है। उसने आत्मनिष्ठवाद को भी विकसित होने का अवसर और समानता दी है ताकि वह मानव

के सामाजिक विकास के वर्तुल को उस स्थान पर पकड़ ले जहाँ पर कि विवेक का युग स्वभावतया समाप्त होता है।

समष्टिवादी विचार का मूल्य

व्यक्ति को अत्यधिक महत्त्व देने के बावजूद श्री अरविन्द समष्टिवादी विचार के मूल्य से अपरिचित नहीं थे। जनतन्त्र और समाजवाद की आलोचना के पीछे काम करता हुआ उनका मूल विचार सामाजिक जीवन के निर्देशक तत्त्व के रूप में विवेक की अपर्याप्तता है। जब तक विवेक समन्वय का आधार माना जाता है, वह यहाँ अथवा वहाँ अवश्य ठोकर खाता है, चाहे किसी भी प्रकार की सामाजिक व्यवस्था क्यों न बनाई गई हो। श्री अरविन्द के अनुसार, "विकासवादी प्रेरणा पार्थिव जीवन में विश्वगत शक्ति के एक ऐसे विकास की ओर ले जा रही है जिसके लिए आधार रूप से एक बृहत्तर मानसिक और प्राणात्मक सत्य, एक अधिक व्यापक मानस, एक बृहत्तर, व्यापक तथा अधिक चेतन एकीकृत प्राणात्मा, अणिमा की आवश्यकता है और उसके लिए भी उसके अन्तर्गत एक आधारभूत आत्मा और उसको बनाए रखने के लिए आध्यात्मिक आत्मा के अनावरण की आवश्यकता है।"[22] इस सिद्धान्त के आधार पर ही व्यक्तियों, राष्ट्रों और मानवता में एक सच्चे समन्वय की स्थापना की जा सकती है।

समाज का समष्टिवादी विचार इस मूलभूत तथ्य पर आधारित है कि व्यक्ति अपनी शक्तियों का प्रयोग और विकास केवल समाज से सम्बन्ध में ही कर सकता है। व्यक्तियों का संगठन सामान्य शुभ में अधिक कुशलता और प्रगति की ओर ले जाता है। समष्टिवादी विवेक और संकल्प का आज्ञापालन निश्चय ही संकीर्ण अहंकार के जीवन से बेहतर है और एक सीमा तक मनुष्य को अवश्य ही समाज और राज्य की आज्ञाओं का पालन करना चाहिए।

केन्द्रीय दोष

समष्टिवादी आदर्श और व्यक्तिवादी सिद्धान्त में प्रमुख भूल यह है कि, "वह मानव प्राणी की जटिलता और उस जटिलता का जो कुछ अर्थ है उसकी अवहेलना करती है।"[23] मनुष्य न केवल शरीर, जीवन और मानस है बल्कि एक आत्मा भी है जिसकी सर्वोच्च आवश्यकता स्वतन्त्रता है। शरीर, जीवन और मानस इन निम्न सदस्यों का नियन्त्रण इस स्वतन्त्रता के लिए अनिवार्य है किन्तु यह नियन्त्रण आत्म-नियन्त्रण है। पुनः, समुदाय के भी न केवल शरीर, प्राण और मानस है बल्कि आत्मा भी है, किन्तु कोई सामान्य विवेक अथवा संकल्प नहीं है। समूह मानस और सामान्य संकल्प की धारणाएँ सामान्य विवेक और संकल्प के अर्थ में समकालीन समाज मनोवैज्ञानिकों द्वारा खण्डित की जा चुकी हैं। श्री अरविन्द के अनुसार, "समूह आत्मा अपनी प्रवृत्तियों को मतों की विविधता, संकल्पों की विविधता, जीवन की विविधता से पूरा करता है।"[24] अस्तु, जनता की सरकार सदैव कुछ व्यक्तियों की सरकार होती है, चाहे उनकी संख्या सैद्धान्तिक रूप से बहुमत हो या अल्पमत हो। जनतन्त्रीय, समाजवादी अथवा साम्यवादी
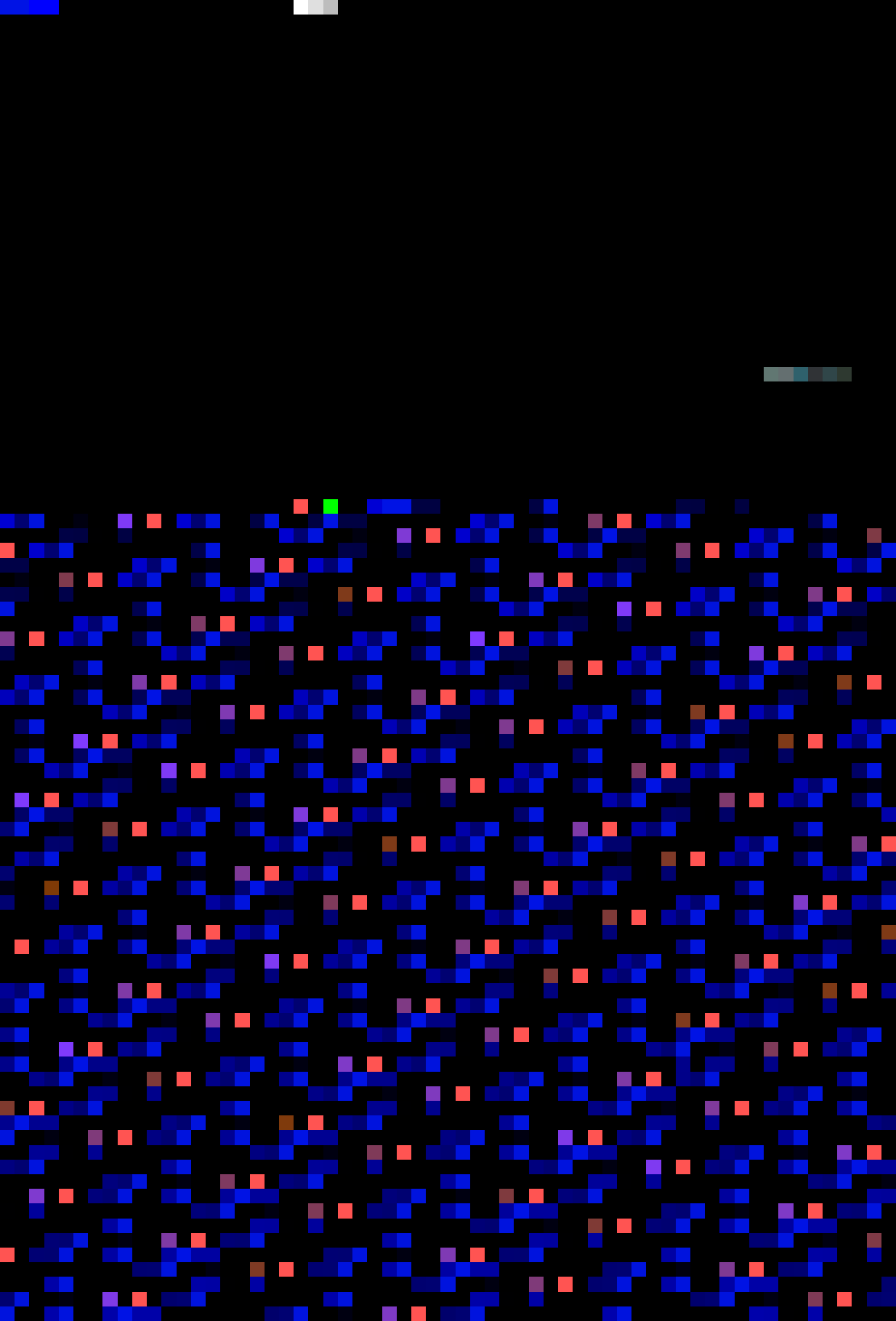
राज्य में कभी भी सामान्य विवेक अथवा सामान्य संकल्प शासन नहीं करता बल्कि सदैव कुछ थोड़े से प्रभावशाली व्यक्तियों का विवेक और संकल्प शासन करता है। राज्य की सरकार में अल्पमत के द्वारा बहुमत और बहुमत के द्वारा अल्पमत का दमन होता ही है। जनतन्त्रीय स्वतन्त्रता ने राज्य को सीमित किया और व्यक्ति को स्वतन्त्रता दी। समष्टि-वाद ने व्यक्ति को सीमित किया और राज्य को स्वतन्त्रता दी जोकि समष्टि का प्रतिनिधि माना गया है। जैसे-जैसे व्यक्तिगत विवेक विकसित होता है, स्वतन्त्रता और विविधता की आवश्यकताएँ अनुभव की जा सकती हैं यद्यपि इन आवश्यकताओं का दूसरों के लिए हानिकारक होना आवश्यक नहीं है। कार्य की स्वतन्त्रता के अभाव में विचार की स्वतन्त्रता एक असहनीय विरोध और झूठ की ओर ले जाती है, जोकि यद्यपि कुछ तात्कालिक लाभों के कारण कुछ समय के लिए नियन्त्रित हो जाता है, अन्त में स्पष्टतम और तीव्रतम मानसों और यहाँ तक कि जनता में विद्रोह की ओर ले जाएगा। यह अराजकतावादी विचार की ओर ले जा सकता है जोकि समाजवादी व्यवस्था का दमन करता है। राज्य शैक्षिक यन्त्र तथा विचारों और चिन्तन की स्वतन्त्रता के दमन से इस आन्दोलन का मुकाबला कर सकता है। किन्तु यह दमन या तो एक विवेकशील समाज मे प्रभावहीन हो जाएगा अथवा यह निदान उस अशुभ में ही बदतर सिद्ध होगा जिसका वह मुकाबला करता है क्योंकि उसका अर्थ विवेक के युग और बौद्धिक समाज के आदर्श को समाप्त करना है। समष्टिवादी का यह केन्द्रीय दोष है जोकि जीवन को पूर्णतया यन्त्रवत् बनाना चाहता है। सामाजिक विकास के मनोविज्ञान की दृष्टि से यह विवेक का अन्तर्निहित दोष है। बुद्धि के सिद्धान्त भौतिक प्रकृति से निपट सकते हैं परन्तु वे जीवन के क्षेत्र में नितान्त असफल होते हैं क्योंकि वह एक गतिशील, प्रगतिशील और विकासमान शक्ति है। जीवन के एकीकरण का सिद्धान्त केवल जीवन मूल्यों के आत्मा के मूल्यों में रूपान्तरित सही पाया जा सकता है क्योंकि केवल वहीं पर विरोधियों में समन्वय किया जा सकता है। समाज की एक बौद्धिक व्यवस्था निःसन्देह समाजों की बुद्धेतर व्यवस्थाओं से आगे है, परन्तु वह कभी भी स्वयं अपनी प्रणालियों से पूर्णता पर नहीं पहुँच सकती।

बौद्धिक अराजकतावाद

श्री अरविन्द के अनुसार जैसे-जैसे व्यक्ति पर समाज का दबाव बढ़ता है, वैसे-वैसे अराजकतावादी विचार उत्पन्न होता है। महत्वहीन, स्थूल, प्राणात्मक अराजकता-वाद के अतिरिक्त बौद्धिक अराजकतावादी विचार सभी प्रकार की सरकार का खण्डन करता है और मनुष्य के प्राकृतिक से अप्राकृतिक तथा जीवन के कृत्रिम सिद्धान्त पर पतन के लिए सामाजिक सिद्धान्त को उत्तरदायी ठहराता है। श्री अरविन्द के अनुसार, अराजकतावाद ने व्यक्ति पर विशेष जोर दिया है और व्यक्ति के विकास मे समाज के योगदान को भुला दिया है। अराजकतावादी अपने सिद्धान्त को इस प्राचीन आस्था पर आधारित करते हैं कि मनुष्य मूल रूप से पवित्र और पूर्ण था। परन्तु सभी दार्शनिकों ने जोकि इस मूल पूर्णता का समर्थन करते हैं, बाद मे एक पतन की अवस्था

मानी है जोकि राज्य के नियन्त्रण की ओर ले जाती है। इस प्रकार मनुष्य का पतन सामाजिक तत्त्व के कारण नहीं था, बल्कि सामाजिक तत्त्व और राज्य ही मनुष्य के पतन के निदान के रूप में लाए गए थे। दूसरी ओर यदि हम श्री अरविन्द तथा अन्य समकालीन दार्शनिकों के साथ यह मान लेते हैं कि मानव का विकास एक क्रमिक आरोहण है तो सामाजिक तत्त्व को बुद्धेतर से बुद्धि की अवस्था तक मनुष्य की प्रगति में महत्त्वपूर्ण योगदान देना चाहिए। जीवन के अराजकतावादी सिद्धान्त के लिए मनुष्य केवल तभी तैयार हो सकता है जबकि उसकी बुद्धेतर प्रकृति पर किसी उच्चतर तत्त्व का प्रशासन हो। निःसन्देह यह विकास स्वयं मनुष्य के आन्तरिक नियम के पक्ष में सरकारी दबाव के उन्मूलन की आवश्यकता रखता है। किन्तु आन्तरिक नियम वह सिद्धान्त नहीं है जिस पर बौद्धिक अराजकतावाद टिका हुआ है। वह तो प्रकाशमान विवेक और मानव-सहानुभूति पर टिका हुआ है, जिनमें से पहला स्वतन्त्रता और समानता तथा दूसरा भ्रातृत्व और सहयोग उत्पन्न करता है। अराजकतावादी विचारकों ने मनुष्य में बुद्धेतर तत्त्वों, प्राणात्मक अहंकार की शक्ति को पर्याप्त रूप से अनुभव नहीं किया है जोकि आदर्शवादी विवेक की समस्त गणनाओं को व्यर्थ बना देता है। व्यक्तिवाद और समष्टिवाद के समान अराजकतावाद भी मनुष्य की जटिल प्रकृति को भुला देता है। जब तक विवेक उसका आधार है, यह केवल काल्पनिक विचार है कि राज्य "सूख जाएगा।"[25] यह समझना कठिन है कि मार्क्सवादी व्यवस्था कैसे कठोर समष्टिवाद अथवा अराजकतावाद में गिरने से बच सकती है।

आध्यात्मिक अराजकतावाद

विकल्प के रूप में एक आध्यात्मिक अराजकतावाद का सुझाव दिया जा सकता है, किन्तु अराजकतावाद शब्द में अनियन्त्रणवाद और नियन्त्रण के पूर्ण अभाव की गन्ध आती है। पुनः, आध्यात्मिकता को बहुधा कठोरतावाद और बुद्धेतर तत्त्वों का दमन मान लिया गया है जोकि आन्तरिक सर्वांग स्वतन्त्रता के विरुद्ध है जोकि आध्यात्मिक विकास का सार है। आध्यात्मिक अराजकतावाद के इस सिद्धान्त को सामाजिक व्यवस्था के सिद्धान्त के रूप में समुचित रूप से विकसित नहीं किया गया है। यह केवल समय-समय पर कुछ सन्तों और धार्मिक व्यक्तियों जैसे कि मोहनदास कर्मचन्द गांधी इत्यादि के विचारों में पाया जाता है। धर्म ने सब-कहीं और सदैव उसकी माँग की है।

निष्कर्ष

अस्तु, समस्या का सुलझाव मनोवैज्ञानिक है। जैसाकि श्री अरविन्द ने संकेत किया है, "एक आध्यात्मिक, एक आन्तरिक स्वतन्त्रता ही एक पूर्ण मानव-व्यवस्था उत्पन्न कर सकती है।"[26] आध्यात्मिक स्वतन्त्रता जनतन्त्र के सिद्धान्तों, स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व का ठोस आधार है। वह प्राप्त हो जाने पर अब तक बतलाई गई सभी समस्याएँ स्वभावतया सुलझ जाएँगी। केवल आध्यात्मिक भ्रातृत्व ही मनुष्य को एक पूर्ण समन्वित समाज की ओर ले जा सकता है। मानव का वर्तमान संकट विकासवादी है। उसकी समस्त समस्या मनोवैज्ञानिक है। वास्तविक सुलझाव उसकी

चेतना का आध्यात्मिक विकास है, यद्यपि भौतिक और मानसिक विकास आध्यात्मिक विकास की एक आवश्यक शर्त है क्योंकि आरोहण सर्वांग होता है। आत्मतत्त्व सभी का आन्तरिक सार है। विविधता में एकता उसकी प्रकृति है। उसकी प्रकृति व्यक्ति की पूर्णता को समाज से पृथक् करके नहीं बल्कि सार्वभौम प्रकृति में प्राप्त करना है। इसी सिद्धान्त के आधार पर सच्चे साम्यवाद और व्यक्तिवाद में समन्वय किया जा सकता है। यही सामाजिक विकास के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में श्री अरविन्द का निष्कर्ष है। इस अध्याय में दिया गया विवेचन सुलझाव की अनिवार्यता दिखलाता है, चाहे उसे प्राप्त करना कितना ही कठिन क्यों न हो। जैसाकि श्री अरविन्द ने संकेत किया है, "यह आवश्यक नहीं है; परन्तु किसी भी मामले मे, यदि यह सुलझाव नहीं है, तो कोई भी सुलझाव नहीं है, यदि यह मार्ग नहीं है, तो मानव-प्रजाति के लिए कोई भी मार्ग नहीं है।"[27] और यह मानने का कोई कारण नही है कि यह सम्भव नहीं है। सच तो यह है कि आरम्भ हो ही चुका है। वर्तमान समाज में आत्मनिष्ठ प्रवृत्ति, आध्यात्मिक सुलझाव को मान्यता देने की बढ़ती हुई प्रवृत्ति तथा यहाँ और वहाँ पर आध्यात्मिक व्यक्तियों का उदय सुनिश्चित लक्षण हैं। श्री अरविन्द के शब्दो में, "यदि उत्पन्न हुआ प्रकाश बढ़ता है, यदि उन व्यक्तियों की संख्या बढ़ती है जोकि इस सम्भावना को स्वयं अपने में और जगत में साक्षात्कार करना चाहते हैं और वे सही मार्ग के अधिक निकट पहुँचते हैं, तो आत्मा जो कि यहाँ मनुष्य मे है, जोकि अब एक आवृत्त दैवी तत्व, एक विकासमान प्रकाश और शक्ति है, मानव-प्रजाति की आत्मा में ऊपर से अभी तक न देखे हुए और अनुमान न लगाए हुए ईश्वर के अवतार के रूप में तथा महान् व्यक्तियों में अवरित होगी जिनमें कि प्रकाश और शक्ति सबसे अधिक बलवान है।"[28]

व्यावहारिक कठिनाइयाँ विचार द्वारा स्पष्ट और बलपूर्वक सुनिश्चित किए गए सिद्धान्त की सम्भावना में सन्देह करने का पर्याप्त आधार नहीं हैं। कठिनाइयाँ या तो प्रयास की कमी अथवा प्रणालियों में गलतियाँ दिखलाती हैं। केवल निम्न स्तर पर ही वे मानव की सीमाओं के चिह्न हैं। आध्यात्मिक स्तर पर मानव की सम्भावनाओं की कोई भी सीमा नहीं है। आवश्यकता यह है कि नवीन लक्ष्यों के अनुरूप प्रणालियों में परिवर्तन किया जाए। वर्तमान प्रणालियों का एक आलोचनात्मक मूल्यांकन, आध्यात्मिक आदर्श का साक्षात्कार करने के लिए एक उपयुक्त प्रणाली की खोज, इस पुस्तक में आगे दी जाएगी।

7

सामाजिक विकास का आधार

"व्यक्तिगत और सामाजिक मानव-अस्तित्व का आदर्श आनन्द, शक्ति, प्रेम, प्रकाश, परात्पर और सार्वभौम आत्मा के सौन्दर्य की एक चेतन अभिव्यक्ति के रूप में उसका प्रगतिशील रूपान्तरण होगा।"[1] —श्री अरविन्द

लक्ष्य को स्पष्ट करने की आवश्यकता

प्रणालियों की खोज के पूर्व समाज दर्शन को सामाजिक विकास का परम लक्ष्य स्पष्ट करना चाहिए क्योंकि ये प्रणालियाँ स्वयं उस लक्ष्य के अनुरूप आयोजित की जाएँगी। मानव-जीवन के परम आदर्श के रूप में स्पष्टीकरण की यह कमी ही मानव-जीवन की वर्तमान अवस्थाओं तथा उसके भावी भाग्य के अर्थ की व्याख्या करने के विषय में इतने अधिक परस्पर विरोधी सिद्धान्तों के कारण है। समाज दर्शन मे जीवन के इस परम लक्ष्य को आध्यात्मशास्त्रीय सत्यों पर आधारित किया जाना चाहिए क्योंकि मनुष्य का एक मानव-पूर्व इतिहास है और मानव से परे भविष्य है। मानव-जीवन विश्व के इतिहास में कोई पृथक् घटना नहीं है। अस्तु, उसका उद्देश्य वही होना चाहिए जोकि प्रकृति का है, जिसकी कि वह सृष्टि है। मानव का लक्ष्य प्रकृति के उस प्रयोजन को पूरा करना है जोकि वह उसके माध्यम से खोजती है। प्रकृति के इस प्रयोजन को सद्वस्तु के सर्वांग ज्ञान से प्राप्त किया जा सकता है। आध्यात्मशास्त्र के अतिरिक्त इतिहास दर्शन, मानव-मनोविज्ञान तथा सामाजिक विकास का मनोविज्ञान भी परम लक्ष्य मे अन्तर्दृष्टि प्रदान करते हैं। इन सभी तत्त्वों का पिछले अध्यायों में विवेचन करने के पश्चात् और सामाजिक विकास की विभिन्न प्रणालियों का विवेचन आरम्भ करने से पूर्व प्रस्तुत अध्याय में सामाजिक विकास के आदर्श का स्पष्टीकरण किया जाएगा।

सद्वस्तु का सर्वांग ज्ञान

श्री अरविन्द के समाज दर्शन में जीवन का आदर्श सद्वस्तु के सर्वांग ज्ञान पर आधारित है। सर्वांग ज्ञान सत् के सभी तत्त्वों, जड़तत्त्व, प्राणतत्त्व, मानस, चैत्य और आत्मा का ज्ञान है। वह एक सर्वांग सद्वस्तु पर आधारित है जिसकी विवेचना पीछे तृतीय में की जा चुकी है वह सत और सम्भूति कालातीत और

और विश्वमय, एक और अनेक का ज्ञान है। वह सबके अन्तर्गत और सबसे परे मूलभूत सद्वस्तु की चेतना है। वह आदर्शवाद और यथार्थवाद तथा सर्वांग तत्त्व के अन्य सभी परिप्रेक्ष्यों का समन्वय है। वह हमारे सम्पूर्ण अस्तित्व का आत्मा के सत्य से सम्बन्ध मे और प्रत्येक के सम्पूर्ण से सम्बन्ध में तथा पृथक् भी ज्ञान है। सर्वांग ज्ञान सप्तांग अज्ञान से मुक्ति है।

सप्तांग अज्ञान

इस प्रकार अज्ञान की धारणा मानव-प्रयास और प्रकृति का लक्ष्य निर्धारित करती है क्योंकि मानव-जीवन अज्ञान के द्वारा आत्मनिषेध और ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया है। यह अज्ञान, जैसाकि तृतीय अध्याय में दिखलाया जा चुका है, सप्तांग है— भौतिक अज्ञान, विश्वगत अज्ञान, अहंकारी अज्ञान, कालात्मक अज्ञान, मनोवैज्ञानिक अज्ञान, संरचना सम्बन्धी अज्ञान और व्यावहारिक अज्ञान। जीवन में मनुष्य का लक्ष्य इस सप्तांग अज्ञान को सप्तांग ज्ञान से दूर करना है अर्थात् मौलिक, विश्वगत, अहंकारगत, कालिक, मनोवैज्ञानिक, संरचना सम्बन्धी और अन्त में व्यावहारिक ज्ञान। श्री अरविन्द के अनुसार, "यह चेतन आध्यात्मिक विकास की प्रणाली और परिणाम, अज्ञान के जीवन का सत्य चेतन आत्मा के दैवी जीवन में रूपान्तरण, मानसिक से आध्यात्मिक और अतिमानसिक जीवन की प्रणाली, सप्तांग ज्ञान से एक आत्मविस्तार प्रतीत होता है।"[2] यह सप्तांग ज्ञान मानसिक ज्ञान नहीं बल्कि अनुभव, सम्भूति, चेतना और सत् का परिवर्तन, मनुष्य-समुदाय और मानवता का आध्यात्मिक विकास है। यही वह प्रयोजन है जिसको प्रकृति मानव-जीवन में खोजती है। स्पष्ट है कि मानव-जीवन के लक्ष्यों के विषय में मनुष्य की जटिल प्रकृति के अनेक पहलुओं में से किसी एक या अधिक पर आधारित सिद्धान्त अज्ञान अथवा आंशिक ज्ञान पर आधारित होते हैं। अस्तु, जीवन के समकालीन सिद्धान्तों की व्यापक विविधता में से कुछ का नाम लिया जाए तो जड़वादी, कठोरतावादी, फलवादी, रहस्यवादी, व्यवहारवादी, प्रयोजनवादी और मानववादी, साधनवादी, अस्तित्ववादी और व्यक्तिवादी, समाजवादी और अराजकतावादी केवल कुछ सीमित दृष्टिकोणों से सत्य हैं और इसलिए केवल आंशिक सत्य हैं। जीवन का एक सर्वांग दर्शन ही जीवन का वास्तविक लक्ष्य प्राप्त कर सकता है। श्री अरविन्द के समाज दर्शन में सामाजिक विकास का आदर्श सप्तांग अज्ञान के खण्डन और सप्तांग सर्वांग ज्ञान के साक्षात्कार पर आधारित है। यही श्री अरविन्द के दृष्टिकोण का सिद्धान्त, औचित्य और महत्त्व है। जैसाकि वे कहते हैं, "मनुष्य स्वयं को विश्व में स्थापित करने के लिए है, यह उसका पहला कार्य है, परन्तु विकसित होना और अन्त में अपने से आगे बढ़ना भी उसका कार्य है; उसे अपने आंशिक सत् को व्यापक करके एक पूर्ण सत्, अपनी आंशिक चेतना को एक सर्वांग चेतना बनाना होगा; उसे अपने परिवेश पर अधिकार ही नहीं करना है बल्कि विश्व-एकता और विश्व-समन्वय भी प्राप्त करना है; उसे अपने व्यक्तित्व का साक्षात्कार ही नहीं करना बल्कि उसका विस्तार भी करना है ताकि वह एक विश्वगत आत्मा और अस्तित्व के आध्यात्मिक आनन्द मे सार्वभौम बन जाए[3]

ईश्वर, मनुष्य और प्रकृति

अस्तु, जीवन का परम लक्ष्य सर्वांग सद्वस्तु की चेतना, ईश्वर, आत्मा और प्रकृति के त्रिविध तत्त्वों से चेतन एकता है। यह विकासवादी लक्ष्य है, क्योंकि आत्मा का अवरोहण आरोहण का आरम्भ है। किन्तु यह सर्वांग विकास एक ही साथ प्राप्त नहीं होगा क्योंकि वह विकास के सिद्धान्त के विरुद्ध है। अस्तु, प्रकृति में चेतना धीरे-धीरे विकसित हुई है जब तक कि मनुष्य में प्रकृति को आत्मचेतना प्राप्त हो गई है। अब मनुष्य में प्रगति क्रमशः होनी चाहिए यद्यपि यह पिछले प्रयासों से अधिक तीव्र होगी क्योंकि पार्थिव प्रकृति में मनुष्य का जन्म एक महत्त्वपूर्ण स्थिति है, एक विशेष मोड़ है। इस प्रकार मानव-जीवन का उद्देश्य स्वयं की, ईश्वर की और प्रकृति की खोज है, अलग-अलग भी, एक साथ भी और सर्वांग रूप में भी। मनुष्य का इतिहास इस त्रिविध सत्ता की चेतन या अचेतन खोज का इतिहास रहा है। उसके सामाजिक कार्यकलाप, कला, नैतिकता, विज्ञान, धर्म तथा उसके मानसिक, प्राणात्मक, भौतिक और आध्यात्मिक अस्तित्व की सभी विविध क्रियाओं का सीमित आदर्शों के पीछे इसके अतिरिक्त कोई लक्ष्य नहीं है। मानव के सामाजिक विकास का परम लक्ष्य वह नहीं है जिसको कि उसकी नैतिकता, धर्म, कला और दर्शन ने अब तक अलग-अलग तथा समष्टि रूप में खोजा है, बल्कि सच्ची आध्यात्म सद्वस्तु में पहुँचना और अतिमानस के सत् में ऊँचा उठना तथा सार्वभौम सच्चिदानन्द की ओर आगे बढ़ना है। अपने भूतकाल में, मनुष्य ने बहुधा इस त्रिविध सत्ता के एक अथवा दूसरे पहलू का निषेध करने का या किसी एक अथवा दूसरे पर विशेष रूप से जोर देने का प्रयास किया है। रहस्यवादियों और कठोरतावादियों ने प्रकृति की अवहेलना करके ईश्वर और मनुष्य पर जोर दिया है। फलवादियों, मानववादियों और साधनवादियों ने मानव तथा प्रकृति पर जोर दिया है तथा ईश्वर की अवहेलना की है। मनोविश्लेषणवादी, व्यवहारवादी और प्रयोजनवादी मनोवैज्ञानिकों ने जीवन के ऐसे सिद्धान्त उपस्थित किए हैं जिनमें ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं है। जड़वादी जड़जगत पर जोर देता है, समाजवादी समाज पर, व्यक्तिवादी और अराजकतावादी व्यक्ति पर, अस्तित्ववादी अस्तित्व पर, रोमांचवादी प्राणतत्त्व पर, आदर्शवादी मानस पर, बुद्धिवादी बुद्धि पर तथा अनुभववादी इन्द्रियों पर जोर देते हैं। इन सभी एकांगी मतों के बाह्य निषेधों के मूल में जगत, ईश्वर और मानव की एकता की ओर प्रवृत्ति पाई जाती है यद्यपि उन्होंने उसे किसी एक अथवा दूसरे तत्त्व के दमन के द्वारा प्राप्त करने का प्रयास किया है। इनमें से कोई सिद्धान्त मानव को सन्तुष्ट नहीं कर सकता क्योंकि किसी ने भी पूर्ण स्वीकार के द्वारा एकता प्राप्त नहीं की है। जीवन का कोई भी सिद्धान्त जोकि मनुष्य के किसी एक तत्त्व के दमन या उन्मूलन पर आधारित है सम्पूर्ण मनुष्य को सन्तुष्ट नहीं कर सकता। मनुष्य न तो केवल स्वयं में, और न जगत में तथा न ईश्वर में ही सन्तुष्ट हो सकता है क्योंकि उसे ये तीनों ही प्राप्त करने हैं और उनकी एकता की ओर बढ़ना है। इस आन्तरिक शक्ति को सिद्धान्तों के सतही संघर्षों, प्रत्ययों और सूत्रों के झमेलों में भुलाया नहीं जाना चाहिए। चाहे उसे कुछ भी नाम दिया जाए, किन्तु मनुष्य को एक दिव्य, एक परम, एक पूर्ण एक असीम एक शाश्वत और एक समग्र परम तत्त्व पर पहुँचना है जिसकी ओर

प्रत्येक वस्तु लगातार अदृश्य रूप से जा रही है। श्री अरविन्द ने मानव की विविध प्रेरणाओं का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण उपस्थित किया है। सच्चिदानन्द, अतिमानस इत्यादि समग्र अनुभव की व्याख्या करने के लिए सम्भावित प्रत्यय हैं। जड़वादियों और बुद्धिवादियों को इन प्रत्ययों को अपनाने में भले ही कठिनाई हो, किन्तु वे उनके अर्थ से इनकार नहीं कर सकते बल्कि उसे अपनी अपूर्ण शब्दावली में रखने का प्रयास कर सकते हैं।

पुनः, न तो आत्मा और न ईश्वर को ही त्रिविध सत्ता के सर्वांग ज्ञान के बिना सर्वांग रूप में जाना जा सकता है। आत्मा और जगत के ज्ञान के बिना ईश्वर का ज्ञान भी असम्भव है। "अस्तु, मनुष्य को अपने स्वयं के ज्ञान, जगत के ज्ञान और ईश्वर के अपने ज्ञान को लगातार बढ़ाना है जब तक कि उनकी सम्पूर्णता में वह उनके परस्पर अनुप्रवेश और एकता के प्रति जागरूक न हो जाए।"[4]

किन्तु यह सर्वांग ज्ञान मनुष्य की यात्रा में काफी समय पश्चात् दिखलाई पड़ता है। यह एक मन्द विकासात्मक प्रक्रिया है जोकि मनुष्य के अपनी वैयक्तिकता के स्वीकार के मानव और समष्टि की अहंकार की दशा के साथ आरम्भ होती है जोकि रहस्यमय चेतना-शक्ति के दो पहलू है। श्री अरविन्द के समाज दर्शन में सभी सिद्धान्त व्यक्ति और समष्टि दोनों पर लागू होते हैं, क्योंकि मनुष्य विभु में अणु है। मनुष्य को आत्मा में स्वयं को प्राप्त करने के पहले अपने को प्राणात्मक तथा मानसिक अहंकार में प्राप्त करना है। विकास की प्रक्रिया में मनुष्य का अहंकार भी आवश्यक है। मानव और समाज के विकास में मानव की जटिल प्रकृति के प्रत्येक पहलू, प्रत्येक सामाजिक संस्था का किसी समय में अपना मूल्य है, चाहे वे भावी पीढ़ियों को कितने ही स्थूल क्यों न प्रतीत हों। किन्तु विकासात्मक प्रक्रिया में, प्रत्येक की अपनी सीमा है जिसके परे उसे उच्चतर तत्त्व के आधीन होना चाहिए, जिसमें उसका दमन अथवा तिरस्कार नहीं होना बल्कि उसे एक नवीन प्रकाश में रूपान्तरित और संकलित कर लिया जाता है और यह प्रक्रिया कभी भी नहीं रुकनी चाहिए, जब तक कि त्रिविध एकता का पूर्णतम और सर्वांगतम साक्षात्कार का परम लक्ष्य प्राप्त न हो जाए।

यथार्थवादी आधार

किन्तु यह सब मनुष्य के वर्तमान सामान्य जीवन के बहुत परे की बात दिखलाई पड़ती है। सामान्य मनुष्य, अपने दैनिक जीवन में सत्य, शुभ और सौन्दर्य को नहीं बल्कि अपनी आवश्यकताओं के सन्तोष को खोजता दिखलाई पड़ता है। नैतिकता, कला, धर्म, और दर्शन को जीवन में स्थान मिले हैं किन्तु केन्द्रीय स्थान नहीं मिला। श्री अरविन्द के अनुसार, व्यक्ति को अस्तित्व रखने, सन्तोष प्राप्त करने और आत्मपूर्ति का अधिकार है। श्री अरविन्द का आदर्शवाद यथार्थवाद पर आधारित है। उनके अनुसार, मनुष्य भौतिक जगत में अभिव्यक्ति के लिए संघर्ष करता हुआ सत् है। उनके अपने शब्दों में, "उसका प्राथमिक, अदम्य लक्ष्य जीवित रहना और संसार में अपने लिए एक स्थान बनाना, अपनी प्रजाति में स्थान बनाना, और दूसरे, यह प्राप्त करने के पश्चात एक

क्रमशः विस्तृत होते हुए क्षेत्र में अधिकार, उत्पादन और आनन्द प्राप्त करना, तथा अन्त मे स्वयं को समस्त पार्थिव जीवन में फैलाना और प्रभावशाली बनाना है, यह उसका प्रथम व्यावहारिक कार्य है और होना चाहिए।"[5] यहाँ तक श्री अरविन्द जीवन के लक्ष्य की डार्विन की व्याख्या से सहमत हैं। किन्तु फिर अस्तित्व के लिए संघर्ष और योग्यतम की विजय के डार्विनवादी सिद्धान्तों के साथ-साथ, वे मानव-जीवन में समान रूप से आधारभूत सिद्धान्तों सहयोग और वृद्धि, आनन्द तथा अधिकार के लिए संघर्ष की ओर संकेत करते हैं। व्यक्तिवादी और समष्टिवादी आत्मसाक्षात्कार, संघर्ष और प्रयास, प्रतियोगी प्रयत्न और सहयोगी आकांक्षाएँ, कार्य के दो परस्पर भिन्न किन्तु मिलने वाले रूप हैं, दो परस्पर विरोधी किन्तु सहअस्तित्व रखने वाली प्रेरणाएँ हैं, जोकि मानव-जीवन में समान रूप से शक्तिशाली हैं। मानव-जीवन की यह गतिशीलता मानव-समाज की संरचना के अस्तित्व, निरन्तरता, शक्ति और वृद्धि का आधार है, और इन प्रेरणाओं की असफलता से इसके पूर्णतया विघटित और नष्ट हो जाने का खतरा है।

प्राचीन दृष्टिकोण

प्राचीन काल में समाज के विशिष्ट वर्ग के लिए जीवन का प्रयोजन बौद्धिक, नैतिक, सौन्दर्यात्मक और आध्यात्मिक सत् का विकास था। यूनानियों और रोमनों ने केवल पहले तीन पर जोर दिया था। किन्तु भारत ने इन तीनों को आध्यात्मिक लक्ष्य के आधीन माना था। यूनान और रोम में राजनीतिक स्वतन्त्रता अथवा महानता की तुलना में कला, काव्य और दर्शन को विशेष महत्त्व दिया गया था। भारतवर्ष में इनको मान्यता दी गई किन्तु धर्म और आध्यात्मिकता को कहीं अधिक श्रेष्ठ माना गया।

प्राचीन और आधुनिक दृष्टिकोणों की तुलना

प्राचीन दृष्टिकोण के विरुद्ध आधुनिक मानव ने उन्हीं मूल्यों पर सर्वाधिक जोर दिया है जोकि प्राचीन जगत् में निम्नतम थे। वह आर्थिक संगठन, राजनीतिक स्वतन्त्रता, व्यवस्था और प्रगति, घर और समाज के जीवन में आराम और सुविधा तथा भौतिक, प्राणात्मक और मानसिक जीवन में विज्ञान को लागू करने का लक्ष्य रखता है। उसका एक मात्र देवता जीवन और विज्ञान के नाम में संगठित व्यावहारिक विवेक है। उसके आदर्श व्यक्ति व समष्टि के भौतिक और प्राणात्मक शुभ, शारीरिक स्वास्थ्य, लम्बी आयु, आराम, सुख भोग, धन, आमोद-प्रमोद, उत्पादन, युद्ध, आक्रमण, उपनिवेशवाद, खोज, व्यावसायिक विजय, यात्रा, पूर्ण अधिकार और पृथ्वी का इस्तेमाल तथा पृथ्वी के राज्य को चन्द्रमा और अन्य नक्षत्रों पर फैलाना है।

व्यक्तिवादी और समष्टिवादी प्रवृत्तियाँ

आधुनिक मनुष्य दो प्रभावशाली प्रवृत्तियाँ दिखलाता है, व्यक्तिवादी प्रवृत्ति और समष्टिवादी प्रवृत्ति। व्यक्तिवादी प्रवृत्ति स्वभावतया प्राथमिक है और पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन को प्राणमय व्यक्ति के अधिक-से अधिक सन्तोष का

साधन मानती है। परिवार के द्वारा मनुष्य शारीरिक और प्राणात्मक सत् के आनन्द के अतिरिक्त अपनी अधिकार करने, सहकारिता और पुनरुत्पादन की मूल प्रवृत्तियों को सन्तुष्ट करता है। समाज में उसे सहकारिता, अन्तर्क्रिया, सहयोगी प्रयत्न, समूहगत आनन्द, भावात्मक सन्तोष, उद्वेलित संवेदना और नियमित मनोरंजन का एक व्यापक क्षेत्र मिलता है। समूहों, समुदायों और राष्ट्रों में उसे यश, नेतृत्व, प्रभावशाली प्रक्रिया की अनुभूति, अथवा गर्व, शक्ति और समष्टिगत क्रिया की शान में भाग लेने का अवसर मिलता है। इस सबमें प्रतियोगी प्रवृत्ति सहयोगी प्रवृत्ति से संघर्ष करती है और उस पर अधिकार करती है। जब यह अधिकार अत्यधिक बढ़ जाता है तो मनुष्य परिवार, राष्ट्र और समाज को अपने स्वार्थी लाभों के लिए केवल साधन मात्र रूप में प्रयोग करता है, परन्तु कुछ अन्य स्थानों पर समष्टिगत प्रवृत्ति अधिकाधिक प्रभावशाली होती गई है जिससे सामाजिक रचना में मनुष्य समाज शरीर का एक कोष मात्र बन गया है। इस प्रवृत्ति में मनुष्य परिवार के व्यापक अहम् के आधीन होकर कुल धर्म को अपना एक मात्र आदर्श मानता है। व्यक्ति के समान परिवार भी समुदाय को साधन के रूप में प्रयोग करता है और जब कभी सहयोगी प्रवृत्ति प्रभावशाली होती है तो आत्मसमर्पण करता और स्वयं का त्याग करता दिखलाई पड़ता है। इस प्रकार जैसे कि व्यक्ति अपने को परिवार के आधीन करता है, उसी प्रकार परिवार को समुदाय के आधीन करता है।

मानव द्वारा समाज का अतिक्रमण

मनुष्य विभिन्न सम्प्रदायों, वर्गों, समुदायों, संस्थाओं और समितियों में भाग लेकर स्वयं को और राष्ट्र को समृद्ध करता है। इसी प्रकार राष्ट्रीय जीवन की समृद्धि के द्वारा, वह मानवता के समस्त जीवन को समृद्ध करता है। किन्तु मानव को केवल इन्हीं में सीमित नहीं किया जा सकता। वह अपने सामाजिक कार्यभागों का योग मात्र नहीं है। पशु के समान, उसमें आत्मपरिसीमन और परिवेश से समायोजन की प्रवृत्ति होती है, परन्तु मनुष्य के रूप में वह प्रकृति और मानवता दोनों का अतिक्रमण करता है और प्रत्येक वस्तु को अपनी वृद्धि और विस्तार की सामग्री के रूप में मोड़ लेता है।

व्यक्ति और मानवता के मध्य समुदाय

श्री अरविन्द के अनुसार, समुदाय व्यक्ति और मानवता के मध्य में होता है और इनमें से एक अथवा दूसरे के लिए अस्तित्व रखता है। व्यक्ति अथवा मानवता से अलग समाजों, प्रजातियों, धर्मों, समुदायों, राष्ट्रों और साम्राज्यों का अलग से विकसित होने का कोई अधिकार नहीं है। उन्हें जीवित रहने और विकसित होने का अधिकार है किन्तु यह सदैव मानवता के ही हित में है। मनुष्य अथवा राष्ट्र के अधिकार मानव-भविष्य की पूर्ति की आवश्यकता पर आधारित होते हैं। दूसरों से विनिमय के बगैर आत्मसाक्षात्कार का अधिकार लागू नहीं किया जा सकता। "मानवता के लिए नियम मानव-प्रजाति में दैवी तत्त्व को प्राप्त करने और अ[illegible] करने के लिए ऊर्ध्वोमुख विकास को प्राप्त करना

समस्त व्यक्तियों, राष्ट्रों और मानव-समूहों के उन्मुक्त विकास और लाभों का पूरा फायदा उठाते हुए, उस दिन के लिए काम करना है जबकि मानव-प्रजाति केवल आदर्श रूप में नहीं बल्कि वास्तव में एक दिव्य परिवार बन जाती है, किन्तु तब भी, जबकि उसे स्वयं की एकता प्राप्त करने में सफलता मिल गई हो, अपने व्यक्तियों और घटक समूहों की स्वतन्त्र वृद्धि और क्रिया के द्वारा आदर प्राप्त करने, सहायता प्राप्त करने और सहायता देने का लक्ष्य रखना है।"[6]

चार पुरुषार्थों का आदर्श

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के चार पुरुषार्थों का भारतीय आदर्श इस सिद्धान्त पर आधारित है कि सर्वांग विकास ही जीवन का तत्त्व है। उसमें यह अनुभव किया गया था कि प्राणात्मक तत्त्व में आध्यात्मिकता की ओर जाना समाज को किसी काल में नवीन शक्ति देने के लिए किसी हद तक उपयोगी है, किन्तु इस सीमा के परे वह अत्यधिक आवश्यक जीवनी शक्ति को हतोत्साह करता है और उसे निष्क्रिय, कठोर तथा संकीर्ण बना देता है, जोकि अन्त में स्वयं आध्यात्मिक जीवन का प्राणतत्त्व सोख लेता है। किन्तु इस योजना में मोक्ष अथवा आध्यात्मिक स्थिति को इस पार्थिव जीवन से नहीं बल्कि परलोक से सम्बन्धित माना गया है और इस प्रकार पृथ्वी पर स्वर्ग के राज्य की स्थापना के आदर्श का निषेध किया गया है। अस्तु, श्री अरविन्द इसको परम लक्ष्य नहीं मानते।

विवेक की असफलता

बुद्धि से निम्न अवस्था में संघर्ष, प्रतियोगिता और परिसीमन, नैतिकता और धर्म तक के सिद्धान्त होते हैं, किन्तु ये जीवन के मूल तत्त्व नहीं हैं। जीवन में शक्ति, सौन्दर्य, त्याग, पूजा, और देवत्व के समृद्ध तत्त्व भी हैं। बुद्धि से निम्न तत्त्वों के रूपान्तर और उच्चतर तत्त्व के द्वारा उनके संकलन से इनको प्रभावशाली बनाया जा सकता है। श्री अरविन्द के समाज दर्शन के अनुसार यही जीवन की प्रमुख समस्या है। प्राचीन काल मे ऊँची आदर्शवादी, बौद्धिक, सौन्दर्यात्मक, नैतिक और धार्मिक संस्कृतियो के द्वारा विवेक ने इस लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयास किया था, किन्तु उसे केवल एक अपूर्ण अनुशासन ही प्राप्त हो सका। आधुनिक काल में एक व्यापक और पूर्ण बौद्धिक, उपयोगितावादी और कुशल प्रशिक्षण और मानव-जीवन के संगठन के द्वारा विवेक ने इस लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न किया है किन्तु वह इसमें असफल रहा है।

जीवन का अतिबौद्धिक सार

बुद्धि इसलिए असफल हुई है क्योंकि श्री अरविन्द के अनुसार जीवन का सार तत्त्व अतिबौद्धिक है। उनके अनुसार जीवन सत् और शक्ति है जिनके सर्वोच्च रूप जीवन में आदर्शों के रूप में विद्यमान हैं। इनको मनुष्य के पारिवारिक और सामाजिक जीवन में देखा जा सकता है। पुरुष और स्त्री, माता-पिता और बालक, मित्र, साथी, देशवासी और मनुष्यों में परस्पर प्रेम, चाहे वह अहंकार और मूल प्रवृत्तिजन्य संघर्षो मे

कितना ही लिप्त क्यों न हो, सुनिश्चित दैवी सम्भावना है जिसको जीवन अभिव्यक्त करता है। इसी सत्य के कारण कुछ धर्मों ने इन्हीं सम्बन्धों को उठाया, उनके सामाजिक प्रसंग से निकालकर उन्हें आत्मा के ईश्वर से सम्बन्ध में लागू किया और इस प्रकार मनुष्य में दैवी शक्ति और एकता के आश्चर्यजनक आन्दोलन प्रस्तुत किये। जीवन के आर्थिक लक्ष्यों का भी सर्वोच्च प्रयोजन पाशविक भूख और नग्नता को दूर करके दैवी सुख और सुविधा प्राप्त करना है। राजनीतिक क्षेत्र में भी देशभक्ति और स्वतन्त्रता जैसे आदर्शों का सार तत्त्व जीवन का यह अतिबौद्धिक तत्त्व ही रहा है, जिसके लिए मनुष्यों ने कष्ट उठाए हैं और मृत्यु तक का वरण किया है। युद्ध और संघर्षों तक ने नायकवाद, साहस, उत्साह और शक्ति के मूल्यों को उत्पन्न किया है। मनुष्य का प्राणात्मक जीवन, प्रतियोगिता और सहयोग की दो प्रक्रियाओं के द्वारा, अचेतन रूप से क्रमशः शक्ति और एकता के साक्षात्कार की ओर जाता रहा है, जोकि मनुष्य के अपने परिवेश पर विजय प्राप्त करने के प्रयासों और मानव-प्रजाति की एकता की प्रवृत्ति में अभिव्यक्त हुआ है। इस दिशा में बुद्धि की व्यवस्था एकांगी और अस्थायी है, क्योंकि जीवन के स्रोत या तो बुद्धि से नीचे हैं या उससे ऊपर हैं। अस्तु, बुद्धि के वर्तमान युग में जीवन एक अर्द्ध-व्यवस्थित तथा अस्त-व्यस्त संघर्ष है जिसमें व्यक्ति, समूह, जनजातियाँ, राष्ट्र, विचार, आदर्श, सभ्यताएँ, संस्कृतियाँ और धर्म इत्यादि प्रत्येक स्वयं को स्थापित करने और साथ ही अन्य से निरन्तर सहयोग के लिए प्रयत्नशील हैं। जीवन के इन गहरे मूलों का विश्लेषण श्री अरविन्द के समाज दर्शन में परम लक्ष्य का आधार है। उसको व्यवहार में और आध्यात्म में, दोनों में परखा जा सकता है।

पृथक्करण का नियम

श्री अरविन्द के अनुसार जड़तत्त्व से आध्यात्म तत्त्व तक सब-कहीं पृथक्करण का नियम कार्य का पहला सिद्धान्त है। जीवन भौतिक रूप से कोष और मनोवैज्ञानिक रूप से अहंकार में सम्मिलित होता है। जड़तत्त्व अणु, परमाणु तथा अन्य सूक्ष्म इकाइयों में संगठित होता है। चेतना सबसे पहले एक इकाई में अभिव्यक्त होती है जोकि व्यक्ति में ही विकसित होती है। इस प्रकार सब-कहीं प्रथम अभिव्यक्तियाँ इकाई अथवा व्यक्ति में होती हैं। यह प्राथमिक नियम जीवन की वर्तमान अवस्था में उसके पीछे काम करने वाली शक्ति है और यही उसके संघर्षों का कारण और सुलझाव बतलाता है।

जीवन का आध्यात्मिक आदर्श

अस्तु, मानव-जीवन की वर्तमान दशाएँ, स्वयं उसके भावी विकास की सुनिश्चितता दिखलाती हैं। यह विकासवादी प्रवृत्ति तब तक नहीं रुकनी चाहिए जब तक कि जीवन अपने रहस्यमय परम तत्त्वों, परम शक्ति और परम इकाई को प्राप्त न कर ले, क्योंकि ये ही जीवन की प्रेरणा का निर्माण करते हैं, भले ही वह आरम्भ के अंशों में कितनी भी अस्पष्ट क्यों न हो। यह विज्ञान और धर्म दोनों की माँग है। श्री अरविन्द के शब्दों में इस धारणा के प्रकाश में हम जगत में मनुष्य के लिए एक दैवी जीवन की

सम्भावना का प्रत्यक्षीकरण कर सकते हैं, जोकि विश्वगत और पार्थिव विकास के लिए एक जाग्रत चेतना और बौद्धिक लक्ष्य दिखलाते हुए विज्ञान की प्रामाणिकता सिद्ध कर सकती है जिससे मानव-आत्मा के दिव्य तत्व में रूपान्तर के द्वारा समस्त महान् धर्मों का महान् आदर्श स्वप्न पूरा किया जा सकता है।"[7] इस प्रकार जीवन आत्मा को प्राप्त करके और उसके प्रति आत्मसमर्पण करके स्वयं निर्देशन और अपनी गतिविधियों पर अधिकार प्राप्त कर सकता है। आध्यात्मिक सुनिश्चितता ही वास्तविक रूप में मूल प्रवृत्तियों की अन्ध प्रेरणाओं और विवेक की उड़ानों की सुनिश्चितता का निर्देशन कर सकती है। प्रेम और घृणा, एकता और विघटन के विरोधों को जीवन में आध्यात्मिक चेतना के द्वारा दूर किया जा सकता है। सत् की वृद्धि की जीवन की प्रेरणा को केवल तभी प्राप्त किया जा सकता है जबकि सीमित प्राणात्मक सत् अपने वास्तविक सत् और विश्व-चेतना को प्राप्त कर ले। जीवन की शक्ति की खोज केवल आध्यात्मिक शक्ति मे पूर्ण हो सकती है। जीवन की शुद्ध और शाश्वत् आनन्द की प्यास केवल आत्मा में बुझाई जा सकती है। केवल आत्मा में ही जीवन समस्त शक्ति और सम्भावनाओं की समन्वित परिपूर्ति प्राप्त कर सकता है। मानवता ने प्रत्येक अन्य साधन आजमाया है किन्तु कोई भी उसे थकान और विनाश से बचा नहीं सका। प्राचीन काल की प्रगति की तुलना मे आधुनिक सम्प्राप्तियाँ केवल मात्रा में अधिक दिखलाई पड़ती हैं। युग के आत्मगत झुकाव से ही एक मात्र आशा बन्धती है जोकि सच्चे रहस्य को प्राप्त करने का निश्चय नहीं किन्तु सम्भावना अवश्य दिखलाता है।

श्री अरविन्द के दृष्टिकोण की मौलिकता

श्री अरविन्द का दावा है कि, "मानव-समाज ने स्वयं अपने सत् के नियम की खोज के साधन के रूप में आत्मसाक्षात्कार को कभी नहीं जाना अथवा पार्थिव पूर्णता के सही साधन के रूप में आत्मा की वास्तविक प्रकृति के ज्ञान और उसकी आवश्यकता तथा परिपूर्ति को कभी नहीं माना।"[8] परम्परागत दर्शनों और धर्मों में पाया जानेवाला आध्यात्मिक दृष्टिकोण पार्थिव जीवन के निषेध पर आधारित था। किन्तु, श्री अरविन्द के अनुसार, उसकी शारीरिक, प्राणात्मक और मानसिक स्तर की माँगों के साथ जीवन का निषेध नहीं बल्कि उसका रूपान्तर और परिपूर्ति, इन सब माँगों का आरोहण और संकलन आवश्यक है। आध्यात्मिक लक्ष्य मानव के अस्तित्व में आधारित है और चेतना के साथ अपनी एकता तथा आनन्द में अभिव्यक्ति खोजता है। शरीर, जीवन और मानस, न तो स्वयं साध्य हैं और न रुग्ण मर्त्य सदस्य हैं, बल्कि आत्मा के पहले और अभी अपूर्ण साधन हैं जिनका लक्ष्य आत्मा की अभिव्यक्ति के साधनों के रूप में विकसित होना है। प्रकृति के इस सम्भावना के प्राथमिक विरोध के बावजूद यह दृष्टिकोण सम्पूर्ण मनुष्य के दैवीकरण की सम्भावना का समर्थन करता है। यह मनुष्य के विकास में इन निषेधों को ही आवश्यक पार्थिव प्रारम्भ बिन्दु मानता है। मानव-समितियाँ, संस्थाएँ, समुदाय, समाज, राष्ट्र तथा अन्य समष्टियाँ आत्मा की जटिल आत्माभिव्यक्ति के साधन है किन्तु आत्मा अपने आदर्श को इन संगठनों पर न तो बलपूर्वक आरोपित करती है

और न उनका दमन करती है। आध्यात्मिक आदर्श उनके लिए एक प्रकाश और प्रेरणा है ताकि वे अन्दर से विकसित हो सकें। श्री अरविन्द के शब्दों में, "एक व्यापक स्वतन्त्रता आध्यात्मिक समाज का नियम होगा और स्वतन्त्रता की वृद्धि सच्चे आध्यात्मीकरण की सम्भावना की ओर मानव-समाज की प्रगति का चिह्न होगा।"[9] आध्यात्मिकता सभी प्रकार की कमजोरियों, अज्ञान, आवेगों और शक्ति की दासता, सत्ता, प्रथा, रूढ़ि और नियमों की दासता के विरुद्ध है। एक उच्चतर स्वतन्त्रता के योग्य होने के लिए मनुष्य को सभी बेड़ियों को तोड़ना होगा और अपने सत् के आन्तरिक नियम का अनुगमन करना होगा।

स्वतन्त्र परन्तु निरन्तर वृद्धि

आध्यात्मिक विकास स्वाभाविक, स्वतन्त्र परन्तु सुनिश्चित होता है। विकास प्रकृति में एक सार्वभौम तत्त्व है। योग तथा अन्य प्रणालियाँ केवल उसकी गति को बढा देती हैं। समाज दर्शन का प्रयोजन मनुष्य और समाज के सामने कोई उच्चतर विदेशी लक्ष्य रखना नहीं है। उसे उस प्रयोजन को स्पष्ट करना है जोकि प्रकृति स्वयं अचेतन रूप से खोजती रही है। आन्तरिक प्रवृत्तियों के विश्लेषण के द्वारा ही हम उन परम मूल्यों पर पहुँच सकते हैं जिनकी ओर जीवन जा रहा है। मनुष्य के सम्मुख इन मूल्यों को उपस्थित करना ही उनके साक्षात्कार की सर्वोत्तम प्रणाली है और इन मूल्यों के प्रकाश में भावी सम्भावनाएँ दिखलाना समाज दर्शन का कार्य है। प्रामाणिकता वृद्धि की एक मात्र शर्त है, अन्य सब स्वयं आने लगता है। नकार तक, यदि वे प्रामाणिक हैं तो वृद्धि की समृद्धि बढाते हैं। विज्ञान और दर्शन को आध्यात्मिक तत्त्व को मानने के लिए बाध्य नही किया जा सकता। परन्तु जैसाकि श्री अरविन्द संकेत करते हैं, "कुछ काल के लिए उनको ईश्वर एवं शुभ और सौन्दर्य का भी निषेध करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जाना चाहिए यदि वे ऐसा चाहें और यदि उनका वस्तुओं का निरीक्षण इस ओर संकेत करता हो। क्योंकि अन्त में ये सब निषेध चक्कर काटकर उन वस्तुओं के व्यापक सत्य की ओर लौटते हैं जिससे वे इनकार करते हैं।"[10] सबसे अधिक आवश्यकता है सच्चाई और निरन्तर वृद्धि, आन्तरिक, बाह्य और ऊर्ध्वोन्मुख विकास की। यह जितना मनुष्य के साथ सत् के किसी भी भाग के लिए सत्य है उतना ही सम्पूर्ण मनुष्य, उसके सम्पूर्ण जीवन तथा साथ ही उसके प्रत्येक विशिष्ट विभाग जैसे पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय के लिए भी सही है। इसकी जाँच किसी भी ऐसे व्यक्ति के द्वारा की जा सकती है जिसमे सत्य के साथ खड़े रहने की सच्चाई है, चाहे प्रथम दृष्टि में वह कितना भी विरोधी क्यो न दिखलाई पड़ता हो। मानव-विवेक को जो परस्पर विरोधी दिखलाई पड़ते हैं वे आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि के लिए परस्परपूरक तथ्य होते हैं। जैसाकि श्री अरविन्द ने संकेत किया है, "समस्त सच्चे सन्देहवाद और नकार के अन्त में प्राप्ति अनिवार्य है।"[11] कुछ-न-कुछ अज्ञान, भूल और पाप समस्त विकास का अनिवार्य मूल्य है। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक वस्तु को उसके भाग्य पर छोड़ दिया जाना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि विकास को आन्तरिक के द्वारा और बाह्य दबाव के द्वारा नहीं प्राप्त किया

जाना चाहिए। आध्यात्मिक लक्ष्य सबके सामने स्पष्ट रूप से रख दिया जाना चाहिए, यद्यपि प्रत्येक उसे अपनी तरह से पाने के लिए स्वतन्त्र है। प्रकाश और प्रेरणा सदैव वहाँ रहनी चाहिए, किन्तु प्रत्येक को यह दिखला देना चाहिए कि यही वह प्रकाश है जिसके पीछे वह भागता रहा है। एक आध्यात्मिक समाज दर्शन को प्रत्येक नकार के पीछे छिपे स्वीकारों को दिखाना चाहिए, क्योंकि आत्मा की प्रकृति परिपूर्ति और संकलन है।

प्रकृतिवादी दर्शन

मानव का व्यक्तिगत और सामाजिक विकास दो परस्पर पूरक शक्तियों के सन्तुलन से निर्धारित होता है—जीवन में केन्द्र में स्थित एक आन्तरिक संकल्प और मानस के विचार का एक संशोधित करने वाला संकल्प। मनुष्य से निम्न जीवन में प्रकृति की प्रणाली मूलप्रवृत्तिजन्य है जिसके लक्षण हैं सरलता, स्वाभाविकता, सौन्दर्य, सन्तोष और शक्ति। इससे अनेक समाज दार्शनिक प्रकृति के अनुसार जीवन व्यतीत करने को समस्त मानव-दोषों की रामबाण औषधि मानने लगे हैं। इसका एक नवीनतम उदाहरण नीत्शे का प्राणवादी दर्शन है। श्री अरविन्द नीत्शे के इस विचार से सहमत हैं कि मनुष्य की वर्तमान असन्तोषजनक मानवता से अतिमानव का विकास ही मनुष्य का वास्तविक लक्ष्य है। वे नीत्शे के अपने से आगे बढ़ने और अपने आत्मा को प्राप्त करने के मानव-लक्ष्यों से सहमत हैं। किन्तु फिर वे नीत्शे की आत्मा की धारणा और मनुष्य की वास्तविक प्रकृति पर शंका उठाते हैं। वे उसकी स्वयं प्रकृति की व्याख्या से असहमत है। वे कहते हैं, "इन धारणाओं का सामान्य दोष मनुष्य का वास्तविक चरित्र और उसके सत्, उसके धर्म के सच्चे नियम की अवहेलना है।"[12] नीत्शे के लिए प्राणमय मानव ही वास्तविक मानव है, श्री अरविन्द के लिए मानव का सारतत्त्व कहीं अधिक गहरा और सूक्ष्म है, वह आध्यात्मिक है।

क्या अतिमानव असामान्य है ?

अतिमानव मनुष्य का परम लक्ष्य है। यह अनेक आधुनिक विचारकों को अति-सामान्य या असामान्य दिखलाई पड़ता है। परन्तु क्या मनुष्य स्वयं सामान्य है ? क्या वह पशुओं और पौधों से नितान्त भिन्न नहीं है ? जैसे अतिमानव मानव के लिए असामान्य है इसी प्रकार मानस जीवन के लिए और जीवन जड़तत्त्व के लिए असामान्य है। अति-मानव की असामान्यता अपूर्णता का नहीं बल्कि महत्तर पूर्णता का लक्ष्य है, जोकि केवल तभी प्राप्त किया जा सकता है जबकि असामान्य सामान्य बन जाता है। पौधे और पशु सामान्य और संघर्षविहीन हैं क्योंकि उन्होंने अपनी प्राकृतिक पूर्णता प्राप्त कर ली है। मनुष्य अपूर्ण है यद्यपि यह अपूर्णता न तो उसकी वास्तविक प्रकृति है और न कोई रोग है, यह उसकी वास्तविक प्रकृति के साक्षात्कार का वायदा है। समकालीन असामान्य मनोविज्ञान में जिसे सामान्यता कहा जाता है वह एक अस्थायी व्यवस्था है जोकि भिन्न-भिन्न संस्कृतियों में और एक ही संस्कृति में भिन्न-भिन्न स्थितियों में बदलती रहती है। श्री अरविन्द के अनुसार वास्तविक मनुष्य का (है यही

समस्त मनोविज्ञान का लक्ष्य होना चाहिए जोकि मनुष्य को स्थायी रूप से सामान्य बनाना चाहता हो और केवल समाज के परिवर्तनशील नियमों से अस्थायी अनुरूपता प्राप्त करना न चाहता हो। योग के सत्यों के प्रकाश में असामान्य मनोविज्ञान के इस रूपान्तर से मनुष्य में वास्तविक सामान्यता प्राप्त करने के लिए नए आयाम खुल जाएँगे। इसके लिए भी असामान्य और अतिसामान्य में स्पष्ट रूप से अन्तर करना आवश्यक है। शब्दों और वर्गों की अस्पष्टता सिद्धान्त रूप से अवैज्ञानिक और व्यावहारिक रूप से घातक होती है।

आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त करने की दशाएँ

व्यक्तिगत परिवर्तन

सामाजिक विकास के आध्यात्मिक लक्ष्य के साक्षात्कार की पहली दशा मानव का आध्यात्मिक व्यक्ति के रूप में रूपान्तरण है। जैसे-जैसे अधिकाधिक व्यक्ति इस लक्ष्य को प्राप्त करते हैं वैसे-वैसे समुदाय अपने लक्ष्य के निकट पहुँचता जाता है। व्यक्ति के माध्यम से ही मानवता की नवीन खोजों और नए विकास के अवसरों को उपस्थित किया गया है, क्योंकि समष्टिगत मानस चेतन होते हुए भी अधिचेतन और अव्यवस्थित है। श्री अरविन्द के अनुसार, "जो विचारक, इतिहासकार और समाजशास्त्री व्यक्ति का महत्त्व कम करते हैं और उसे समूह में खो देने के लिए प्रस्तुत हैं तथा उसे एक कोष अथवा एक अणु मानकर चलते हैं, वे मानवता में प्रकृति के कार्य के सत्य का एक अस्पष्ट पहलू ही पकड़ पाए हैं।"[13] आत्मा सबसे पहले व्यक्ति को बदलती है, जनता उसके पीछे चलती है और वह भी अत्यन्त अव्यवस्थित रूप में। यदि ऐसा न होता, तो मानव-प्रजाति कहीं अधिक तीव्र गति से विकास की ओर अग्रसर हो गई होती।

समष्टिगत परिवर्तन

अस्तु, आध्यात्मिक लक्ष्य के साक्षात्कार की एक दूसरी महत्त्वपूर्ण दशा पहली के साथ-साथ उपस्थित होनी चाहिए। यह है एक ऐसे समाज का अस्तित्व जोकि व्यक्ति के सत्य को उसे भ्रष्ट किए बिना प्राप्त करने के योग्य हो और उसे प्रभावशाली रूप से आत्मसात् कर सके। इन दोनों दशाओं की एक साथ उपस्थिति मानवता के लिए कभी भी सम्भव नहीं हो सकी किन्तु यह आध्यात्मिक परिवर्तन के लिए अनिवार्य है। यह अवसर कभी-न-कभी अवश्य उपस्थित होगा। इस विषय में श्री अरविन्द के समाज दर्शन में अदम्य आशावाद दिखलाई पड़ता है जोकि प्रकृति और मानव-इतिहास के अन्तर्गत आत्मा के विकास के उनके आध्यात्मिक दृष्टिकोण पर आधारित है।

आत्मगत प्रवृत्ति

इस आशा का पहला लक्षण जीवन में आत्मगत प्रवृत्ति का विकास है जोकि पिछले अध्यायों में इतिहास दर्शन और सामाजिक विकास के के विवेचन में

दिखलाया जा चुका है। यह आत्मगत प्रवृत्ति न केवल कला, दर्शन और साहित्य में ही बल्कि मनोविज्ञान और भौतिक विज्ञानों में भी देखी जा सकती है। प्रो० एडिंगटन के शब्दों में, "यदि आप एक भौतिक विज्ञानशास्त्री से पूछें कि उसने ईथर या परमाणु के विषय में अन्तिम रूप से क्या निष्कर्ष निकाला है, तो उसका उत्तर किसी मूर्त्त वस्तु जैसे बिलियर्ड की गेंदों या पहियों के विवरण के रूप में नहीं होगा, बल्कि वह अनेक प्रतीकों और गणितीय सूत्रों की ओर संकेत करेगा जिसको वे असन्तुष्ट करते हैं। यह प्रतीक किसके लिए संकेत करते हैं ? इसका रहस्यमय उत्तर यह दिया जाता है कि भौतिकशास्त्र को इससे कोई मतलब नहीं है, इसके बाद प्रतीकवाद के नीचे खोज करने का कोई साधन नहीं है।"[15] यह आत्मगत प्रवृत्ति राजनीति और अर्थशास्त्र में भी देखी जाती है यद्यपि इसके अपने खतरे हैं। धर्म भी रूढ़ियों के भारी बोझ को फेंककर आन्तरिक आत्मा को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील है। ये सब भावी परिवर्तन के लक्षण हैं, यद्यपि ये सुनिश्चित भविष्यवाणी के लिए पर्याप्त नहीं हैं।

प्राणात्मक, मानसिक और चैत्य आत्मवाद

यदि किसी समाज में यह आत्मगत प्रवृत्ति जीवन में विचार, प्रयत्न और चिन्तन पर हावी हो जाती है तो वह प्राणात्मक आत्मवाद को एक नई दिशा और वातावरण, एक उच्चतर प्रेरणा, व्यापक आयाम और महानतर लक्ष्य प्रदान करती है। वह एक ऐसे विज्ञान का विकास कर सकती है जोकि भौतिक जगत पर वास्तविक अधिकार रखता हो तथा जो अन्य लोगों के लिए भी द्वार खोल दे। वह एक ऐसी कला का विकास कर सकती है जो सौन्दर्य की खोज में भूतकाल से कहीं आगे बढ़े और मानव-जगत को उपयोगितावादी कला की कुरूपता से बचाए। वह मनुष्य-प्राणियों में अधिक घनिष्ठ, उन्मुक्त और संवेदनाशील आदान-प्रदान उत्पन्न कर सकती है। यह निश्चित है कि इस चैत्य और मानसिक आत्मवाद में ऐसे खतरे हैं जोकि प्राणात्मक आत्मवाद के खतरों से कहीं अधिक बड़े हैं किन्तु वह प्राणात्मक आत्मवाद का अतिक्रमण करके एक गहरी अन्तर्दृष्टि, अधिक व्यापक सुरक्षा और अधिक शक्तिशाली उन्मुक्तकारी प्रकाश की ओर ले जा सकती है। श्री अरविन्द के अनुसार आत्मा की ओर विकास में मनुष्य के सामाजिक विकास मे मानसिक और चैत्य आत्मवाद अनिवार्य स्थितियाँ हैं। जड़तत्त्व का आध्यात्मिक रूपान्तर का चमत्कार सम्भव नहीं है। भले ही वह कुछ व्यक्तियों में देखा जा सकता हो जिन्होने पिछले जीवन में अच्छी तैयारी की है, किन्तु वह जनसमुदाय में सफल होना असम्भव है। जनसमुदाय में इस प्रकार का प्रयास शीघ्र ही स्वयं अपने यन्त्र के बोझ से दब जाता और नष्ट हो जाता है।

सर्वांग दृष्टिकोण

आन्तरिक जीवन का रूप लिए बिना और इस आन्तरिक जीवन को बाहरी जीवन में अभिव्यक्त किए बिना आध्यात्मिकता कुछ नहीं है। सर्वांग सत्य वह है जिसे हम अपने अन्दर उत्पन्न करते हैं, जोकि हम अपने सार्वभौम परात्पर आरोहण में बन जाते

है। व्यक्ति, राष्ट्र तथा साथ ही मानवता का यह स्वतन्त्र, स
आरोहण ही श्री अरविन्द के समाज दर्शन में सामाजिक विकास क
विवेचन से पहले साध्यों को स्पष्ट किए जाना आवश्यक है, यद्यपि
अवस्थित आध्यात्मिक आदर्शों का पूर्णतया तार्किक स्पष्टीकरण न
क्योंकि तार्किक चिन्तन आत्मा के मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए अ
यही वर्तमान अध्याय में विवेचन की सीमा निर्धारित करता है।

8

राष्ट्रीयता और मानव-एकता

"एक पूर्ण समाज में और अन्ततोगत्वा एक पूर्ण मानवता में व्यक्ति की पूर्णता—पूर्णता को सदैव एक सापेक्ष और प्रगतिशील अर्थ में समझते हुए—प्रकृति का परम लक्ष्य है।"[1]

—श्री अरविन्द

समकालीन भारतीय दार्शनिकों में श्री अरविन्द ने राष्ट्र के विषय में सबसे अधिक विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। जबकि एक ओर, वे मानव-एकता के जबर्दस्त हामी थे, दूसरी ओर उन्होंने राष्ट्रीयता की धारणा का विकास किया जोकि उसमें बाधक न होकर सहायक हो। उनके सामाजिक और राजनीतिक दर्शन में, सब-कहीं पूर्ण के अन्तर्गत पूर्ण मिलते हैं। व्यक्ति स्वयं अपने अन्तर्गत पूर्ण है किन्तु वह राष्ट्र का एक घटक भी है। एक राष्ट्र स्वयं अपने में पूर्ण है किन्तु फिर प्रत्येक राष्ट्र मानवता का एक अंग है। पुनः, मानवता स्वयं अपने में पूर्ण है किन्तु वह प्रकृति का एक अंग भी है। इस प्रकार हम वृहद् से वृहद्तर पूर्णता में व्यक्ति से विश्व की ओर बढ़ते जाते हैं। इनमें से किसी की भी खोज करने से उससे निम्न पूर्णता का महत्त्व कम नहीं होता। यद्यपि व्यक्ति राष्ट्र का एक अंग है, किन्तु उसकी वैयक्तिकता, स्वधर्म और पूर्णता राष्ट्र द्वारा परिसीमित नहीं की जा सकती। राष्ट्र ऐसा होना चाहिए जिसमें सभी व्यक्तिगत सदस्य अपने व्यक्तिगत लक्षणों को बनाए रखते हुए अपना स्वतन्त्र विकास कर सकें। इसी प्रकार, मानव-समाज अथवा विश्व-राज्य ऐसा होना चाहिए जिसमें प्रत्येक राष्ट्र अपने लक्षणों, संस्कृति और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को कायम रखते हुए मानवता के विकास में योगदान दे सकें। और अन्त में, मानवता को प्रकृति से स्वतन्त्र नहीं बल्कि उसके अंग के रूप में विकसित होना चाहिए। इस प्रकार, श्री अरविन्द के अनुसार, राष्ट्रवाद मानव-एकता में बाधक नहीं है। यहाँ पर उनके विचार अन्य मानववादियों और अन्तर्राष्ट्रीयतावादियों से अधिक सन्तुलित दिखाई पड़ते हैं जोकि व्यक्ति और राष्ट्र में आत्म-साक्षात्कार के सत्य की अवहेलना करते हैं। जिस प्रकार व्यक्ति की स्वतन्त्रता की अवहेलना करके राष्ट्र को सर्वशक्तिमान बनाना अनुचित है, इसी प्रकार स्वतन्त्र राष्ट्रों का उन्मूलन करके एक सर्वशक्तिमान विश्व-राज्य की धारणा प्रकृति के विरुद्ध है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से उच्चतर और अधिक व्यापक पूर्ण अपने घटकों का उन्मूलन नहीं करता बल्कि उनकी पूर्णता और [illegible] की परिपूर्ति करता है।

राष्ट्र की धारणा

भारत में ब्रिटिश राज्य के दौरान श्री अरविन्द ने सन् 1893 से 1910 तक भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। उनकी राष्ट्रीयता की धारणा बन्देमातरम के मन्त्र से निकलती है। उनके लिए राष्ट्र कोई भौगोलिक क्षेत्र, भौतिक प्रदेश अथवा मानसिक विचार मात्र नहीं था। उन्होंने भारत की माता अथवा मातृशक्ति के रूप में उपासना की जिसने भारतवासियों का हजारों साल से पालन-पोषण किया। उन्होंने बंकिमचन्द चटर्जी के प्रसिद्ध उपन्यास 'आनन्दमठ' की योजना के प्रतिमान पर बंगाल के युवाओं के लिए 'भवानी मन्दिर' की योजना बनाई। इस काल के उनके भाषण और लेख यह दिखलाते हैं कि उन्होंने देशभक्ति को धर्म के आसन तक पहुँचा दिया था। अपने लेख 'भवानी मन्दिर' में उन्होंने लिखा है, क्योंकि राष्ट्र क्या है ? हमारी मातृभूमि क्या है ? वह कोई भूमि-क्षेत्र, आलंकारिक भाषा, मानस की कल्पना नहीं है। वह एक विशाल शक्तिसमुदाय में उपस्थित और एक इकाई में बँधे हुए करोड़ों देवताओं की समस्त शक्तिओं से निर्मित एक महान् शक्ति है। हम भारत में जिस शक्ति भवानी भारती की बात करते हैं, वह 30 करोड़ मनुष्यों की शक्तियों की जागृत एकता है।"[2] बंकिमचन्द पर अपने लेख में श्री अरविन्द ने यह स्पष्ट कर दिया था कि जब तक किसी राष्ट्र के सदस्य उसे एक भूमि का टुकड़ा मात्र मानते हैं, जब तक कि वह एक देवी मातृ शक्ति का रूप नहीं ले लेता, जब तक कि वह उनके दिलों और दिमागों पर नहीं छा जाता, राष्ट्र पैदा नहीं होता। इस प्रकार श्री अरविन्द के अनुसार राष्ट्र के निर्माण के लिए उसके सदस्यों में न केवल देश-प्रेम बल्कि उसके प्रति पूजा की भावना आवश्यक है। राष्ट्र के प्रति केवल भौतिक, प्राणात्मक अथवा मानसिक दृष्टिकोण पर्याप्त नहीं है, उसके लिए एक आध्यात्मिक दृष्टिकोण की आवश्यकता है।

देशभक्ति का महत्त्व

इस प्रकार श्री अरविन्द के भाषण और लेख तीव्र राष्ट्रभक्ति से ओत-प्रोत थे। बंगाल राष्ट्रीय कालिज के विद्यार्थियों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा था, "राष्ट्र के इतिहास में ऐसे समय आते हैं जबकि अदृष्ट उसके सामने केवल एक काम एक लक्ष्य उपस्थित करता है, जिसके सन्मुख प्रत्येक अन्य वस्तु, चाहे वह कितनी ही ऊँची और पवित्र क्यों न हो, त्याग दी जानी चाहिए। ऐसा समय हमारी मातृभूमि के लिए अब आ गया है जबकि उसकी सेवा से अधिक प्रिय कुछ नहीं हो सकता, जब प्रत्येक अन्य वस्तु को उस लक्ष्य की ओर निर्देशित किया जाना चाहिए। यदि तुम पढ़ो तो उसके लिए पढ़ो, अपने शरीर, मानस और आत्मा को उसकी सेवा के लिए प्रशिक्षित करो। तुम अपनी आजीविका कमाओगे ताकि तुम उसके लिए जीवित रह सको। तुम विदेश में दूर देशों में जाओगे ताकि तुम लौटकर वह ज्ञान ला सको जिससे कि तुम उसकी सेवा कर सको। कर्म करो ताकि उसकी समृद्धि हो। कष्ट उठाओ ताकि उसे आनन्द मिले। सब कुछ इस एक अकेली सलाह में समा जाता है।"[3] 'बन्देमातरम"

समाचारपत्र के माध्यम से, श्री अरविन्द ने देश के युवाओं में देशभक्ति और राष्ट्रीयता की भावनाओं का प्रसार किया। उन्होंने देशभक्ति को मानव-स्थायीभावों में सर्वोच्च स्थान दिया। उनके अपने शब्दों में, "राजनीति में प्रेम का स्थान है, वह अपने देश का प्रेम अपने देशवासियों का प्रेम, अपनी प्रजाति का यश, महानता और आनन्द के लिए प्रेम, अपने साथियों के लिए आत्मदाह का दैवी आनन्द, उनके कष्टों को दूर करने की प्रसन्नता, देश के लिए और स्वतन्त्रता के लिए अपने खून को बहते हुए देखने की खुशी, प्रजाति के पूर्वजों से मृत्यु के बाद मिलने का परमानन्द है।"[4] देश के प्रति समर्पित व्यक्ति उसकी भूमि को स्पर्श करने मात्र से भौतिक आनन्द अनुभव करता है। वह अपने देश के सागरों, नदियों, पहाड़ों, संगीत, काव्य, साहित्य और संस्कृति से प्रेम करता है। यही प्रेम देशभक्ति का आधार है। देशभक्ति के कारण ही हम अपने देश के भूतकाल पर गर्व करते हैं, वर्तमान में इसके लिए कष्ट उठाते हैं, और इसके भविष्य का निर्माण करने के लिए सब प्रकार के त्याग करते हैं। यह त्याग, सेवा और कठोर तप देशभक्ति से निकलता है। मातृभूमि की पूजा, उसका निरन्तर चिन्तन और उसकी लगातार सेवा देशभक्ति को जीवित रखते हैं। श्री अरविन्द के लेख और भाषण देशभक्ति की भावना से इतने अधिक ओत-प्रोत थे कि उन्होंने समस्त देश में जागृति की लहर-सी दौड़ा दी।

राष्ट्रीयता की धारणा

भारतीय संस्कृति का यह लक्षण रहा है कि उसने कभी भी लौकिक और आध्यात्मिक को अलग नहीं माना और पहला सदैव दूसरे की अभिव्यक्ति माना है। श्री अरविन्द की देशभक्ति और राष्ट्रीयता लौकिक नहीं थे, वे धार्मिक भावना से परिपूर्ण थे। राष्ट्र की सेवा उनका सर्वोच्च धर्म था। जैसाकि उन्होंने लिखा है, "राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का कार्य एक विशाल और पवित्र यज्ञ है; बहिष्कार, स्वदेशी, राष्ट्रीय शिक्षा और प्रत्येक अन्य छोटी-बड़ी क्रिया उसके केवल बड़े और छोटे अंग हैं। स्वतन्त्रता वह फल है जोकि हम त्याग के द्वारा खोज रहे हैं और मातृभूमि वह देवी है जिसके प्रति हम उसे अर्पित करते हैं, यज्ञ की अग्नि की सात लपलपाती हुई जिह्वाओं में हमें हम जो कुछ हैं और जो कुछ हमारे पास है उसे अर्पित करना चाहिए, इस अग्नि को अपने रक्त और जीवन और अपने निकटतम तथा प्रियतम व्यक्तियों के आनन्द को स्वाहा करके जीवित रखना चाहिए क्योंकि मातृभूमि एक ऐसी देवी है जो कोई विकलांग अथवा अपूर्ण त्याग ग्रहण नहीं करती, और स्वतन्त्रता, त्याग से पीछे हटने वाले के द्वारा कभी भी देवताओं से प्राप्त नहीं की जाती।"[5] श्री अरविन्द ने अपने देशवासियों का राष्ट्र के लिए सब कुछ त्याग देने के लिए आह्वान किया। उन्होंने देशभक्ति को जीवन का कोई एक पहलू नहीं बल्कि सम्पूर्ण जीवन माना। उनके लिए राष्ट्र की सेवा एक धार्मिक कार्य था। अपने भाषण में से एक में उन्होंने कहा था, "राष्ट्रीयता क्या है? राष्ट्रीयता केवल एक राजनीतिक कार्यक्रम नहीं है: राष्टीयता एक धर्म है जोकि ईश्वर से आया है राष्ट्रीयता एक है जिसमें तुमको जीवित रहना

पड़ेगा—यदि तुम एक राष्ट्रवादी होने जा रहे हो, यदि तुम राष्ट्रीयता के इस धर्म के प्रति अपनी सहमति देने जा रहे हो, तो तुम्हें यह धार्मिक भावना से करना चाहिए। तुम्हें यह याद रखना चाहिए कि तुम ईश्वर के उपकरण हो।"[6] इस प्रकार श्री अरविन्द ने राष्ट्रीयता का एक धर्म उपस्थित किया। उन्होंने माता और देवी के रूप में मातृभूमि की पूजा की और प्रत्येक को उसके लिए प्रत्येक वस्तु का त्याग करने का आह्वान किया। उन्होंने पूर्ण स्वराज्य की माँग की और उसको प्राप्त करने के लिए प्रत्येक साधन स्वीकार किया। 'वन्दे मातरम' में उन्होंने लिखा, "हम अपनी मातृभूमि में देवत्व के अतिरिक्त पूजा का कोई भी राजनीतिक लक्ष्य, स्वतन्त्रता के अतिरिक्त राजनीतिक प्रयास का कोई भी वर्तमान लक्ष्य राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की ओर ले जाने मे सहायक अथवा बाधक होने के अतिरिक्त राजनीतिक शुभ अथवा अशुभ के रूप में कोई भी कार्य अथवा प्रणाली नहीं मानते।"[7] यहाँ पर श्री अरविन्द ने स्वतन्त्रता को राजनीतिक आन्दोलन का एक मात्र लक्ष्य माना है। उनके नीति दर्शन में साध्य की श्रेष्ठता ही साधन की श्रेष्ठता निर्धारित करती है और एक आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कोई भी साधन अपनाया जा सकता है। अस्तु, उन्होंने अपने देश-वासियों को कोई भी राजनीतिक प्रणाली और राजनीतिक कार्य का कोई भी रूप अपनाने के लिए कहा जोकि पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए आवश्यक माना गया हो।

राष्ट्रीयता को एक धर्म मानते हुए श्री अरविन्द ने यह घोषणा की कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन दैवी प्रेरणा से परिचालित है। वह इस देश मे ईश्वर साक्षात्कार का एक प्रयास है। अस्तु, महानतम शक्ति भी उसे दबा नहीं सकती और अन्त में उसकी विजय होनी ही चाहिए। इस देश के भविष्य में श्री अरविन्द की अदम्य आस्था उनके राष्ट्रीयता के धर्म पर आधारित थी। उन्होंने कहा था, "राष्ट्रीयता एक धर्म है जोकि ईश्वर से आया है—उसका दमन नहीं किया जा सकता। उसका दमन नहीं हो सकेगा। राष्ट्रीयता का अस्तित्व ईश्वर की शक्ति में है और उसका दमन सम्भव नहीं है, चाहे उसके विरुद्ध कैसे भी हथियार उठा लिए जाएँ। राष्ट्रीयता अमर है, राष्ट्रीयता मर नहीं सकती, क्योंकि यह कोई मानवीय वस्तु नहीं है, यह ईश्वर है जो बंगाल में काम कर रहा है।"[8]

विभिन्न स्थानों पर अपने देशवासियों के सामने भाषण करते हुए श्री अरविन्द ने उनको राम, कृष्ण, बुद्ध, शिवाजी और गुरु गोविन्दसिंह को याद रखने को कहा और यह प्रश्न उपस्थित किया कि क्या महापुरुषों का यह देश विदेशियों के चरणों मे पड़ा रहेगा अथवा क्या वे उसे स्वतन्त्र करने के लिए प्रत्येक वस्तु का त्याग करने को तैयार हैं? इस प्रकार श्री अरविन्द राष्ट्रीय आन्दोलन को एक दैवी आदेश और आध्यात्मिक नियम मानते थे। किन्तु यह राष्ट्र-प्रेम अहंकारमय नहीं था। अपने अनेक भाषणों में श्री अरविन्द ने यह पूर्णतया स्पष्ट कर दिया था कि भारत की स्वतन्त्रता और विकास केवल भारत के लिए ही नहीं बल्कि मानवता के लिए पृथ्वी पर स्वर्ग के राज्य की स्थापना के लिए है उन्होंने भारतीय समाज के प्रत्येक वर्ग विशेषतया

पिछड़े वर्गों ता आह्वान किया और राष्ट्रीय जागृति में योगदान देने के लिए कहा।

राष्ट्र आत्मा की धारणा

व्यक्ति, राष्ट्र और मानवता दैवी परम सद्वस्तु की तीन अभिव्यक्तियाँ हैं। व्यक्ति और राष्ट्र में आत्मविकास ही जीवन का लक्ष्य है। प्रत्येक स्तर पर प्रकृति आत्माभिव्यक्ति की ओर काम कर रही है। सब-कहीं शरीर, प्राण और मानस के पीछे एक आत्मा है। प्रत्येक व्यक्ति, समूह, प्रजाति, समाज अथवा राष्ट्र का लक्ष्य आत्माभिव्यक्ति है। व्यक्तियों के विकास के अतिरिक्त, परिवार का लक्ष्य उसकी समग्र पूर्णता है। यही अन्य मानव-समूहों के विषय में भी कहा जा सकता है। सब-कहीं व्यक्ति की पूर्णता समष्टि की पूर्णता की पूरक है।

श्री अरविन्द की 'राष्ट्र आत्मा की धारणा' 'व्यक्ति आत्मा की धारणा' के आधार पर ही विकसित की गई है। उनके अपने शब्दों में, "व्यक्ति के समान ही राष्ट्र अथवा समाज का भी शरीर होता है, एक सुगठित जीवन, एक नैतिक और सौन्दर्यात्मक स्वभाव होता है और इन सब चिह्नों और शक्तियों के पीछे एक विकासमान मन और एक ऐसी आत्मा होती है जिसके लिए ही इनका अस्तित्व है। यह भी देखा जा सकता है कि वह व्यक्ति के समान मूलतः एक आत्मा है, यह नहीं कि उसकी एक आत्मा है। वह एक सामुदायिक आत्मा है जोकि एक बार पृथक् विशिष्टता प्राप्त कर लेने पर अधिकाधिक सचेतन होती जाएगी और जैसे-जैसे वह अपना सम्मिलित कार्य एवं मानसिक शक्ति और सुगठित आत्माभिव्यंजक जीवन विकसित करेगी वैसे-वैसे वह अपने को उत्तरोत्तर पूर्ण रूप से उपलब्ध करती जाएगी।[9] इस प्रकार श्री अरविन्द के अनुसार जिस तरह प्रत्येक व्यक्ति में एक शरीर, प्राण और मानस होता है, और इनके पीछे एक आत्मा होती है, उसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र में एक विशाल भूखण्ड, भावात्मक एकता, मानसिक जीवन और इन सबके पीछे राष्ट्र आत्मा देखी जा सकती है। जिस प्रकार व्यक्ति शरीर, प्राण और मानस नहीं है बल्कि आत्मा है उसी प्रकार राष्ट्र शरीर, प्राण अथवा मानस नहीं है बल्कि राष्ट्र आत्मा है। जिस प्रकार व्यक्ति के आत्मविकास में शारीरिक विकास, प्राणात्मक विकास और मानसिक विकास अनिवार्य है, उसी प्रकार राष्ट्र आत्मा के विकास में देश की भूमि की रक्षा और देश का भौतिक विकास, देश में भावात्मक एकता की वृद्धि, राष्ट्र का कलात्मक, दार्शनिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक तथा अन्य सब प्रकार का मानसिक विकास आवश्यक है। इनमें से किसी को भी छोड़कर न तो व्यक्ति में आत्मा का विकास हो सकता है और न राष्ट्र में आत्मा का विकास सम्भव है। यही कारण है कि प्रत्येक राष्ट्र को विदेशियों के आक्रमण के विरुद्ध अपनी भूमि की रक्षा करनी चाहिए, प्रत्येक राष्ट्र को भौतिक, औद्योगिक, आर्थिक विकास के साथ-साथ सांस्कृतिक विकास करना चाहिए। जिस प्रकार व्यक्ति के जीवन में आत्मसाक्षात्कार उसका धर्म, उसको दैवी आदेश है, उसी प्रकार राष्ट्र के जीवन में राष्ट्र आत्मा का साक्षात्कार राष्ट्र धर्म राष्ट्र को दैवी आदेश है। जिस प्रकार आत्मसाक्षात्कार व्यक्ति का स्वार्थ नहीं

है, बल्कि ईश्वर का आदेश है, उसी प्रकार राष्ट्र आत्मा का साक्षात्कार राष्ट्रीय स्वार्थ नहीं है बल्कि दैवी विधान है। जिस प्रकार बहुधा व्यक्ति आत्मा को भूलकर अपने अहम् को आत्मा मान बैठते हैं उसी प्रकार मानव-इतिहास में भिन्न-भिन्न काल में विभिन्न राष्ट्रों के विकास में राष्ट्रीय अहम् को राष्ट्र आत्मा मान लिया गया है। जैसे व्यक्ति मे अहम् के विकास से न केवल उसको हानि होती है बल्कि दूसरों को भी कष्ट उठाना पड़ता है, उसी प्रकार किसी राष्ट्र मे अहंकार अत्यधिक बढ़ जाने पर उस राष्ट्र को तथा अन्य राष्ट्रों को भी कष्ट उठाना पड़ता है। इसका एक उदाहरण द्वितीय विश्व महायुद्ध के पूर्व जर्मनी में राष्ट्रीय अहम् का विकास था। जिस प्रकार व्यक्ति के जीवन में आत्म-साक्षात्कार एक क्रमिक और कठिन प्रक्रिया है उसी तरह राष्ट्र के जीवन में भी राष्ट्र आत्मा की खोज बड़ी कठिनता से और क्रमशः ही की जा सकती है। जैसे व्यक्ति के जीवन में आत्मिक विकास की पहचान व्यक्ति के विभिन्न पहलुओं में क्रमशः बढ़ती हुई स्वतन्त्रता, समन्वय और एकता है वैसे ही राष्ट्र के जीवन में राष्ट्र आत्मा का विकास राष्ट्र के विभिन्न वर्गों में स्वतन्त्रता, समन्वय और एकता के विकास में दिखलाई पड़ेगा। जैसे व्यक्ति में आत्मा का विकास अन्य व्यक्तियों से उसके समन्वय की ओर ले जाता है उसी प्रकार राष्ट्र आत्मा का विकास अन्य राष्ट्रों से समन्वय की ओर ले जाता है। अन्त मे जैसे व्यक्ति का आत्मविकास ही उसका परम साध्य, उसका उच्चतम कल्याण है उसी प्रकार राष्ट्र आत्मा का साक्षात्कार राष्ट्र का परम साध्य, उसका परम कल्याण है।

व्यक्ति और राष्ट्र की संरचना में समानान्तरता के उपरोक्त विवेचन से यह नहीं समझना चाहिए कि श्री अरविन्द ने इन दोनों में कोई भेद ही नहीं किया है; अथवा कि वे यह भूल गए हैं कि जबकि व्यक्तिगत आत्मा के विभिन्न पहलुओं का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है राष्ट्र आत्मा के विभिन्न अंग व्यक्तियों का राष्ट्र से अलग भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व सम्भव है। व्यक्तिगत आत्मा और राष्ट्र आत्मा मे यह अन्तर स्पष्ट करते हुए श्री अरविन्द ने लिखा है, "व्यक्तिगत आत्मा और समुदाय आत्मा की समानता उनके हर पहलू में होती है, क्योंकि यह समानता से अधिक है, यह स्वभाव की वास्तविक तादात्म्यता होती है। भेद केवल इतना है कि सामुदायिक आत्मा बहुत अधिक जटिल होती है क्योंकि उसकी भौतिक देह के अंगों के रूप मे केवल प्राणमय अवचेतन कोष्ठकों के संघात के स्थान पर आंशिक रूप में चेतन मनोमय शक्तियों की बहुत बड़ी संख्या विद्यमान रहती है।"[10] व्यक्तिगत आत्मा और समुदाय आत्मा में इसी अन्तर के कारण अधिकतर लोग यह मानने के लिए तैयार नहीं होते कि राष्ट्र आत्मा जैसा कोई तत्त्व है। इसी कारण अनेक लोग व्यक्तिगत आत्मा को आत्म-निष्ठ और राष्ट्र को वस्तुनिष्ठ मानते हैं। किन्तु श्री अरविन्द ने सामुदायिक चेतना से अनेक प्रकार के उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है कि राष्ट्र आत्मा कल्पना मात्र नहीं है।

राष्ट्र आत्मा की चेतना

जिस तरह सामान्य भौतिक, प्राणात्मक अथवा मानसिक स्तर पर रहने वाले व्यक्ति को यह अनुभव करना कठिन होता है कि उसमें आत्मा भी है वैसे ही वह राष्ट्र

आत्मा के अस्तित्व को भी कल्पना की सृष्टि मानता है और जिस तरह व्यक्ति में आत्मा विशेष प्रकार के आध्यात्मिक विकास से अनुभव की जा सकती है वैसे ही राष्ट्र आत्मा की चेतना जागृत होने पर ही व्यक्ति उसके अस्तित्व का अनुभव करते हैं। जैसे व्यक्ति में आत्मा वस्तुगत नहीं है और उसे वस्तुगत रूप से सिद्ध अथवा प्रदर्शित किया जा सकता है वैसे ही राष्ट्र आत्मा भी प्रदर्शन, प्रमाण अथवा प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। किन्तु जैसे जिस व्यक्ति को आत्मा का अनुभव हुआ है वह प्रत्येक स्थिति में उसके अस्तित्व को मानता ही रहता है वैसे ही देशभक्ति अथवा राष्ट्र-धर्म का अनुगमन करने वाले व्यक्तियों के लिए राष्ट्र आत्मा एक प्रत्यक्ष और साकार अनुभव है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "जब हमें अनुभव होने लगता है कि भूमि तो देश का बाह्य आवरण मात्र है, यद्यपि वह सचमुच अत्यन्त जीवित आवरण है और राष्ट्र पर अपने प्रभाव की दृष्टि से शक्तिशाली भी है, तब हम यह अनुभव करने लगते हैं कि उसकी सच्ची देह तो वे पुरुष और स्त्रियाँ हैं जो राष्ट्र इकाई के निर्माता हैं और यह देश एक निरन्तर परिवर्तनशील परन्तु व्यक्ति की देह के समान सदा वही बनी रहने वाली देह है तब हम एक सच्ची अनुभवात्मक सामुदायिक चेतना की ओर अग्रसर होते हैं। तभी हमारे लिए ऐसा अनुभव करने की सम्भावना उत्पन्न होती है कि समाज की भौतिक सत्ता भी केवल एक स्थूल अस्तित्व नहीं वरन् एक अनुभवात्मक शक्ति है। अपने आन्तरिक रूप में यह कहीं अधिक महान् एक समवाय आत्मा है जिसमें आत्मिक जीवन की सम्भावनाएँ और विभीषिकाएँ निहित हैं।"[11] जैसाकि श्री अरविन्द ने अपने अनेक ग्रन्थों में दिखलाया है, आधुनिक काल में संसार के अधिकतर राष्ट्रों में, विशेषतया नवजागृत राष्ट्रों में, राष्ट्र आत्मा की चेतना बढ़ती दिखलाई दे रही है। आज अधिकतर राष्ट्र अपने जीवन के प्रत्येक पहलू में आत्म-साक्षात्कार का प्रयास करते दिखलाई पड़ते हैं। स्वदेशी और स्वधर्म इस प्रक्रिया के मूल आधार हैं। संसार में स्वप्रकृति के अनुरूप विकास प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक जीव प्राणी, प्रत्येक समष्टि का धर्म है। इस स्वधर्म का पालन ही आत्मसाक्षात्कार है। स्वधर्म पालन में स्वदेशी का विशेष महत्त्व है। इसके बिना राष्ट्रीय क्षेत्र में स्वधर्म का पालन नहीं हो सकता। अस्तु, आज संसार में अधिकतर राष्ट्र अपनी विशिष्ट संस्कृति, भाषा, साहित्य, दर्शन, कला, धर्म तथा आर्थिक और औद्योगिक जीवन की प्रगति में जुटे हुए हैं। यदि विभिन्न राष्ट्रों में इस प्रगति में समन्वय बना रहे तो निश्चय ही इससे समस्त मानवता का विकास होगा। किन्तु यह समन्वय तभी हो सकता है जबकि सब-कहीं राष्ट्र आत्मा को ही लक्ष्य बनाया जाए, राष्ट्रीय अहम् को नहीं। इस दृष्टि से श्री अरविन्द का राष्ट्रवाद 'आध्यात्मिक राष्ट्रवाद' कहा जा सकता है।

आध्यात्मिक राष्ट्रवाद

संसार के इतिहास में भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न विचारकों ने अनेक प्रकार के राष्ट्रवाद उपस्थित किए हैं। कुछ लोग देश के भौतिक विकास को ही राष्ट्रीय विकास मानते रहे हैं और ऐसा करने में उन्होंने साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का भी सहारा लिया है जिससे संसार में अन्य राष्ट्रों को बड़े कष्ट झेलने पड़े हैं अन्

लोग राष्ट्रवाद को प्रजातिवाद, धर्मवाद अथवा इसी प्रकार की किसी अन्य संकीर्ण धारणा पर आधारित करते रहे हैं। श्री अरविन्द ने आध्यात्मिक राष्ट्रवाद की धारणा उपस्थित करके जहाँ एक ओर राष्ट्र के सर्वांग विकास का दार्शनिक आधार प्रस्तुत किया, वहाँ दूसरी ओर एक ऐसी राजनीतिक धारणा प्रस्तुत की जिस पर चलकर विभिन्न राष्ट्र अलग-अलग प्रगति करते हुए भी समस्त मानवता की प्रगति में अपना योगदान दे सकते हैं। अपने इस आध्यामिरक राष्ट्रवाद को स्पष्ट करते हुए श्री अरविन्द ने लिखा है, "वह प्रत्येक मानव-समाज, राष्ट्र, जाति अथवा किसी भी अन्य सुगठित समुदाय को इसी दृष्टि से देखेगा, यह भी कहा जा सकता है कि वह उन्हें उपआत्माएँ समझेगा, उन्हें 'परम आत्मा' की दिव्य सद्वस्तु की तथा पृथ्वी पर मनुष्य के अन्दर के चेतन असीम की जटिल अभिव्यक्ति और स्वपरिपूर्णता के साधन समझेगा।" आध्यात्मिक राष्ट्रवाद में दमन का सर्वथा निषेध है, चाहे वह राष्ट्र के अन्तर्गत व्यक्ति का दमन हो अथवा साम्राज्य या उपनिवेश के रूप में किसी अन्य राष्ट्र का दमन हो। आध्यात्मिक राष्ट्रवाद में राष्ट्र का कोई भी अंग व्याधिग्रस्त अथवा त्याज्य अथवा साधन मात्र नहीं माना जा सकता, किसी भी वर्ग को पीछे नहीं छोड़ा जा सकता, सभी सदस्यों को पूर्ण स्वतन्त्रता, पूर्ण एकता और पूर्ण समन्वय के जीवन की ओर आगे बढाया जाता है क्योंकि ये ही आध्यात्मिक राष्ट्र जीवन के चिह्न हैं। आध्यात्मिक राष्ट्रवाद में राष्ट्र की भौतिक, आर्थिक, सौन्दर्यात्मक, धार्मिक, नैतिक और बौद्धिक सब प्रकार की प्रगति आवश्यक मानी जाती है। आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का लक्ष्य राष्ट्र का सर्वांग विकास है। उसमें यह मान्यता काम करती है कि समष्टि में प्रत्येक इकाई को अपने स्वधर्म का पालन करना चाहिए। इसी में उसका अपना और इसी में राष्ट्र का हित है। राजनीतिक विचारक के रूप में श्री अरविन्द इस तथ्य से भली प्रकार परिचित थे कि समाज के किसी भी वर्ग को लम्बे समय तक अन्य वर्ग की आधीनता में नहीं रखा जा सकता, चाहे वह वर्ग कितनी भी श्रेष्ठता का दावा क्यों न करता हो। आध्यात्मिक राष्ट्रवाद में समस्त पिछड़े वर्गों को आगे बढाने के प्रयास को प्राथमिकता दी जाएगी, चाहे इसके लिए अन्य वर्गों के विकास को कुछ समय तक रोक ही क्यों न देना पड़े। ये ही सब नियम व्यक्ति के जीवन में भी काम करते हैं। वहाँ भी प्रत्येक अंग का अपना धर्म होता है और उसे उसी का पालन करना चाहिए। शरीर, हृदय, मस्तिष्क इनमें से कोई भी ऐसा नहीं है जिसे अन्य को दमन करके उन पर शासन करने का अधिकार हो। मनुष्य के सर्वांग विकास में इन सभी को स्वतन्त्र, समन्वित और पूर्ण विकास का अवसर दिया जाना चाहिए। आध्यात्मिक राष्ट्रवाद में राष्ट्रीय अहम् नहीं बल्कि राष्ट्र आत्मा ही सद्वस्तु मानी जाती है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "एक आध्यात्मीकृत समाज, ठीक अपने आध्यात्मिक व्यक्तियों के समान ही अहम् में नहीं बल्कि आत्मा में निवास करेगा, एक सामूहिक अहम् के रूप में नहीं बल्कि सामूहिक आत्मा के रूप में अस्तित्व रखेगा। इस प्रकार के आध्यात्मिक राष्ट्रवाद में सन्त से लेकर अपराधी तक किसी भी व्यक्ति को बलपूर्वक ठोक-पीटकर, कानून तथा पुलिस के दबाव से बदलने की कोशिश नहीं की जाती बल्कि उनमें आन्तरिक परिवर्तन किया जाता है आर्थिक क्षेत्र में इसका उद्देश्य का विशाल यन्त्र

निर्माण करना नहीं बल्कि एक ऐसी व्यवस्था स्थापित करना होता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को उसकी प्रकृति के अनुसार कार्य मिले और स्वतन्त्र विकास का अवसर मिले। राजनीति के क्षेत्र में नागरिक को राज्य का दास अथवा यन्त्र नहीं बनाया जाता बल्कि राज्य और व्यक्ति में दोनों के सर्वांग विकास के लिए समन्वय स्थापित किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आध्यात्मिक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों से युद्ध नहीं छेड़ता बल्कि उन्हे उनकी आत्मा के साक्षात्कार में सहायता देता है और इसके बदले में वह कोई स्वार्थसिद्धि नहीं चाहता। आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय विषयों में सब-कहीं स्वतन्त्रता आध्यात्मिक राष्ट्र का नियम है।" "कारण एक पूर्णतया आध्यात्मिक समाज वह होगा जिसमे जैसाकि एक आध्यात्मिक अराजकतावादी स्वप्न देखता है, सब मनुष्य गहरे रूप मे स्वतन्त्र होंगे। और ऐसा इसलिए होगा, क्योंकि प्राथमिक शर्तें पूरी हो चुकी होंगी। उस अवस्था में प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपने लिए एक विधान नहीं बल्कि विशेष विधान अर्थात् दिव्य विधान होगा। कारण, वह भगवान में निवास करने वाली एक आत्मा होगा, एक ऐसा अहम् भाव नहीं जो यदि पूर्णतया नहीं तो प्रधानतया अपने हित और स्वार्थ के लिए जीवित रहता है। उसका जीवन उसकी अपनी दिव्य अहम्मुक्त प्रकृति के नियम से सचालित होगा।" इस प्रकार के आध्यात्मिक राष्ट्र की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्र में पहले कुछ व्यक्तियों में और फिर सम्पूर्ण जनसमुदाय में आध्यात्मिकता का विकास हो। आध्यात्मिक व्यक्ति ही आध्यात्मिक राष्ट्र बना सकते हैं। इस प्रकार आध्यात्मिक राष्ट्र बनना प्रत्येक राष्ट्र का लक्ष्य है। इसमें उसके सदस्यों का और उसका अपना कल्याण है तथा इसी में मानवता का भी कल्याण है। इस दृष्टिकोण को लेकर श्री अरविन्द ने सब-कहीं मानव-समाजों के आध्यात्मिक रूपान्तर की आवश्यकता पर जोर दिया है और उसके लिए उपाय भी सुझाए हैं। उन्होंने आध्यात्मिक युग के आगमन की अवस्थाएँ स्पष्ट की हैं और यह घोषणा की है कि वर्तमान काल में ये अवस्थाएँ अत्यन्त सूक्ष्म रूप में दिखलाई पड़ने लगी हैं। इस प्रकार श्री अरविन्द के दर्शन में मानव के उज्ज्वल भविष्य में आस्था है। यह आस्था किसी बौद्धिक दर्शन अथवा तर्क पर आधारित न होकर इस आध्यात्मिक अनुभव पर आधारित है कि विश्व में सब-कहीं व्यक्तिगत और सामुदायिक जीवन के मूल में एक ही परम शक्ति कार्य कर रही है और अन्त में वही होगा जो उस परम शक्ति का नियम है। यह परम शक्ति आध्यात्मिक है। इसलिए आध्यात्मिक राष्ट्रों का विकास और अन्त में आध्यात्मिक मानवता की स्थापना अनिवार्य है।

राष्ट्रीयता और मानव-एकता

राष्ट्रों का विकास और समस्त मानव-प्राणियों की एकता ये दोनों ही समान सिद्धान्तों के आधार पर विकसित होते हैं। आज संसार में सब-कहीं मानव-एकता की बात की जाने लगी है। इसकी सम्भावना और प्रणाली पता लगाने के लिए श्री अरविन्द ने पहले यह विश्लेषण किया कि मानव-समुदाय राष्ट्र कैसे बने, इसमें कौन-कौनसी कठिनाइयाँ आइ किन किन विधियों से काम लिया गया कौन-कौनसी

अवस्थाओं से गुजरना पड़ा और वर्तमान समय में इसकी क्या स्थिति है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'मानव-एकता का आदर्श' के प्रथम भाग में श्री अरविन्द ने यही विवेचन किया है क्योंकि उनके अनुसार जो सिद्धान्त राष्ट्र के निर्माण में काम करते रहे है, उन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर आगे चलकर मानव-एकता का निर्माण किया जा सकता है। जैसाकि पीछे अनेक स्थानों पर कहा जा चुका है, श्री अरविन्द के दर्शन में व्यक्ति और समष्टि एक ही सद्‌वस्तु के दो पहलू हैं और इनमें समन्वय अत्यन्त आवश्यक है। ये घनिष्ठ सम्बन्ध ही राष्ट्र और उससे बड़े समुदायों का आधार है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "प्रकृति की सारी कार्य-शैली जीवन के दो ध्रुवों, व्यक्ति और समष्टि में सामंजस्य स्थापित करने की एक ऐसी प्रकृति पर अवलम्बित है जो उनमें निरन्तर सन्तुलन बनाए रखने का यत्न करती है। व्यक्ति का पोषण समष्टि समुदाय द्वारा होता है और समष्टि की रचना में व्यक्ति सहायक होता है।"[12] पूर्ण समाज वही होगा जो व्यक्ति की परिपूर्णता का पूरी तरह से समर्थन करेगा। व्यक्ति की पूर्णता तब तक अधूरी रहेगी जब तक वह सामाजिक समूह की और अन्त में यथासम्भव बड़े-से-बड़े मानव-समुदाय की, समुचित संगठित मनुष्य-जाति की पूर्णत्व की अवस्था को लाने में सहायक नहीं होगी।" इस प्रकार न केवल राष्ट्र के विकास के लिए व्यक्ति का विकास आवश्यक है बल्कि व्यक्ति के विकास के लिए भी राष्ट्र का और अन्त में सम्पूर्ण मानवता का विकास आवश्यक है। प्रकृति के क्षेत्र में जो प्रयोग किए जाते हैं वे कभी भी पूरी तरह नष्ट नहीं होते, बल्कि अभिव्यक्ति की विविधता और समृद्धि बनाए रखने के लिए सुरक्षित रहते है। इसलिए जिस प्रकार परिवार के विकास के लिए व्यक्ति को मिटाना आवश्यक नहीं है और राष्ट्र के विकास के लिए परिवारों को मिटाना आवश्यक नहीं है वैसे ही मानव-समुदाय की एकता में राष्ट्रों की स्वतन्त्रता से कोई बाधा नहीं आती। बल्कि दूसरी ओर यह कहा जा सकता है कि जिस तरह परिवार के विकास के लिए व्यक्ति का विकास और राष्ट्र के विकास के लिए परिवारों का विकास आवश्यक है वैसे ही मानवता के लिए राष्ट्रों का विकास आवश्यक है। इसका एक विशेष कारण यह भी है कि परिवार और राष्ट्र मनुष्यों की प्राकृतिक इकाइयाँ हैं। जो समुदाय, समूह या इकाइयाँ कृत्रिम रूप में अथवा किसी विशेष लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए बनाए गए हैं उनका प्रयोजन पूरा हो जाने पर उन्हें छोड़ा जा सकता है और बहुधा वे स्वयं समाप्त हो जाते है। किन्तु यह बात उन मानव-समुदायों के बारे में लागू नहीं हो सकती जो प्राकृतिक है जैसे—परिवार और राष्ट्र। परिवार को तो अधिकतर विचारक प्राकृतिक मानते है किन्तु कुछ लोग राष्ट्र को प्राकृतिक नहीं मानते। श्री अरविन्द के अनुसार राष्ट्र ही वह सबसे बड़ी इकाई है जिसे प्रकृति अब तक सफलतापूर्वक विकसित कर चुकी है। यह इकाई अभी भी पूर्णतया संगठित नहीं हो सकी है। इसमें विभिन्न वर्गों में सदैव कलह देखा जाता है।

राष्ट्र और प्रभावी वर्ग

साधारणतया प्रत्येक राष्ट्र में कोई-न-कोई वर्ग प्रबल दिखाई पड़ता है, भले ही वह शिष्ट वर्ग हो, वैश्य वर्ग हो अथवा श्रमिक वर्ग हो। जिस राष्ट्र में जो वर्ग प्रबल होगा, उसकी उसी प्रकार की प्रवृत्ति बन जाएगी और उसमें वही आदर्श अधिक उन्नति करेगा। उदाहरण के लिए प्राचीन भारत में बौद्धिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में ब्राह्मण-वर्ग प्रधान था इसीलिए प्राचीन भारतीय राष्ट्र दार्शनिक और आध्यात्मिक था। आधुनिक संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में व्यापारिक वर्ग प्रधान है और इसलिए वहाँ की राष्ट्रीय राजनीति भी मुख्य रूप से वाणिज्य और व्यापार के नियमों से परिचालित होती है। किन्तु किसी भी राष्ट्र में कोई भी वर्ग सदैव के लिए बलवान नहीं रह सकता और न किसी भी अन्य वर्ग को सदैव दास बनाए रखा जा सकता है। इसीलिए समाज के विभिन्न वर्गों में वर्ग-संघर्ष चलता रहता है। शोषित और दलित वर्ग क्रान्ति करते हैं और प्रबल वर्ग पर हावी हो जाते हैं। यदि नया वर्ग अन्य वर्गों की आवश्यकताओं को समझता है तो वह अपना प्रभुत्व बनाए रख सकता है किन्तु चूँकि ऐसा नहीं होना इसलिए शीघ्र ही दलित वर्ग, प्रबल वर्ग के विरुद्ध खड़ा हो जाता है। कार्ल मार्क्स के समान श्री अरविन्द यह मानते हैं कि आधुनिक औद्योगिक समाजों में पूंजीपति और श्रमजीवी ये दो मुख्य वर्ग हैं जिनमें पूंजीपति वर्ग अधिकतर राष्ट्रों में प्रबल है और श्रमजीवी बहु-संख्यक होने पर भी शोषित और पददलित है। मार्क्स के समान ही श्री अरविन्द ने यह माना है कि पूंजीपतियों को यह समझ लेना चाहिए कि यदि उन्होंने अपना रवैया नहीं बदला तो उनके वैभव के दिन गिने-चुने ही हैं। श्री अरविन्द के शब्दों में, "इसलिए एक प्रबल अल्पसंख्यक वर्ग के लिए सबसे बढ़िया परामर्श यह है कि वह सदा समय रहते ही ठीक घड़ी को पहचानकर अपने अधिकार का त्याग कर दे और अपने आदर्श, गुण, संस्कृति तथा अनुभव, समुदाय के बाकी के सारे व्यक्तियों को या उसके उतने अंग को सौंप दे जो उन्नति करने के लिए तैयार हैं। जहाँ ऐसा होता है वहाँ सामाजिक समुदाय बिना किसी बाधा, गम्भीर चोट या व्याधि के, स्वाभाविक रूप से आगे बढ़ता है।"[13] किन्तु अधिकतर राष्ट्रों में अल्पसंख्यक वर्ग स्वयं अपने अधिकार छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता और इसलिए गृहयुद्ध होते हैं, वर्ग-संघर्ष बढ़ता है और अन्त में दलित वर्ग क्रान्ति के द्वारा अल्पसंख्यक प्रबल वर्ग को पराजित करता है। यहाँ पर जो बात राष्ट्र के अन्तर्गत वर्गों के विषय में कही गई है, वही अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति में राष्ट्रों के विषय मे कही जा सकती है। आज ऐसा समय आ गया है जबकि प्रबल राष्ट्रों को यह समझ लेना चाहिए कि उन्हें अन्य बहुसंख्यक राष्ट्रों के हितों को ध्यान में रखते हुए ही आगे बढ़ना है। यदि ऐसा नहीं होगा तो जिस तरह राष्ट्र में उसी तरह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे भी कभी-न-कभी बहुसंख्यक दलित राष्ट्र अल्पसंख्यक प्रबल राष्ट्रों के विरुद्ध क्रान्ति करेंगे। चूँकि मानव-प्राणी एक ओर आत्मपूर्णता और दूसरी ओर आत्मा की व्यापकता दोनों ही लक्ष्य प्राप्त करना चाहता है इसलिए एक ओर उसे अन्य व्यक्तियों से अलग परिवार, वंश, वर्ग और राष्ट्र में संगठित होने का अधिकार दिया जाना चाहिए और दूसरी ओर उसे इन सीमाओं से ऊपर उठकर व्यापक मानव-चेतना का निर्माण करना चाहिए

व्यष्टि और समष्टि

श्री अरविन्द के अनुसार, "प्रकृति का सदा से यह ढंग रहा है कि जब उसे सामंजस्य के दो तत्वों में अनुकूलता लानी होती है, तो पहले तो वह उन्हें दीर्घकाल तक लगातार बनाए रखते हुए आगे बढ़ती है जिसमें कभी वह पूरी तरह एक ओर झुक जाती है और कभी दूसरी ओर, और कभी दोनों के अत्यधिक आग्रहों को ठीक करने के लिए उनमें यथासम्भव सफल और तत्कालीन सामंजस्य एवं मर्यादित करने वाला समझौता कर देती है।"[14] इस प्रकार व्यक्ति और समुदाय के सम्बन्ध में कभी व्यक्तिवादी और कभी समष्टिवादी प्रवृत्ति बढ़ती रही है और अभी तक इन दोनों प्रवृत्तियों में अस्थायी समझौता ही बन सका है। मानव-समुदायों के क्रमशः विकास में पहले परिवार, कुल, जाति और वर्ग का विकास हुआ, तब राष्ट्र का और कल को मानव-जाति की एकता का भी विकास हो सकता है। किन्तु चूंकि अभी व्यक्ति और समुदाय में ही समन्वय नहीं हो सका है, इसलिए राष्ट्रों से बड़े समूहों का विकास निकट भविष्य में सम्भव नहीं दिखलाई पड़ता। इतिहास और समाजशास्त्र के अध्ययन से हमें यह पता चलता है कि मनुष्य सदा से ही छोटे और बड़े किसी-न-किसी प्रकार के समुदाय में रहता रहा। समुदाय और व्यक्ति के सम्बन्ध में तीन प्रकार के मत दिखलाई पड़े हैं यथा व्यक्तिवादी, समष्टिवादी और तीसरे, एक ऐसा समुदाय जिसमें व्यक्ति को अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता दी गई हो। यह तीसरे प्रकार का समुदाय अधिकतर आदर्श की ही स्थिति मे है, यथार्थ नहीं हो सका है। अधिकतर राज्य इस तथ्य का उदाहरण है।

राज्य और राष्ट्र

श्री अरविन्द ने जहाँ राष्ट्र का समर्थन किया है, वहाँ राज्य को मानव-समुदाय के रूप मे अपर्याप्त माना है। उनके अनुसार राष्ट्र राजनीतिक इकाई होने से पहले मनोवैज्ञानिक इकाई होता है क्योंकि उसमें आन्तरिक एकता होती है जबकि राज्य में यह एकता किसी-न-किसी बाह्य तत्त्व पर आधारित होती है। मानव-एकता के मार्ग में आज राज्यो ने बाहरी बाधा उत्पन्न की हुई है क्योंकि प्रत्येक राज्य के सामने उसके अपने सीमित स्वार्थों की सिद्धि ही सब कुछ है और राजनीति के नाम पर सब-कहीं यही असत्याचरण प्रचलित है। आदर्श रूप में राज्य समाज की सामूहिक बल-बुद्धि पर आधारित है और सबके हित के लिए संगठित किया जाता है, किन्तु व्यावहारिक रूप में वह कुछ थोड़े से लोगों के स्वार्थों को सिद्ध करने के लिए बनाए गए यन्त्र से अधिक कुछ नहीं होता। "संगठित राज्य न तो राष्ट्र की सर्वश्रेष्ठ बुद्धि है और न ही सामाजिक शक्तियों का कुल जोड़ है। वह अपने संगठित कार्य-क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण अल्पसंख्यक वर्गों की कार्य-शक्ति तथा उनके विचारशील मन को बहिष्कृत कर देता है। उन्हें दबाता या अनुचित रूप से निरुत्साहित करता है।"[15]

राज्य सिद्धान्त में अन्य एक बड़ी कमी यह है कि उसमें आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अलग-अलग नियम अपनाये जाते हैं। जबकि आन्तरिक मामलों मे

कुछ-न-कुछ सभ्य नियमों का पालन किया जाता है, अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में इस प्रकार का कोई नियम नहीं है। यदि कोई राष्ट्र दूसरे पर आक्रमण नहीं करता तो उसका कारण केवल यही है कि उसे उसमें कोई लाभ दिखलाई नहीं पड़ता बल्कि हानि ही दिखलाई पड़ती है। इसके अतिरिक्त उस पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून, नैतिकता अथवा आदर्श का कोई भी बन्धन नही है। राज्य में सब-कहीं अहम् भाव दिखलाई पड़ता है। इसी अहम् भाव के कारण वह एक ओर राष्ट्र के अन्तर्गत व्यक्तियों और वर्गों तथा दूसरी ओर राष्ट्र के बाहर निर्बल राष्ट्रों पर अत्याचार करता है। आधुनिक काल मे आन्तरिक मामलों मे राज्य के अत्याचार बहुत ही कम हो गए हैं। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में अभी यह स्थिति नहीं आई है। श्री अरविन्द ने राज्य के सर्वसत्ताधिकारी दावे का जोरदार खण्डन किया है। वे न तो राज्य को व्यक्ति पर सब प्रकार के अधिकार देते हैं और न उसे मानव-विकास का सर्वोत्तम साधन ही मानते हैं। जबकि उन्होंने राष्ट्रीय संस्कृति, धर्म और शिक्षा को उपयोगी माना है, उनके अनुसार राज्यकीय संस्कृति, धर्म और शिक्षा अस्वाभाविक अत्याचार है। इसलिए जहाँ वे राष्ट्र को मानव-समुदाय की महत्त्वपूर्ण इकाई मानते हैं, वहाँ राज्य की शक्ति को बराबर कम करना चाहते है।

मानव-एकता स्थापित करने में दो बड़ी कठिनाइयाँ हैं: एक ओर तो इसके लिए राष्ट्रीय अहम् समाप्त करने पड़ेंगे और दूसरी ओर यह सावधानी रखनी पड़ेगी कि मानव का संगठन ऐसा न हो कि उसमें व्यक्ति की स्वतन्त्रता कुचल जाए। विभिन्न प्रकार के साम्राज्य भी राष्ट्रों से बड़ी इकाइयाँ रहे हैं, किन्तु उनमें न तो राष्ट्रों के आत्मसम्मान की और न व्यक्तियों की स्वतन्त्रता की ही रक्षा की जा सकी। इसीलिए आज सब-कहीं विचारकगण साम्राज्यवाद के विरुद्ध हैं। राष्ट्रवाद साम्राज्यवाद नहीं है। जबकि साम्राज्य कृत्रिम समुदाय है, राष्ट्र स्वाभाविक इकाई है। वह एक ऐसी मनोवैज्ञानिक इकाई है जिसका प्रकृति ने स्वयं विकास किया है। इसलिए, श्री अरविन्द के अनुसार, "वर्तमान समय में राष्ट्र वस्तुतः तब तक नहीं मिट सकता जब तक वह अन्दर से निष्प्राण ही न हो जाए।"[16] जबकि साम्राज्य नश्वर है, राष्ट्र अमर है और वह तब तक रहेगा जब तक राष्ट्रीयता की भावना का स्थान कोई अन्य ऊँची भावना न ले ले। उस समय भी जैसे राष्ट्रों में परिवार चलते रहते हैं वैसे ही मानव संघ में राष्ट्र बने रहेंगे।

राष्ट्र के मूल तत्त्व

राष्ट्र किन तत्त्वों से बनता है, इसके मूल तत्त्व क्या हैं, श्री अरविन्द ने इस समस्या पर विचार किया है और स्पष्ट उत्तर भी दिया है। उनके अपने शब्दों में, "राष्ट्रीयता एक सामान्य रुचि, सामान्य भाषा, सामान्य संस्कृति और इन सबको लेकर बने हुए एक सामान्य विचार, एक मनोवैज्ञानिक एकता पर आधारित होती है जोकि राष्ट्रीयता के विचार में अभिव्यक्त होती है।" राष्ट्र निर्माण के लिए सबसे पहले एक आवास अथवा देश की आवश्यकता है। भौगोलिक इकाई के बगैर राष्ट्र का निर्माण नहीं हो सकता। यही कारण है कि प्रत्येक राष्ट्र अपने भूखण्ड की पूर्ण शक्ति से रक्षा करता है। राष्ट्र के निर्माण के लिए दूसरा मूल तत्त्व आर्थिक एकता है क्योंकि राष्ट्र के

सदस्यों को आजीविका के साधनों की आवश्यकता होती है। इसीलिए राष्ट्र अपने आर्थिक हितों की सब प्रकार से देखभाल करता है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "मानव-जीवन में आर्थिक हित ऐसे हित हैं जिनका उल्लंघन करके सुरक्षित रहना साधारणतया अत्यन्त कठिन होता है क्योंकि ये जीवन के साथ गुँथे हुए हैं और इनका निरन्तर उल्लंघन चाहे पीड़ित समुदाय को नष्ट न भी करे, तो भी वह अत्यन्त तीव्र विद्रोह को अवश्य भड़का देता है और अन्त में प्रकृति के निष्ठुर प्रतिशोध में परिणित हो जाता है।"[17]

राष्ट्र का एक अन्य मूल तत्त्व राजनीतिक एकता है। संसार में अनेक बार प्रबल राष्ट्रों ने दुर्बल राष्ट्रों की राजनीतिक स्वतन्त्रता नष्ट करके उन्हें अपने राजनीतिक संगठन में मिला लेने का प्रयास किया किन्तु यह प्रयास कभी भी सफल नहीं हुआ क्योंकि राष्ट्र की राजनीतिक एकता स्वाभाविक होती है, जबकि साम्राज्य की राजनीतिक एकता कृत्रिम होती है। अस्तु, राष्ट्र तभी बन सकता है जबकि उसमें सम्मिलित समूहों में स्वाभाविक राजनीतिक एकता पाई जाती है।

राष्ट्र निर्माण के लिए एक अन्य आवश्यक तत्त्व जीवन-रक्षा, कार्य-विभाग और उन्नति के लिए समान शक्तिशाली संगठन है। इस प्रकार के संगठन के अभाव में राष्ट्रीय एकता सम्भव नहीं होती। एक स्वाभाविक इकाई के रूप में राष्ट्र के इन मूल तत्त्वों के अभाव के कारण ही विषम जातीय राष्ट्र, विषम जातीय साम्राज्य, विश्व-साम्राज्य, यूरोप के संयुक्त राज्य तथा अनेक प्रकार के छोटे-बड़े समुदाय बनाने के प्रयोग असफल रहे। वर्तमान राष्ट्रों के विकास में ये सब प्रयोग विभिन्न सोपानों के समान उपयोगी रहे है।

राष्ट्र इकाई के निर्माण की अवस्थाएँ

मानव-जाति के इतिहास में राष्ट्र इकाई का निर्माण अनेक अवस्थाओं से गुजर-कर हुआ है। प्राचीन काल में पूर्व और पश्चिम में सब-कहीं छोटे-छोटे राष्ट्र थे जिनमे आन्तरिक एकता तो थी किन्तु राष्ट्र के वे सभी मूल तत्त्व नहीं थे जिनका पीछे वर्णन किया जा चुका है। इसीलिए इन राष्ट्रों का विनाश करके साम्राज्य स्थापित किए गए। साम्राज्यों के पतन के साथ-साथ राष्ट्र निर्माण का क्रम फिर से आगे बढ़ा। किन्तु इस बार उसमे कुछ विशेषताएँ थीं। उसमें एक ओर राजधानी रूपी केन्द्र था और दूसरी ओर समस्त राष्ट्रीय जीवन पर वैधानिक, प्रशासनिक, राजनीतिक और भाषा सम्बन्धी एकरूपता और केन्द्रीयता लादने वाली एक पूर्ण और सर्वोच्च सत्ता थी। तीसरे, इसमें शासन करने वाले नेताओं की नियुक्ति भी केन्द्रीय सत्ता से ही होती थी। इस प्रकार ये नये राष्ट्र प्राचीन राष्ट्रों से अधिक संगठित थे। मध्य युग में राष्ट्र के विकास के बाद श्री अरविन्द के अनुसार राष्ट्र इकाई का निर्माण निम्नलिखित तीन दशाओं से गुजरना चाहिए। "ऐसी प्रक्रिया में सर्वप्रथम तो वस्तुओं के स्वभाव के अनुसार समाज का एक ऐसा शिथिल परन्तु काफी प्रबल विधान और सभ्यता का एक सर्वसामान्य आदर्श होना चाहिए जो एक नई इमारत खड़ी करने के लिए एक ढाँचे का काम दे सके। इसके बाद स्वाभाविक रूप से एक ऐसे कठोर संगठन का समय आना चाहिए जिसका झुकाव एकता और केन्द्रीय नियन्त्रण तथा सम्भवत उस केन्द्रीय लक्ष्य के

अधीन सबको समान स्तर पर लाने तथा एकरूप करने की ओर होगा। अन्त में, यदि नए संगठन के जीवन को जड़ तथा रूढ़ ही नहीं बना देना है और इसे प्रकृति की एक सजीव और शक्तिशाली कृति ही बनी रहना है तो ज्योंही निर्माण का कार्य सुनिश्चित हो जाए और एकता मन-प्राण का अभ्यास बन जाए, स्वतन्त्र और आन्तरिक विकास का काल अवश्य आना चाहिए।"[18] राष्ट्र इकाई के निर्माण में अधिकतर राष्ट्र उपरोक्त तीनों अवस्थाओं में से पहली दो से गुजर चुके हैं, तीसरी अवस्था अभी कहीं नहीं आई है। मानव-एकता का आदर्श प्राप्त करने से पूर्व राष्ट्र इकाई के निर्माण में यह तीसरी अवस्था भी आवश्यक है। अधिकतर राष्ट्र इस समय उपरोक्त अवस्थाओं में से दूसरी अवस्था मे है। यह केन्द्रीकरण, कठोरता, एकरूपता और दृढ़ नियन्त्रण भी राष्ट्र के निर्माण मे आवश्यक है, किन्तु एक बार इससे राष्ट्रीय एकता स्थापित हो जाने के बाद फिर शीघ्र ही इस बाह्य नियन्त्रण के स्थान पर आन्तरिक स्वाधीनता और विविधता की स्थापना की जानी चाहिए क्योकि अन्त में राष्ट्र इकाई अपने लिए ही नहीं होती। वह या तो व्यक्ति के लिए होती है या मानव-समुदाय के लिए होती है। राष्ट्र व्यक्ति और मानवता के मध्य कड़ी है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "केवल अपने अस्तित्व के लिए न तो राष्ट्र इकाई निर्मित ही होती है और न वह बनी रहती है। उसका आशय होता है मानव-समुदाय के एक ऐसे बृहत्तर साँचे का निर्माण करना जिसमे समूची जाति, केवल वर्ग और व्यक्ति नही, अपने पूर्ण मानव-विकास की ओर बढ सके।"[19] राष्ट्र इकाई को मानव-समाज में स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के आदर्श प्राप्त करने हैं। आन्तरिक मामलों में जनतन्त्रीय राष्ट्र में समानता का आदर्श तो स्थापित हो सका है, किन्तु न तो पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त की जा सकी है और न भ्रातृभाव ही बढ़ाया जा सका है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में तो स्वतन्त्रता और भ्रातृभाव कोरे शब्द हैं जबकि इनके, विशेषतया भ्रातृभाव के, प्राप्त किए बिना मानव-एकता सम्भव नहीं है।

मानव-एकता का आदर्श

प्रखर राष्ट्रवादी होते हुए भी श्री अरविन्द ने यह स्वीकार किया है कि अन्त मे राष्ट्रों का विकास मानव-एकता के आदर्श की ओर उन्मुख होना चाहिए। राष्ट्रो के विकास का लक्ष्य मानव-एकता का विकास है। इस मानव-एकता के मार्ग में भारी कठिनाइयाँ है यद्यपि इस ओर कम-से-कम एक कदम यह बढ़ाया गया है कि अधिकतर लोग यह अनुभव करने लगे हैं कि मानव-एकता की स्थापना होनी अवश्य चाहिए। श्री अरविन्द ने राष्ट्र इकाई के विकास में जो सोपान माने हैं, उन्हीं को मानव-एकता के विकास में भी आवश्यक माना है। पीछे बतलाया जा चुका है कि राष्ट्र की उत्पत्ति एक अनिश्चित रचना से हुई जिसमें अनेक प्रकार के एकीकरण के तत्त्व उपस्थित थे। प्रबल केन्द्रीकरण और दबाव से इस इकाई में संगठन और एकता विकसित हुई। इसके पश्चात् तीसरी स्थिति में राष्ट्र ऐसे सोपान पर पहुँचा जहाँ बाह्य दबाव के कारण नहीं बल्कि राष्ट्रीयता की भावना के कारण राष्ट्रों में एकता देखी जाती है। श्री अरविन्द के अनुसार, "यदि मानव-जाति की एकता भी उन्हीं साधनों तथा अभिकरणों द्वारा और उसी

ढंग से प्राप्त की जानी है जिनके द्वारा तथा जिस ढंग से राष्ट्र की एकता प्राप्त की गई थी, तो हमें यह आशा रखनी चाहिए कि इसका क्रम भी ऐसा ही होगा।"[20] यहाँ पर मानव-एकता के मार्ग में उठने वाली कठिनाइयाँ स्पष्ट देखी जा सकती हैं। मानवता की भावना उत्पन्न होने से पूर्व मानव-एकता को राष्ट्र के समान केन्द्रीकरण और अन्तर्राष्ट्रीय दबाव की एक स्थिति से गुजरना पड़ेगा। इसके लिए मानव ने अब तक जो अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ बनाई हैं उनसे यह कार्य नहीं हो सका है। ये संस्थाएँ संसार को भावी युद्ध से नहीं बचा सकतीं क्योंकि श्री अरविन्द के अनुसार, "यदि राष्ट्रीय अहम् भाव विद्यमान है, संघर्ष के साधन उपस्थित हैं तो उसके कारणों, अवसरों और वाहनों का भी अभाव नहीं होगा।"[21] अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों द्वारा राष्ट्रों की सेना और युद्ध-सामग्री को सीमित कर देना युद्ध रोकने का सही उपाय नहीं है क्योंकि युद्ध का इरादा बनने पर कोई भी राष्ट्र बहुत कम समय में और बिना किसी विशेष कठिनाई के युद्ध की सामग्री जुटा लेता है। अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की सफलता में सबसे बड़ी बाधा यह है कि जबकि परिवारों, कुलों अथवा राष्ट्रों के अंग व्यक्ति होते हैं जो कुछ-न-कुछ विकसित और सभ्य होते हैं, अधिकतर राष्ट्र विकास की स्थिति में अभी बिलकुल पशु के स्तर पर हैं, उनमें किसी भी प्रकार के उच्च मनोभाव या आत्मनियन्त्रण की आशा नहीं की जा सकती। अस्तु, श्री अरविन्द ने मानव-एकता स्थापित करने के लिए राष्ट्रीय अहम् भाव को समाप्त करने की सलाह दी है। जिस प्रकार व्यक्तिगत अहम् भाव बनाए रखते हुए परिवार अथवा राष्ट्र की इकाइयों का विकास नहीं हो सकता उसी प्रकार राष्ट्रीय अहम् भाव बने रहते मानव की सच्ची एकता सम्भव नहीं है और युद्ध का खतरा बराबर बना रहता है। क्योंकि जैसाकि श्री अरविन्द ने लिखा है, "जहाँ अहम् भाव कार्य का उद्गम है वहाँ इसके अपने वास्तविक परिणाम और प्रतिक्रियाएँ तो सामने आएँगी ही, बाह्य यन्त्र इन्हें कितना भी कम कर दे, इन्हें दबा दे, अन्त में इनका विस्फोट निश्चित रूप में होगा ही; इसमें समय लग सकता है, पर सदा के लिए इसे रोका नहीं जा सकता।"[22] अस्तु, राष्ट्रीय अहम् भाव को समाप्त किए बिना मानव-एकता की स्थापना नहीं हो सकती। किन्तु यह अहम् आत्मा नहीं है। जैसाकि पीछे बतलाया जा चुका है, राष्ट्र आत्मा के विकास में व्यक्ति आत्मा का विकास बाधक नहीं बल्कि साधक है। इसी प्रकार मानव-एकता के विकास में राष्ट्र आत्माओं का विकास बाधक नहीं बल्कि साधक है। अस्तु, प्रत्येक राष्ट्र का स्वतन्त्र और पूर्ण आत्मविकास होना चाहिए और यदि प्रत्येक राष्ट्र सच्ची राष्ट्र आत्मा को ही अपना आधार बनाकर चलेगा तो विभिन्न राष्ट्रों के परस्पर सम्बन्धों में संघर्ष नहीं बल्कि समन्वय ही नियम होगा और मानव-एकता का आदर्श प्राप्त किया जा सकेगा।

श्री अरविन्द के अनुसार, "आदर्श समाज या आदर्श राज्य वह होता है जिसमें व्यक्ति की पूर्णता के लिए उसकी वैयक्तिक स्वाधीनता और स्वतन्त्र विकास को भी उतना ही महत्त्व दिया जाता है जितना कि समष्टि, समाज या राष्ट्र की आवश्यकताओं अर्थात् निपुणता, एकता, स्वाभाविक प्रगति और आभ्यान्तरिक पूर्णता को दिया जाता है। इसी प्रकार समस्त मनुष्य-जाति के आदर्श समुदाय अन्तर्राष्ट्रीय समाज या राज्य में भी राष्ट्रीय स्वाधीनता और स्वतन्त्र राष्ट्र विकास तथा [illegible] को मानव

जाति की एकता और संयुक्त प्रगति एवं पूर्णता के साथ उत्तरोत्तर संगति प्राप्त करते जाना चाहिए।"[23] उपरोक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि श्री अरविन्द के दर्शन में विभिन्न समुदायों के सम्बन्धों को उसी सिद्धान्त के आधार पर समन्वित किया गया जिसके आधार पर उन्होंने व्यक्ति और समाज या राज्य के सम्बन्धों को समन्वित किया है। किन्तु उसके अनुसार यह कार्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों अथवा विधियों के द्वारा होना सम्भव नहीं है क्योंकि नैतिक सिद्धान्त, विवेक और न्याय नहीं बल्कि मनोवैज्ञानिक शक्तियाँ ही राष्ट्रों के सम्बन्ध निश्चित करती हैं। जहां-कहीं कोई राष्ट्र किसी नैतिक सिद्धान्त के नाम पर कुछ करता प्रतीत होता है वहाँ भी वह या तो इसके लिए कोई विशेष त्याग नहीं करता और यदि करता है तो उसके सामने कोई अन्य मजबूरी होती है। जहाँ तक विभिन्न राष्ट्रों में भाईचारे का प्रश्न है, श्री अरविन्द ने इनको कोरा सिद्धान्त माना है। उनके अनुसार, "युद्ध ने यह तथ्य स्पष्ट कर दिया है कि अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से केवल बड़ी शक्तियाँ ही महत्व रखती हैं, अन्य सबका अस्तित्व तो केवल आधीनता, संरक्षण या मित्रता के आधार पर होता है।"[24] श्री अरविन्द के इस कथन के कितने ही वर्ष बाद आज भी संयुक्त राष्ट्र संघ में यही स्थिति दिखलाई पड़ती है। अस्तु, समानता का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में व्यावहारिक नहीं हो सका है। इसी प्रकार जनतन्त्रीय आदर्शों को संसार में कहीं भी पूर्णतया प्राप्त नहीं किया जा सका है। जो राज्य जनतन्त्रीय कहलाते हैं वहां भी जनता के नाम पर कुछ पूंजीपति, कुछ राजनीतिक नेता, कुछ व्यक्ति ही शासन कर रहे हैं।

परन्तु फिर भी श्री अरविन्द मानव-एकता के आदर्श में अदम्य आस्था रखते थे। उन्होंने लिखा है, "मानव-जाति का राजनीतिक और प्रशासनीय एकीकरण केवल सम्भव ही नहीं है वरन् हमारा वर्तमान विकास इसकी ओर इंगित भी कर रहा है।"[25] यह ठीक है कि वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए मानव-जाति की एकरूपता अत्यन्त कठिन जान पड़ती है किन्तु जैसे छोटे-छोटे राष्ट्रों को लेकर आज संसार में बड़े-बड़े राष्ट्र बन सके हैं, उसी प्रकार भविष्य में मानव-जाति की एकता का आदर्श भी प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिए राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और शिक्षा सम्बन्धी, जीवन के सभी क्षेत्रों में एकरूपता प्राप्त करने के लिए असीम प्रयास करना पड़ेगा। यह एकरूपता विविधता को उपयुक्त स्थान देगी, छोटे-मोटे भेदों का अनुमोदन करेगी और यहाँ तक कि उनको प्रोत्साहित भी करेगी। इसके लिए मानव-जाति को सामाजिक विकास के तीन तत्त्वों—व्यक्ति, नाना प्रकार के समाज और मानव-जाति के मध्य सम्बन्धों का विकास करना पड़ेगा। ये तीनों ही प्राकृतिक इकाइयाँ हैं। इनमें से किसी को भी निकाला नहीं जा सकता। प्रारम्भ में प्रकृति व्यक्तियों का विकास करती है, फिर समुदायों का विकास होता है और इसी क्रम में आगे मनुष्य-जाति का संयुक्त विकास होगा। श्री अरविन्द के शब्दों में, "इस प्रकार मनुष्य-जाति का संयुक्त विकास व्यक्ति-व्यक्ति के बीच, व्यक्ति और समुदाय के बीच, समुदाय और समुदाय के बीच, छोटे जन-समाज और समूची मनुष्य-जाति के बीच, मनुष्य-जाति के सामान्य जीवन और उसकी चेतना के बीच तथा

उसके स्वतन्त्र रूप में विकसित होते हुए सामाजिक और वैयक्तिक अंगों के बीच आदान-प्रदान एवं आत्मसात्करण के सामान्य सिद्धान्त द्वारा सिद्ध किया जाएगा।"[26]

विश्व-राज्य की धारणा

मानव-जाति के विकास में एकता के सिद्धान्त के अतिरिक्त स्वतन्त्रता और विभिन्नता का सिद्धान्त भी उतना ही अधिक आवश्यक है क्योंकि परम तत्त्व में एकता और अनेकता दोनों ही हैं। प्रकृति की सामान्य योजना असीम विविधता पर आधारित होती है। इसलिए आदर्श समाज में वैयक्तिक, राष्ट्रीय, धार्मिक, सामाजिक और नैतिक सब प्रकार की स्वाधीनता आवश्यक है। स्वाधीनता का अर्थ स्पष्ट करते हुए श्री अरविन्द ने लिखा है, "स्वाधीनता से हमारा अभिप्राय है अपनी सत्ता के नियम के अनुसार चलना, अपनी स्वाभाविक आत्मपरिपूर्णता तक विकसित होना और अपने वातावरण के साथ स्वाभाविक और स्वतन्त्र रूप में समस्वरता प्राप्त करना।"[27] इस स्वाधीनता के तत्त्व मे एकता से कोई बाधा नहीं पड़ती बल्कि उल्टे सहायता ही मिलती है। आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक एकता प्राप्त कर लेने के बाद भी व्यक्ति को अपने पूर्ण स्वतन्त्र विकास की आवश्यकता पड़ती है और यह तभी पूर्ण होता है जबकि दूसरों का भी स्वतन्त्र पूर्ण विकास हो। अस्तु, मानव-जाति के आदर्श एकीकरण में मनुष्यों को जाति, संस्कृति और आर्थिक सुविधा के आधार पर समुदायों के निर्माण की स्वतन्त्रता दी जाएगी और किसी भी प्रकार के बाहरी दबाव के द्वारा इनका निर्माण नहीं होगा। मानव-एकता के लिए यह आवश्यक है कि स्वतन्त्र और स्वाभाविक समुदायों में ऐसी व्यवस्था हो कि आन्तरिक कलह, विभेद, दमन और विद्रोह के लिए कोई स्थान न रहे। स्पष्ट है कि किसी भी प्रकार के बल प्रयोग के द्वारा मनुष्य-जाति की एकता स्थापित नहीं की जा सकती, चाहे यह किसी विशेष राष्ट्र की शक्ति हो अथवा किसी विश्व-संगठन की शक्ति हो। इसलिए श्री अरविन्द विश्व-राज्य की कल्पना के विरुद्ध हैं क्योंकि राज्य की शक्ति सदैव बाहरी दबाव, कानून और पुलिस तथा सेना के बल पर कार्य करती है। किसी प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय कानून के द्वारा भी यह काम नहीं किया जा सकता। इसका एकमात्र आधार विभिन्न राष्ट्रों का अपना स्वधर्म, अपना विवेक, अपना संकल्प और अपने सचेतन नियम होने चाहिए। जो लोग मानव-एकता की स्थापना के लिए विश्व-राज्य की कल्पना करते हैं वे यह भूल जाते हैं कि इसमें वे ही कठिनाइयाँ हैं जोकि विशेष समाज में राज्य की सत्ता के द्वारा उत्पन्न होती हैं। कार्ल मार्क्स और क्रोपाटकिन के समान श्री अरविन्द भी अन्त में अराजतन्त्र का समर्थन करते हैं। इसलिए विश्व-राज्य से कोई लाभ होता दिखलाई नहीं पड़ता।

एकता में विभिन्नता

जो लोग एक ऐसे विश्व-राज्य या विश्व-राष्ट्र की कल्पना करते हैं जिसमे राष्ट्रों की वैयक्तिकता कर दी जाएगी वे यह भूल जाते हैं कि ए कहीं भी जीवन का नियम नही है प्रकृति में एकता मे विभिन्नता पाई जाती है और

यह सिद्धान्त जीव जगत के विषय में विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। इसी कारण से अत्यधिक केन्द्रीकरण मानव-समाज में अस्वाभाविक माना जाता है और दूसरी ओर अधिकतर राजनीतिक विचारकों ने विकेन्द्रीकरण का समर्थन किया है। इस विभिन्नता के मूल में यह नियम है कि प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक समूह को अपने स्वधर्म और अपनी प्रकृति के अनुसार विकसित होना है। अस्तु, श्री अरविन्द के अनुसार, "मनुष्य-जाति की एकता को पूर्णतया सच्चा होने तथा जीवन के गम्भीरतम नियमों के अनुकूल बने रहने के लिए स्वतन्त्र समूहों पर आधारित होना चाहिए, और साथ ही समूहों को भी स्वतन्त्र व्यक्तियों का स्वाभाविक संगठन होना चाहिए।"[28] मानव-समूह में यह विभिन्नता अथवा विभिन्न राष्ट्रों की स्वतन्त्रता संस्कृति के विभिन्न अंगों, जैसे—भाषा, साहित्य, कला, रहन-सहन इत्यादि सभी में होनी चाहिए। इसीलिए श्री अरविन्द ने प्रत्येक राष्ट्र में अपनी राष्ट्रभाषा का विकास करना अत्यन्त आवश्यक माना है। उन्होंने जोरदार शब्दों में यह कहा कि यद्यपि आंग्ल भाषा ने बाहर के समाजों से हमारा सम्बन्ध स्थापित करने में सहायता दी है, परन्तु वह कभी भी और कहीं भी राष्ट्रभाषा का रूप नहीं ले सकती। यही बात संस्कृति के अन्य अंगों के विषय में भी सत्य है।

राष्ट्रों का विश्वसंघ

जब से मनुष्यों ने मानव-एकता के आदर्श के विषय में सोचा तब से विभिन्न राष्ट्रों के किसी-न-किसी प्रकार के संघ के विचार का जन्म हुआ। प्रथम विश्व महायुद्ध के पश्चात् राष्ट्र संघ की स्थापना हुई। राष्ट्र संघ का विचार एकता में विभिन्नता के सिद्धान्त के अनुरूप था किन्तु अनेक कारणों से यह विश्व को दूसरे महायुद्ध से नहीं रोक सका। श्री अरविन्द ने अपनी पुस्तक 'मानव-एकता का आदर्श' में इन कारणों की विस्तृत आलोचना की है। द्वितीय विश्व महायुद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की गई। यह विश्व-संघ मानव-समाज को तीसरे विश्व महायुद्ध से कहाँ तक बचा सकेगा यह एक विवादास्पद प्रश्न है किन्तु चूँकि आज विश्व महायुद्ध से समस्त मानव-जाति के अस्तित्व को ही खतरा उत्पन्न हो गया है इसलिए श्री अरविन्द ने उन सिद्धान्तों को स्पष्ट करने की चेष्टा की जिनसे संयुक्त राष्ट्र संघ के लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सकता है। जहाँ तक मानव-एकता के सिद्धान्तों का प्रश्न है, वे शाश्वत हैं। यदि संयुक्त राष्ट्र संघ भी इन सिद्धान्तों को प्राप्त करने में असफल रहा तो उसका भी वही हाल होगा जो पिछले राष्ट्र संघ का हुआ था। स्वतन्त्र विश्वसंघ की शर्तों को स्पष्ट करते हुए श्री अरविन्द ने लिखा है, "स्वतन्त्र विश्व-संघ को अपने स्वरूप में एक ऐसी जटिल एकता होनी चाहिए जो विभिन्नता पर आधारित हो और फिर उस विभिन्नता को स्वतन्त्र स्वनिर्धारण पर आश्रित होना चाहिए।"[29] विश्व-संघ में यन्त्रवत् एकता स्थापित नहीं की जा सकती। इसमें प्रत्येक राष्ट्र को अपनी स्वतन्त्र इच्छा से सम्मिलित होना चाहिए। इसके लिए किसी पर किसी भी प्रकार का दबाव नहीं डाला जाना चाहिए क्योंकि यह दबाव स्वनिर्धारण के सिद्धान्त के विरुद्ध है। मानव का एक लक्ष्य ऐसी विश्व-संस्कृति स्थापित करना है जिसमें प्रत्येक राष्ट्रीय संस्कृति को विकास का पूर्ण अवसर मिले। यह तभी हो सकता है जबकि कोई भी राष्ट्र किसी भी अन्य

राष्ट्र के दबाव में न रहे और सबको स्थानीय, प्रादेशिक और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता दी जाए।

अन्तर्राष्ट्रीयता

श्री अरविन्द के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीयता मानव-मन और मानव-जीवन के राष्ट्रीय विचार और रूप को अतिक्रान्त करने का तथा उसे मनुष्य-जाति के बृहत्तर समन्वय सिद्ध करने के हित में नष्ट करने का प्रयत्न है।"[30] श्री अरविन्द इस प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीयता के विरुद्ध है। यह मानव-एकता का सच्चा आदर्श नहीं है। सच्ची अन्तर्राष्ट्रीयता में राष्ट्रीय विचार को अतिक्रान्त नहीं बल्कि पूर्ण किया जाएगा। अन्तर्राष्ट्रीयता का विचार अट्ठारहवीं शताब्दी में उत्पन्न हुआ और तब से इसे लेकर राजनीतिक विचारकों ने अनेक विकल्प उपस्थित किए हैं। विज्ञान की प्रगति के कारण बढ़े हुए अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क से अन्तर्राष्ट्रीयता की मनोवृत्ति को विशेष प्रोत्साहन मिला है और आज बहुत से लोग अपने को विशिष्ट राष्ट्र के नागरिक मानने के साथ-साथ विश्व के नागरिक भी मानते हैं। जो लोग यह समझते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीयता का विचार युद्ध के संकट के भय का परिणाम है वे यह भूल जाते हैं कि, "हम उन विचारों और निश्चयों पर बहुत अधिक निर्भर नहीं रह सकते जो असाधारण संकट तथा परिस्थितियों के प्रबल दबाव के समय बनाए गए हों।"[31] अस्तु, सच्ची मानव-एकता को समानता, स्वतन्त्रता और भ्रातृत्व के आदर्शों पर आधारित होना चाहिए। उसके पीछे मूल विचार सभी मनुष्यों की मौलिक एकता है। विभिन्न राष्ट्रों के मध्य की भौगोलिक दूरी मानव-एकता में कोई बाधक नहीं है क्योंकि विज्ञान के आविष्कारों से वह दूरी आश्चर्यजनक रीति से कम हो गई है।

मानवता का धर्म

अस्तु, यदि मानव-एकता का आदर्श प्राप्त किया जाना है तो उसे किसी प्रकार के बाह्य दबाव, कानून अथवा यान्त्रिक नियमों पर आधारित न करके मानवता के धर्म पर आधारित किया जाना चाहिए। यह मानवता का धर्म विश्व-राष्ट्र निर्माण में वही कार्य करेगा जो राष्ट्रों के निर्माण में राष्ट्रीयता की भावना करती आई है। यह मनुष्यों को संकीर्ण अहंकार से ऊपर उठाएगा और अन्य मनुष्यों से उनकी एकता स्थापित करेगा। मानवता के धर्म में मूल विचार यह है कि मानवता ही मनुष्य का सबसे बड़ा देवता है और उसके स्थान पर परिवार, राज्य अथवा राष्ट्र किसी की भी स्थापना नहीं की सकती। दूसरी ओर इन सबका सम्मान वहीं तक है जहाँ तक ये मानव-एकता स्थापित करने में सहायक हों। मानवता के धर्म का मूल सिद्धान्त यह है कि, "जाति, धर्म, वर्ण, राष्ट्र, पद और राजनीति तथा सामाजिक प्रगति के सब भेदों को भुलाकर मनुष्य मनुष्य को पवित्र माने।"[32] मनुष्य को पवित्र मानने में अहिंसा का सिद्धान्त आ जाता है। मानव की पवित्रता का अर्थ मानव-शरीर, मानव-जीवन, मानव-हृदय, मानव-मन सब प्रकार की पवित्रता है जिसके लिए इन सबका सम्मान किया जाना चाहिए इन सबको उन्मुक्त

विकास के अवसर दिए जाने चाहिएँ। मानवता के धर्म का मूलाधार भ्रातृ भावना है। इसको उत्पन्न किए बिना मानव-एकता का आदर्श प्राप्त नहीं किया जा सकता। मनुष्यो मे यह भ्रातृ भावना इस तथ्य पर आधारित है कि स्वतन्त्रता, समानता और एकता, मानव-आत्मा के सनातन गुण हैं। श्री अरविन्द के अनुसार, "मनुष्य-जाति की एकता चाहे वह प्राप्त हो भी जाए केवल तभी सुनिश्चित हो सकती है तथा वास्तविक बनाई जा सकती है, यदि मानवता का धर्म, जो आजकल मनुष्य-जाति का सर्वोच्च और सक्रिय आदर्श है, आध्यात्मिक रूप धारण कर ले और मनुष्य-जीवन का सामान्य आन्तरिक विधान बन जाए।"[33] मानव-एकता के आदर्श को प्राप्त करने में उससे कहीं अधिक बडी कठिनाइयाँ आएँगी जो राष्ट्र के निर्माण में आई थीं, किन्तु जिस प्रकार राष्ट्रों का निर्माण प्रकृति के प्रयोजन को पूरा करने के लिए हुआ, उसी प्रकार समस्त कठिनाइयों को पार करके विश्व-राष्ट्र की स्थापना भी अवश्य होगी। यदि मानव स्वयं इस आदर्श को प्राप्त करने का मार्ग न निकाल सके तो हो सकता है कि प्रकृति अन्य किसी साधन से इस लक्ष्य को प्राप्त करे। किन्तु इस पृथ्वी पर मानव-एकता के आदर्श की स्थापना अनिवार्य है। सयुक्त राष्ट्र संघ अब तक यह आदर्श क्यों नहीं प्राप्त कर सका, उसके कई कारण है। वास्तव में प्रारम्भ से आज तक उसमें सब राष्ट्रों को स्थान नहीं मिल सका है। पिछले कुछ वर्षों में साम्यवादी चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ में स्थान दिए जाने मे एक बड़ी कमी पूरी हुई है। इस विश्वसंघ का कुलीन तन्त्र इस तथ्य पर आधारित है कि सुरक्षा समिति मे पाँच बड़ी शक्तियों को निषेधाधिकार दिया गया है। मानव-एकता का आदर्श प्राप्त करने में संयुक्त राष्ट्र संघ के दोषों से भी अधिक गम्भीर तत्त्व समस्त राष्ट्रों का दो दलो मे विभाजित हो जाना है जिनमें मूल रूप से मतभेद है। इन दलों का परस्पर विरोध दूर हुए बिना अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का सही अर्थो में विकास नहीं हो सकता।

मानव-एकता के आदर्श में श्री अरविन्द की आस्था उनके विकास के सिद्धान्त पर आधारित है। यदि मनुष्य विकासमान प्राणी है तो जिस तरह वह विकास करके राष्ट्र पर पहुँचा है उसी तरह वह क्रमशः विकास के द्वारा विश्व-राष्ट्र पर भी पहुँचेगा क्योंकि राष्ट्र अन्तिम और चरम इकाई नहीं है। राष्ट्रों से ऊपर जो कुछ राष्ट्रों के गुट बन जाते है वे किसी प्रकार के अस्थायी लाभ को भले ही प्राप्त करले हों किन्तु उन्हें अन्तिम और चरम इकाई नहीं माना जा सकता। श्री अरविन्द के अनुसार प्रकृति में विकास की प्रक्रिया ही हमे मानव-एकता के आदर्श की ओर ले जाएगी। उनके अपने शब्दों में, "यदि हम और किसी चीज पर नही तो विकासात्मक प्रेरणा पर तो भरोसा रख ही सकते हैं यदि और किसी महत्तर गुह्य शक्ति पर नहीं तो विश्व-शक्ति की, जिसे हम प्रकृति कहते है, व्यक्त क्रिया और दिशा अथवा उसके उद्देश्य पर तो हम इस बात के लिए निर्भर रह ही सकते हैं कि वह मानव-जाति को कम-से-कम अपने आवश्यक कदम अर्थात् अगले स्वरक्षात्मक कदम तक तो ले ही जाएगी। कारण, आवश्यकता तो यहाँ है ही, कम-से-कम उसकी सामान्य स्वीकृति तो प्राप्त हो ही चुकी है और जिस चीज की ओर यह अन्त मे ले जाएगी उसका विचार भी जन्म ले चुका है, साथ ही उसके बाह्य रूप ने भी अपनी रचना की माँग करना कर दिया है[34] मानव जाति के विकास के पीछे छिपे प्रकृति के

प्रयोजन में आस्था रखने के साथ-साथ श्री अरविन्द ने संयुक्त राष्ट्र संघ को सफल बनाने के लिए व्यावहारिक सुझाव भी उपस्थित किए हैं। आरम्भ मे संयुक्त राष्ट्र संघ को निम्नलिखित शर्तों का पालन करना चाहिए—

(1) सभी राष्ट्रों को स्वेच्छा से राष्ट्र संघ में सम्मिलित होना चाहिए।
(2) राष्ट्र संघ का आधार न्याय और सत्यता के सिद्धान्त होने चाहिएँ।
(3) राष्ट्र संघ का संविधान ऐसा होना चाहिए जो अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को विश्वसनीय रूप से सुलझा सके।
(4) एक ऐसी स्थायी केन्द्रीय और शक्तिशाली सत्ता का निर्माण किया जाना चाहिए जिसे सभी राष्ट्रों से मान्यता प्राप्त हो।"[35]

उपरोक्त शर्तों का पालन करने से ही संयुक्त राष्ट्र संघ मानव-एकता के आदर्श को प्रभावशाली बनाने में सहायता दे सकता है। किन्तु फिर अन्त में, जैसाकि पीछे अनेक स्थानों पर कहा जा चुका है, मानव-एकता का आदर्श तभी प्राप्त हो सकता है जबकि मनुष्य-जाति में विघटनकारी अहंकार के स्थान पर सच्ची आत्मा की स्थापना हो। दूसरे शब्दों में, आध्यात्मिक मानव-समाज में ही मानव-एकता का आदर्श प्राप्त किया जा सकता है और जब तक हम सच्ची आध्यात्मिकता से दूर रहेंगे तब तक यह आदर्श स्थायी रूप से प्राप्त नहीं किया जा सकता।

प्रस्तुत अध्याय में राष्ट्रीयता और मानव-एकता के विभिन्न पहलुओं और परस्पर सम्बन्ध के विषय में श्री अरविन्द के विचारों के स्पष्टीकरण से यह पता चलता है कि उन्होंने सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को सुलझाते समय सब-कहीं अपनी दृष्टि प्रकृति के अन्तरंग उद्देश्य पर ही रखी है। संसार में जो कुछ होता है, वह मनुष्य के पीछे काम करने वाली विश्व-प्रकृति या परम शक्ति की प्रवृत्तियों के द्वारा होता है। ये प्रवृत्तियाँ हमारे वर्तमान और भूत के विश्लेषण से पता चल सकती हैं और इन्हीं के आधार पर हम मानव-भविष्य का अनुमान लगा सकते हैं। श्री अरविन्द के समाज दर्शन और राजनीति दर्शन का यह ठोस आधार ही एक ओर उन्हें राष्ट्र-धर्म-द्रष्टा और दूसरी ओर विश्व में मानव-एकता के आदर्श का अग्रदूत बना देता है।

9

संस्कृति और सभ्यता

"मनुष्य को यदि आत्मा तक नहीं तो उसकी ओर अवश्य उठना चाहिए अन्यथा वह शक्ति के ऊर्ध्वोन्मुख वक्र को खो देता है, किन्तु रहस्यमय शक्तियों तक पहुँचने के उसके अनेक मार्ग हैं।"[1]

—श्री अरविन्द

संस्कृति और सभ्यता सामाजिक विकास की सम्भवतया सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विधि है जो मनुष्य ने आज तक निकाली है। यह अधिक सन्तोष और शारीरिक, प्राणात्मक तथा मानसिक जीवन की अधिक कुशलता एवं सामाजिक नियमों और प्रथाओं के माध्यम से मनुष्यों में परस्पर सहयोग उत्पन्न करने वाली और सामाजिक संस्थाओं का विकास करने वाली प्रणाली है। स्वभावतया, इस प्रक्रिया के अपने लाभ और हानियाँ हैं। किन्तु हानि को सभ्यता की अनिवार्य कीमत माना जाना चाहिए, वह इस प्रक्रिया में अन्तर्निहित किसी दोष के कारण नहीं है। जैसाकि गार्डनर मर्फी ने कहा है, "सभ्यता मानव की प्रवृत्तियों को उकसाने वाली और उन्हें हताश एवं सन्तुष्ट करने वाली विधियों की एक व्यापक व्यवस्था में सम्मिलित है।"[2] सभ्यता के विकास के साथ-साथ ये प्रविधियाँ अधिकाधिक जटिल होती जाती हैं क्योंकि सभ्यता के कार्यों में से एक कार्य उन दोषों का उपचार करना है जोकि उसकी प्रक्रिया में उत्पन्न हुए हैं। परन्तु जब संरचना अत्यधिक जटिल हो जाती है तो अपने ही बोझ से टूट जाती है। यह एक ऐसा तथ्य है जो भूतकाल में दर्जनों संस्कृतियों के इतिहास में बारम्बार देखा गया है। सामाजिक विकास की एक प्रणाली के रूप में संस्कृति और सभ्यता का विवेचन करते समय समाज दर्शन को उसकी भूतकालीन असफलताओं के कारणों और उनके उपचारों का विश्लेषण करना चाहिए। उसे इस विशिष्ट प्रक्रिया और प्रणाली में लाभ और हानि का मूल्यांकन करना चाहिए, सामाजिक विकास में उसके योगदान का अनुमान लगाना चाहिए, उसकी सीमाएँ निश्चित करनी चाहिएँ और उसके प्रयोजन को उन्नत करने व परिपूर्ण करने की विधियाँ सुझानी चाहिएँ। मानव-सभ्यता में संकट के वर्तमान अवसर पर यह एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है जिसका वर्णन इस पुस्तक के प्रथम अध्याय में किया गया है।

सामाजिक विकास के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए मानव ने अनेक साधन अपनाए हैं इनमें संस्कृति और सभ्यता शिक्षा नीति तथा धर्म मुख्य साधन हैं कुछ

लोग विज्ञान को भी सामाजिक विकास का प्रभावशाली साधन मानते हैं। विज्ञान निश्च ही भौतिक और जैवकीय स्तर पर मानव-विकास का माध्यम रहा है। मानसिक स्तर प भी उसका योगदान कम नहीं है। किन्तु पीछे सामाजिक विकास के जिस आदर्श क विवेचन किया गया है वह विज्ञान द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में पीछे स्थान-स्थान पर श्री अरविन्द द्वारा विज्ञान की आलोचनाएँ प्रस्तुत की जा चुकी हैं। विज्ञान के अतिरिक्त आधुनिक काल में शिक्षा को सामाजिक विकास का प्रमुख साधन माना जाता है। श्री अरविन्द के शिक्षा सम्बन्धी विचारों की विस्तृत व्याख्या अगले अध्याय में की जाएगी। नीति और धर्म की समीक्षा उसके बाद के अध्याय का विषय है। प्रस्तुत अध्याय में मानव-विकास के साधन के रूप में संस्कृति और सभ्यता का मूल्यांकन किया जाएगा।

संस्कृति के मूल तत्त्व

संस्कृति और सभ्यता सामाजिक विकास के मानव द्वारा विकसित साधनों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण साधन हैं। इनसे मानव के भौतिक, जैवकीय और मानसिक जीवन में अभूतपूर्व विकास होता है। अन्य विचारकों के साथ श्री अरविन्द यह स्वीकार करते हैं कि सभ्यता की प्रक्रिया में आगे बढ़ने के लिए मनुष्य को कुछ अनिवार्य मूल्य चुकाना पड़ा है, किन्तु वे इसे संस्कृति का दोष नहीं मानते। उनके अनुसार संस्कृति के जो तथाकथित दोष बतलाए जाते हैं वे उस तत्त्व के कारण होते हैं जोकि उसका आधार बनाया जाता है। इस दृष्टि से भौतिक, प्राणात्मक, बौद्धिक और आध्यात्मिक संस्कृतियों में अन्तर किया जा सकता है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "किसी भी जनसमुदाय की संस्कृति जीवन की एक चेतना की अभिव्यक्ति के रूप में वर्णन की जा सकती है जोकि दो पहलुओं में दिखलाई पड़ती है—एक पहलू रचनात्मक आत्माभिव्यक्ति, सौन्दर्य-बोध, बुद्धि और कल्पना का पहलू है, और एक पहलू व्यावहारिक तथा बाह्य निर्माण का पहलू है।"[3] इस प्रकार संस्कृति जीवन की चेतना है जो सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं, कला, साहित्य, दर्शन, नीति और धर्म आदि से बनती है। दर्शन मन का संस्कार करता है। धर्म संकल्प का परिष्कार करता है और कल्पना, बोध तथा प्राणात्मक तत्त्व में परिवर्तन करता है। रचनात्मक बुद्धि, कला, काव्य और साहित्य की ओर ले जाती है। सामाजिक और राजनीतिक संस्थाएँ बाह्य जीवन का क्षेत्र निर्माण करते हैं। इन सबमें सांस्कृतिक तत्त्व का मूल-आधार आन्तरिक आत्मा है, इनमें से कोई भी आत्मा की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं है। "साथ मिलकर वे उसकी आत्मा, मानस और शरीर बनाते हैं।"[4]

संस्कृति में प्राणमय तत्त्व का महत्त्व

प्राणमय तत्त्व प्रत्येक संस्कृति के लिए आवश्यक है। श्री अरविन्द ने स्पष्ट लिखा है "कोई भी प्राणतत्त्व विरोधी संस्कृति जीवित नहीं रह सकती।"[5] जीवन बनाए रखना

किसी भी संस्कृति की श्रेष्ठता की सबसे कठोर और सबसे अनिवार्य परीक्षा है। अस्तित्व मानव-जीवन का प्रथम नियम है। बिना शक्तिशाली प्रेरणा के कोई भी संस्कृति जीवित नहीं रह सकती, चाहे विज्ञान, दर्शन, धर्म, कला और साहित्य के क्षेत्र में उसने कितनी भी प्रगति क्यों न की हो। प्रत्येक श्रेष्ठ संस्कृति को मानव-विकास में सहायक होना चाहिए, उसे मनुष्य की पार्थिव क्रियाओं में प्रेरणा देनी चाहिए। उसे मनुष्य को, "विकास की एक शक्ति और जीवित रहने का एक संकल्प"[6] प्रदान करना चाहिए। उसे "पृथ्वी पर प्रजाति की महानता और वृद्धि"[7] प्राप्त करने में सहायता देनी चाहिए। उसे जीवन का एक दृढ और सफल संगठन सम्भव होना चाहिए। ये सब कार्य संस्कृति में प्राणमय तत्त्व पर निर्भर होते हैं। जैसाकि श्री अरविन्द ने कहा है, "असीम तक तभी पहुँचा जा सकता है जबकि हम असीम में बढ़ते हैं, शाश्वत उसी मानव द्वारा समझा जा सकता है जो काल मे बढ़ता है, आध्यात्मिक केवल उसी व्यक्ति द्वारा पूर्ण हो सकता है जो शरीर, प्राण और मानस में कुशल हो चुका हो।"[8] अस्तु, कोई भी संस्कृति जो समुदाय के अस्तित्व, बुद्धि और पूर्णता की ओर नहीं ले जाती श्रेष्ठ संस्कृति नहीं कहला सकती। श्री अरविन्द ने स्पष्ट लिखा है, "जबकि एक संस्कृति का प्रथम मूल्य आत्मा के विकास की उसकी शक्ति है, उसकी उपयुक्तता तब तक पूर्ण नहीं होती जब तक वह उसके बाहरी अस्तित्व का निर्माण नही करती और उसे उच्च तथा महान् आदर्शों की ओर विकासमान नही बनाती।"[9]

संस्कृति और आचार

प्राणमय तत्त्व के अतिरिक्त नैतिक तत्त्व भी संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंग है। कुछ विचारकों ने संस्कृति को विचार, ज्ञान और सौन्दर्य की श्रेष्ठता माना है और उसमें आचार तथा चरित्र का परिष्कार आवश्यक नहीं माना। कुछ अन्य विचारक आचार तथा चरित्र की श्रेष्ठता को ही संस्कृति की एकमात्र कसौटी मानते हैं और अन्य प्रकार की श्रेष्ठता आवश्यक नहीं मानते। यूनान में दर्शन, कला, धर्म और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सौन्दर्य को ही संस्कृति का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना गया। सौन्दर्य और शुभ की खोज मानव-प्रकृति के दो भिन्न पहलुओं की माँग है। सौन्दर्य की खोज संवेदनात्मक पहलू की खोज है और संकल्प, आचार तथा चरित्र शुभ की खोज करते है। नैतिक व्यक्ति कला और साहित्य को कठोर आत्मनियन्त्रण में बाधक मानता है और इस प्रकार बहुधा कठोरतावादी बन जाता है। दूसरी ओर सौन्दर्य को महत्व देने वाला व्यक्ति नैतिक नियम को सौन्दर्य की खोज में बाधक पाकर सुखवादी बन जाता है। वह शुभ को सौन्दर्य का साधन मानता है जबकि नैतिक व्यक्ति सौन्दर्य को शुभ का साधन मानता है।

संस्कृति और आचार के विरोध का मनोविज्ञान

संस्कृतियों के इन दो रूपों में ऐतिहासिक विरोध का विश्लेषण करते समय समाज दार्शनिक को इस विरोध के मूल में काम करने वाले मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का पता

चाहिए। संस्कृति की प्रक्रिया में वास्तविक समस्या को सुलझाने के लिए श्री अरविन्द ने इस विरोध का विश्लेषण किया है। एकांगी नैतिक और एकांगी सौंदर्यात्मिक संस्कृतियाँ मानव-प्रकृति के दो भिन्न, यद्यपि विरोधी नहीं, पहलुओं पर आधारित हैं, पहली संकल्प, आचार और चरित्र पर, दूसरी सुन्दर के प्रति संवेदनशीलता के पहलू पर। पहली नैतिक मानव का आधार है, दूसरी सौन्दर्यात्मिक मानव का निर्माण करती है। नैतिक मानव कला और सौन्दर्य को उच्च और कठोर आत्मनियन्त्रण का विनाशक मानकर सन्देह की दृष्टि से देखता है। वह कठोरतावादी बन जाता है और सिद्धान्त की दृष्टि से ही सुख को ठुकरा देता है। यूनान में सिनिक सम्प्रदाय के संस्थापक ने कहा था, "सुख भोगने की तुलना में मैं पागल होना पसन्द करूँगा।"[10] दूसरी ओर सौन्दर्यात्मिक मानव, स्वभावतया सुखवादी होता है। वह नैतिक नियम को सहन नहीं करता क्योंकि वह सुख में बाधक है। यदि वह किसी नैतिक नियम को मान भी लेता है तो केवल सौन्दर्य उत्पन्न करने के एक साधन के रूप में। ये विरोध विरोधी सामाजिक और राष्ट्रीय प्रकारों में भी पाए जाते हैं क्योंकि, "समाज व्यक्ति का केवल विस्तार ही है।"[11] अपने इतिहास दर्शन में श्री अरविन्द ने विशिष्ट युग की प्रत्येक संस्कृति को एक अनोखा मनोवैज्ञानिक तथ्य और उच्चतर विकास की ओर प्रकृति का प्रयोग माना है। सामाजिक विकास की प्रणाली के रूप में संस्कृति और सभ्यता की पिछली असफलताओं का उनका विश्लेषण विभिन्न प्रकार की संस्कृतियों में मनोवैज्ञानिक तत्वों में उनकी अन्तर्दृष्टि पर आधारित है।

नैतिक संस्कृति की सीमाएँ

रोम और स्पार्टा नैतिक संस्कृति के उदाहरण हैं और उनके इतिहास को देखने से संस्कृति में नैतिक तत्व की सीमाएँ पता चलती हैं। स्पार्टा और रोम में जीवन का आनन्द बहुत कम था। दर्शन, कला, साहित्य और ज्ञान को कोई विशेष स्थान नहीं दिया गया था। सौन्दर्य-बोध और स्वतन्त्र विचार शंका की दृष्टि से देखे जाते थे। रोम में सब प्रकार की यूनानी कला और भाषा, शिक्षा और विचार का बहिष्कार किया गया। स्पार्टा ने केवल सैनिक संगीत और काव्य को मान्यता दी और इसके लिए भी एथेन्स के नागरिक बुलाए गए। इसी कारण प्लेटो ने अपने आदर्श जनतन्त्र में काव्य को कोई स्थान नहीं दिया। सुकरात ने कहा था, "कविता के विषय पर आकर हमारा यह तर्क होना चाहिए कि इसकी आशा की जा सकती थी कि हम कविता का नगर से बहिष्कार कर दें, उसकी प्रकृति ही ऐसी है।"[12] स्पार्टा के जीवन में कुछ भी ऐसा नहीं था जो मानव को आकर्षित करे। रिपब्लिकन रोम का साम्राज्यवादी रोम में भारी पतन हुआ। नैतिक संस्कृति की सबसे बड़ी भूल विकास की स्वतन्त्रता को सीमित करना था। श्री अरविन्द के शब्दों में, "मानव-मस्तिष्क चिन्तन, अनुभूति, आनन्द और विस्तार चाहता है, विस्तार उसका स्वभाव ही है और इनमें बाधा वहीं तक लाभदायक है जहाँ तक कि वह उसके विस्तार को स्थायी बनाने, निर्देशित करने और दृढ़ बनाने में आवश्यक हो।"[13]

सौन्दर्यात्मक संस्कृति और उसकी सीमाएँ

सौन्दर्यवादी संस्कृति का उदाहरण प्राचील एथेन्स में मिलता है। एथेन्स के इतिहास मे दो स्पष्ट भिन्न युग दिखलाई पड़ते हैं—पहला फीडीयास और सोफोक्लीज का एथेन्स और दूसरा दार्शनिकों का एथेन्स। पहले में कला और सौन्दर्य पर जोर दिया गया और दूसरे मे विचार पर। पहले में सौन्दर्य, स्वतन्त्रता तथा जीवन के आनन्द ही निर्णायक शक्तियाँ थीं। विचार तक कला और साहित्य के रूप में था। बौद्धिक विवादो का लक्ष्य चिन्तन का आनन्द प्राप्त करना और विचारों का सौन्दर्य था। इसमें नैतिकता की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया था। वह रूढ़िगत और परम्परागत थी। उसे सौन्दर्य के शब्दों मे ही अभिव्यक्त किया जाता था। "धर्म तक सौन्दर्यात्मक अनुभूति से जुडा हुआ था।"[14] सौन्दर्य के आनन्द की इस खोज में किसी भी प्रकार का ऊँचा या दृढ अनुशासन नहीं था। इसका परिणाम यह हुआ कि एक शताब्दी के अन्दर-अन्दर एथेन्स मे समस्त जीवन, संकल्प और रचनात्मकता समाप्त हो गई। सौन्दर्यवादी संस्कृति की यह दुर्बलता पुनर्जागरण काल के इटली में भी दिखलाई पड़ती है। यहाँ भी कला, साहित्य और सौन्दर्य की ओर विशेष ध्यान दिया गया और विचार तथा आचार की अवहेलना की गई। अनैतिक और दुर्बल सौन्दर्यवादी संस्कृति ने इटली की कमर तोड़ दी क्योंकि जहाँ मानव-जीवन में सौन्दर्य के विकास का मूल्य है वहाँ संकल्प, चरित्र, आत्मानुशासन और आत्मनियन्त्रण ही उसको सीधा खड़ा रखते हैं। इनकी अनुपस्थिति में उसका विकास नही हो सकता। श्री अरविन्द के शब्दों में, "भले ही नैतिक प्रवृत्ति मानव-प्राणी के विकास के लिए पर्याप्त न हो, तो भी संकल्प, चरित्र, आत्मानुशासन, आत्माधिकार उस विकास के लिए अपरिहार्य है।"[15]

नीति और सौन्दर्य का समन्वय

नैतिक और सौन्दर्यवादी संस्कृतियों की असफलताओं के मूल में यह मनोवैज्ञानिक तथ्य छिपा है कि ये दोनों ही मानव-प्रकृति के दो महत्वपूर्ण तत्त्वों पर आधारित हैं जिनमे से किसी का भी बहिष्कार नही किया जा सकता। अस्तु, मानव के सामाजिक विकास मे स्थायी रूप से सहायक होने के लिए संस्कृति को मानव-मनोविज्ञान में ऐसे तत्त्व पर आधारित होना चाहिए जोकि सम्पूर्ण मानव को सन्तुष्ट, समन्वित और संकलित करे। इसके अतिरिक्त किसी भी अन्य तत्त्व पर संस्कृति को आधारित करने से उसके पतन आर बर्बरता के उदय की सम्भावना बराबर बनी रहती है। बर्बरता का उदय भूतकाल मे इतना विनाशकारी नहीं था जितना कि भविष्य में होगा क्योंकि विज्ञान की सहायता से मानव ने आज ऐसे अस्त्र-शस्त्रों का अविष्कार कर लिया है कि उनके बर्बरता द्वारा प्रयोग से समस्त मानव-जाति के विनाश का खतरा है।

समन्वयात्मक तत्त्व की आवश्यकता

अस्तु, यह आवश्यक हो जाता है कि संस्कृति को ऐसे तत्त्व पर आधारित किया जाए जो स्थायी रूप से समन्वयात्मक तत्त्व हो। इसमें नैतिक और सौन्दर्यात्मक दोनों ही प्रकार के तत्त्वों को स्थान दिया जाएगा। संकल्प, चरित्र और अनुशासन आत्मपूर्णता की प्राथमिक दशाएँ हैं। सौन्दर्य-बोध भी इसके लिए अत्यन्त आवश्यक है। नैतिकता और सौन्दर्य-बोध दोनों के समन्वय से जीवन में समृद्धि और शक्ति तथा आनन्द आगे बढ़ते हैं।

बुद्धि की श्रेष्ठता

यह समन्वयात्मक तत्त्व विभिन्न तत्त्वों का समझौता नहीं है क्योंकि यह समझौता कभी-न-कभी टूट सकता है। कुछ विचारक बुद्धि को इस प्रकार का समन्वयात्मक तत्त्व मानते हैं। मानव-विकास की वर्तमान स्थिति में बुद्धि निश्चय ही सर्वोच्च तत्त्व है। वह ज्ञान का एकमात्र साधन ही नहीं है बल्कि अनेक पहलुओं में अन्य साधनों से भी श्रेष्ठ है। किन्तु उसकी सत्ता सदैव अपूर्ण रहती है। कुछ अन्य तत्त्व उसके प्रतिद्वन्द्वी के रूप में प्रकट होते हैं। उदाहरण के लिए, आस्था बुद्धि की प्रतिद्वन्द्वी रही है। इसी प्रकार कल्पना, संवेग, नैतिकता और सौन्दर्य-बोध ने बुद्धि के नियन्त्रण के विरुद्ध समय-समय पर विद्रोह किया है। मानव के व्यापक और जटिल अस्तित्व के बुद्धि द्वारा नियन्त्रण के प्रयास सदैव असफल रहे हैं।

बुद्धि और जीवन

बुद्धि के विरुद्ध जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उठने वाले विद्रोह यह दिखलाते हैं कि बुद्धि समन्वयात्मक तत्त्व नहीं है। जीवन उसकी व्यवस्थाओं और सिद्धान्तों की पकड़ में नहीं आता। बौद्धिक व्यवस्था केवल वहीं तक काम दे सकती है, जहाँ तक हमारा लक्ष्य पूर्ण सत्य नहीं है। बुद्धि अमूर्त्तकरण, विभाजन, विश्लेषण और साधारणीकरण के कार्य करती है। वह विचारों और तत्त्वों में खाई बनाती है जिसे वह भर नहीं सकती। उसके सिद्धान्त केवल काम-चलाऊ उपकल्पनाएँ मात्र होते हैं। जीवन में उसके महत्त्व से इनकार नहीं किया जा सकता किन्तु वह मानव-प्रकृति को पूर्ण सन्तोष नहीं दे सकती। उसके द्वारा प्राप्त हुई ऊँचाइयों में गहराइयाँ नहीं होतीं।

बौद्धिक संस्कृति

नैतिक और सौन्दर्यवादी तत्त्व के अतिरिक्त कुछ विचारकों ने बौद्धिक तत्त्व को संस्कृति का आधार बनाने का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। किन्तु बौद्धिक मनुष्य सम्पूर्ण मनुष्य नहीं है और इसलिए बौद्धिक संस्कृति सम्पूर्ण संस्कृति नहीं हो सकती। फिर भी यह अवश्य है कि मानव के सांस्कृतिक विकास में बौद्धिक संस्कृति एक उच्चतर सोपान है। इसने मनुष्य को आगे बढ़ाया है, किन्तु वर्तमान स्थिति में यह पर्याप्त साधन नहीं है। मानव के सामाजिक विकास में प्रकृति का तरीका यह रहा है कि एक विशेष तथ्य को

उठाकर उसको सर्वोच्च ऊँचाई तक ले जाया जाए और उसकी कठोर परीक्षा की जाए तथा उसमें उसके असफल होने पर ही उसके स्थान पर किसी उच्चतर तत्त्व की स्थापना की जाए। मानव का वर्तमान सांस्कृतिक संकट यह दिखलाता है कि बुद्धि जीवन का नियामक तत्त्व नहीं हो सकती। जैसे स्पार्टा और एथेन्स के पतन क्रमशः नैतिक तत्त्व और सौन्दर्यवादी तत्त्व की सीमाएँ दिखलाते हैं, उसी प्रकार आधुनिक बौद्धिक संस्कृति की कठिनाइयाँ बुद्धि की सीमाएँ दिखलाती हैं। मानव के सांस्कृतिक विकास में अनुभूति, सकल्प और बुद्धि इन तीन तत्त्वों को क्रमशः मानव-संस्कृति का आधार बनने का अवसर दिया गया। इनकी असफलता का अर्थ यह नहीं है कि ये व्यर्थ हैं और इनका पूर्ण बहिष्कार किया जाना चाहिए। इतिहास केवल यही बतलाता है कि ये मानव-जीवन के सर्वोच्च तत्त्व नहीं है और इनको जीवन में इनका विशिष्ट स्थान दिया जाना चाहिए।

समाज दर्शन मानव-जाति की संस्कृति और सभ्यता के इतिहास का विश्लेषण करता है ताकि भूतकाल में की गई भूलों को निकाला जा सके। जो समाज दर्शन नैतिक, सौन्दर्यात्मक और बौद्धिक संस्कृतियों की असफलताओं को जानता है वह स्वभावतया इन सबके योग से भी ऊँचे तत्त्व को पता लगाने का प्रयास करेगा। यह तत्त्व केवल सन्तुलन नहीं है, क्योंकि सन्तुलन सदैव टूट सकता है और फिर से पुरानी असफलताओं को दोहराने की ओर ले जा सकता है। इस प्रकार इतिहास अपने को दोहराता है। परन्तु मनुष्य-जाति एक ऐसी अवस्था पर पहुँच चुकी है जहाँ पर इतिहास को दोहराने का अर्थ समस्त मानव-इतिहास की इतिश्री कर देना है। बर्बरता मानव-सभ्यता के द्वारा कभी भी पूरी तरह जीती नहीं जा सकती। कभी तुर्की रूप में और कभी जर्मन रूप में वह बार-बार उठती रही है। किन्तु सभ्यता और बर्बरता की यह आँख-मिचौनी एक ऐसा खेल है जिसे मानव-जाति और अधिक नहीं खेल सकती। आणविक अस्त्रों के आविष्कार, प्रक्षेपास्त्रों के नए विकास ने मानव के हाथ में इतनी महती शक्ति एकत्रित कर दी है कि भावी बर्बरता के विकास से मानव-प्रजाति की समस्त संरचना के छिन्न-भिन्न हो जाने का खतरा उपस्थित हो गया है। समाज दार्शनिक के लिए यह तथ्य अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। यह भयंकर स्थिति विधियों और दृष्टिकोण में सम्पूर्ण क्रान्ति चाहती है।

संकलन का तत्त्व

इस प्रकार श्री अरविन्द ने नैतिक संस्कृति, सौन्दर्यात्मक संस्कृति और बौद्धिक सस्कृति का ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके यह दिखलाने का प्रयास किया है कि इनके मूल में जो तत्त्व काम करते हैं वे जीवन के आवश्यक तत्त्व होते हुए भी समन्वयात्मक तत्त्व नहीं हैं और इसलिए इनमें से प्रत्येक का पतन हुआ और कोई भी मनुष्य को स्थायी सन्तोष नहीं दे सका। जैसाकि पीछे बतलाया जा चुका है, वर्तमान काल में मानव एक ऐसी स्थिति पर पहुँच गया है जबकि एकांगी विकास का कोई नया प्रयोग नहीं किया जा सकता क्योंकि इसमें संस्कृति के विनाश और बर्बरता के उदय का खतरा है और ऐसे किसी भी नए खतरे को झेलने के लिए मानव-जाति तैयार नहीं है क्योंकि इसमें उसके विनाश की है अस्तु, श्री अरविन्द ने आध्यात्मिक संस्कृति

अथवा संस्कृति के आध्यात्मिक आधार का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। श्री अरविन्द के अनुसार किसी भी सच्ची संस्कृति का आधार न तो जैवकीय मूल प्रवृत्ति और न अनुभूति, संकल्प, बुद्धि, धार्मिक प्रेरणा अथवा आध्यात्मिक दृष्टिकोण ही हो सकते हैं। कला, नैतिकता, दर्शन, धर्म, साहित्य अथवा कोई भी अन्य तत्त्व अकेले या कुछ तत्त्व मिलकर मनुष्य को सन्तोष नहीं दे सकते। वह अस्थायी रूप से भले ही उनमें कुछ सन्तोष अनुभव करे, किन्तु जब वह उनकी सीमाओं को जान जाता है तो वह उनमें सन्तोष नही पा सकता और उन्हें छोड़कर किसी अधिक सर्वांग तथा समन्वयकारी तत्त्व की खोज में आगे बढ जाता है। विकास की यह प्रवृत्ति केवल आध्यात्मिक रूपान्तरण में सन्तुष्ट हो सकती है।[16]

आध्यात्मिक संस्कृति

इस प्रकार मानव-जाति की वर्तमान संस्कृति की चरम परिणति को श्री अरविन्द ने एक आध्यात्मिक संस्कृति के रूप मे देखा है। आध्यात्मिक संस्कृति की अवधारणा मानव-सभ्यता के भूतकालीन इतिहास के विश्लेषण मात्र पर आधारित कोई निष्कर्ष नही है। समाज दर्शन इतिहास दर्शन नहीं होता। निःसन्देह इतिहास दर्शन समाज दर्शन को निष्कर्षों पर पहुँचने में सहायता देता है क्योंकि अन्त में, इतिहास पृथ्वी पर मानव-जीवन के हजारों साल के अनुभवों का लेखा-जोखा है। किन्तु इतिहास स्वयं वह लक्ष्य नही बतलाता जिसकी ओर सामाजिक विकास को आगे बढ़ना चाहिए। प्राकृतिक प्रक्रिया मानव में आत्मचेतन हो जाती है। ऐतिहासिक और सांस्कृतिक प्रक्रिया व्यक्ति में आत्म-चेतन हो जाती है। टायनबी और क्रोयबर के द्वारा प्रस्तुत सांस्कृतिक विकास की प्रक्रियाओं के सर्वेक्षणों से इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है कि व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का सृजनात्मक विकास एक महान् प्रणाली की आधारशिला रख सकता है जोकि सम्पूर्ण विकासमान समाज को निरन्तर समृद्ध बनाती है। जबकि कोई महापुरुष किसी ऐसी चुनौती का सामना करता है जो समाज के अन्य मानवों के द्वारा सुलझायी नहीं जा सकती तो वह आत्मकेन्द्रित होकर चिन्तन करता है। टायनबी के शब्दों, में "प्रत्येक उदाहरण मे हम सृजनात्मक व्यक्तित्व अथवा सृजनात्मक अल्पसंख्यक समूह के द्वारा पलायन का मार्ग ग्रहण करते हुए पाते हैं ताकि उस चुनौती का सामना किया जा सके जोकि समाज के सन्मुख उपस्थित है।"[17] टायनबी ने यह दिखलाया है कि इस स्थायी पलायन के बाद, सृजनात्मक व्यक्ति फिर से नवीन प्रकाश फैलाने के लिए अपने साथियों की ओर लौटता है। संस्कृति का संकट; जैसाकि टायनबी दिखलाते है, पुनर्जागरण का एक नवीन बिन्दु, एक नवीन तथ्य का जन्म दिखलाता है। इतिहास के अध्ययन पर अपने महान् ग्रन्थ के नवें अंक में टायनबी ने यह घोषणा की है कि "चुनौती और प्रत्युत्तर की प्रक्रिया सांस्कृतिक विकासों की आधार-भूमि तैयार करती है और उसकी सम्भावनाओं की परिपूर्ति की व्यवस्था करती है।"[18] "यह चुनौती सभ्यता के विकास और विघटन किसी की भी ओर ले जा सकती है।"[19] यदि इसका प्रत्युत्तर हो जाता है तो समाज ऊँचे स्तर पर उठ जाता है, यदि नही होता तो वह विघटित हो जाता है। इस प्रकार संस्कृति चुनौतियों के प्रति समाज के प्रत्युत्तर का परिणाम है वह सामाजिक प्रक्रिया की एक

आकस्मिक उत्पत्ति नहीं है। संस्कृतियाँ आध्यात्मिक आवश्यकताओं से जन्म लेती है यद्यपि चुनौती का रूप भौतिक हो सकता है।

टायनबी के विचारों का उपरोक्त विस्तृत विवेचन संस्कृति के जन्म, पतन और प्रगति के विषय में श्री अरविन्द की खोज में भारी समानता रखता है। श्री अरविन्द ने यह पूरी तरह समझ लिया था कि मानव-सभ्यता एक भयंकर चुनौती का सामना कर रही है। उन्होंने संस्कृति की पिछली असफलताओं के कारणों का अध्ययन किया और भविष्यवाणी की कि मानव-संस्कृति तब ही जीवित रह सकती है जबकि वह वर्तमान संकट का सामना करने में सफल हो। टायनबी के समान ही श्री अरविन्द भी इस चुनौती को आध्यात्मिक मानते हैं किन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में अपने अनुभव में इसका उपचार निकालकर वे टायनबी से अधिक आगे बढ़े हैं। इतिहास दर्शन से सहायता प्राप्त करते हुए भी श्री अरविन्द का समाज दर्शन वास्तव में उनके यौगिक अनुभव, उनके आन्तरिक विकास पर आधारित है। मानव-चेतना का आन्तरिक विकास ही भावी सांस्कृतिक प्रगति के सिद्धान्त उपस्थित करता है जोकि वर्तमान संकट की चुनौती का प्रत्युत्तर हैं। टायनबी ने यह माना है कि अपने अन्दर के सृजनात्मक विकास के अनुकूल सामाजिक जन-समूह के रूपान्तरण करने की शक्ति सन्त में होती है।[20] यही श्री अरविन्द के समाज दर्शन का व्यावहारिक आधार है, जोकि बौद्धिक सूत्रों में फँसे विद्वानों को सामाजिक प्रक्रियाओं के गतिशास्त्र मे आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि के अभाव के कारण एक धार्मिक और रहस्यात्मक विश्वकल्पना प्रतीत हो सकती है।

विभिन्न संस्कृतियों की वैयक्तिकता

श्री अरविन्द स्पेंगलर के इस विचार से सहमत हैं कि विभिन्न संस्कृतियो मे अलग-अलग व्यक्तित्व पाया जाता है। उन्होंने कहा है, "प्रत्येक राष्ट्र मानवता मे विकासमान आत्मा की एक शक्ति है और उस तत्त्व से जीवित रहता है जिसको कि वह साकार करता है।"[21] किन्तु, स्पेंगलर के अनुसार, यह वैयक्तिकता सार्वभौमिकता अर्थात् मानव-जाति से अलग है। स्पेंगलर के शब्दों में, "मानव-प्रजाति में कोई भी विचार कोई भी योजना इससे अधिक नहीं है जितनी कि तितलियों के परिवार अथवा फूलो के गुच्छों में होती है। मानव-प्रजाति एक रिक्त जगत् की जीवशास्त्रीय अभिव्यक्ति है।"[22] यहाँ पर श्री अरविन्द स्पेंगलर से सहमत नहीं हैं। उनके लिए, आध्यात्मिक सार तत्त्व मे सभी संस्कृतियाँ एक हैं, किन्तु उनमें एक ही मानवता को विभिन्न प्रकार से अभिव्यक्त करने की शक्ति है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "आध्यात्मिकता भारत का एकाधिकार नहीं है; वह मानव-प्रकृति का एक अनिवार्य अंश है, भले ही वह बौद्धिकता में अन्तर्निहित हो अथवा अन्य आवरणों में छिपी हो।"[23] क्रोचे ने ठीक ही कहा है कि समस्त इतिहास व्यक्तिगत होता है, किन्तु फिर सभी व्यक्ति एक सार्वभौम की अभिव्यक्तियाँ हैं। सर्वपल्ली राधाकृष्णन के शब्दों में, "मानव की सभ्यताएँ निःसन्देह समृद्ध और विविध हैं, फिर भी वे आत्मा की एक मूलभूत एकता पर आधारित हैं।"[24] इस प्रकार विभिन्न संस्कृतियो में विविधता निरपेक्ष नहीं बल्कि सापेक्ष है यह विभिन्न तत्त्वों पर जोर के कारण है

जैसाकि श्री अरविन्द ने कहा है, "किन्तु यह अन्तर एक ओर आन्तरिक और बाह्य जीवन में आध्यात्मिकता को प्रमुख प्रेरक और निर्णायक शक्ति बनाने में और दूसरी ओर आध्यात्मिकता के दमन, उसको आवरणों में ढँककर अथवा एक अल्पशक्ति बनाकर उसके अधिकार का निषेध करके अथवा बुद्धि के पक्ष में उसे छोड़कर अथवा एक प्रभावशाली भौतिकवादी जैववाद के पक्ष में छोड़ देने में है।"[25]

श्री अरविन्द के अनुसार मानव-संस्कृति को एक समरस, अकेली और समृद्धि-विहीन संस्कृति नहीं होना है। उसमें विभिन्न संस्कृतियों को अपनी-अपनी दिशाओं में आगे बढ़ते हुए प्रगति करनी है जब तक कि सभी अपने ढंग से आध्यात्मिक स्तर को प्राप्त न कर ले। इस आध्यात्मिक स्तर पर परस्पर विरोध परस्पर पूरक हो जाते हैं। उसकी एकता कोई मृत समरसता नहीं है बल्कि एक समृद्ध विविधता में एकता है। श्री अरविन्द के समाज दर्शन और तत्त्व विद्या में एकता सदैव अनेकता में और उन्हीं के माध्यम से प्राप्त की जाती है, वैयक्तिकता सार्वभौमिकता में और सार्वभौमिकता वैयक्तिकता में छिपी रहती है। दूसरों से भिन्न होने के कारण ही कोई सभ्यता बर्बरता मात्र नहीं होती, क्योंकि मानव-संस्कृति की पूर्णता में ये विविधताएँ अनिवार्य हैं। जैसाकि श्री अरविन्द ने संकेत किया है, "बर्बरता और सभ्यता में कोई भी वास्तविक प्रश्न यहाँ नहीं उठता, क्योंकि मनुष्यों के सभी समूह अपने को सुसंस्कृत बनाने के लिए श्रम करते हुए बर्बर हैं। मानव-संस्कृति के विकास की पूर्णता के लिए एक गतिशील विविधता अनिवार्य है।"[26]

यथार्थ आदर्शवाद

श्री अरविन्द का समाज दर्शन एक यथार्थ आदर्शवाद उपस्थित करता है। इसमें जडवादी और आध्यात्मवादी अतिरेक संस्कृतियाँ मिलती हैं। श्री अरविन्द के अनुसार किसी भी संस्कृति का जीवन-मूल्य उसकी तीन शक्तियों में मूल्यांकित किया जाना चाहिए, उसकी जीवन की मौलिक धारणा की शक्ति, जीवन में उसके रूपों की शक्ति। व्यष्टि और समष्टि के वास्तविक जीवन में उसकी प्रेरणाओं को पूरा करने की शक्ति संस्कृति को केवल भौतिक संरचना ही पैदा नहीं करनी है बल्कि व्यक्ति और समुदाय के भावी विकास के लिए आदर्श प्रेरक और प्रणालियाँ भी देनी हैं। संस्कृति का स्थान प्राप्त करने के लिए सभ्यता में ये तत्त्व आवश्यक हैं। जीवन में भौतिक योगदान चाहे कितना भी आवश्यक क्यों न हो, किन्तु संस्कृति की सफलता अथवा असफलता उसके भौतिक योगदान से नहीं बल्कि प्रेरक तत्त्वों से ही निश्चित होती है। संस्कृति मूल रूप से आदर्शात्मक होती है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "एक महान् संस्कृति का सम्पूर्ण लक्ष्य मनुष्य को एक ऐसी चीज तक उठाना है जोकि वह आरम्भ में नहीं है, उसे ज्ञान की ओर ले जाना है यद्यपि वह असीम अज्ञान में आरम्भ करता है, उसे विवेक के द्वारा जीवित रहना सिखाना है यद्यपि वह अपने विवेक से अधिक जीवन व्यतीत करता है, उसे शुभ और एकता के नियम से चलाना है यद्यपि वर्तमान में वह अशुभ और विघटन से भरा पड़ा है, उसे सौन्दर्य और समन्वय के नियम से चलाना है यद्यपि उसका वर्तमान जीवन असुन्दर और असमन्वित बर्बरता का एक घृणित आगार है उसे आत्मा के उच्च नियम से

चलाना है यद्यपि वर्तमान में वह अहंकारी, जड़वादी और आध्यात्म-विरोधी तथा अपने भौतिक जीवन की आवश्यकताओं और इच्छाओं में डूबा हुआ है।"[27]

आदर्शों की यथार्थता में कठिनाइयाँ

निश्चय ही यह कार्य अत्यधिक कठिन है क्योंकि, जैसाकि श्री अरविन्द ने स्वीकार किया है, "आदर्श में और जीवन के वास्तविक व्यवहार में सदैव भारी खाई रही है।"[28] प्राचीन अथवा आधुनिक कोई भी संस्कृति और सभ्यता मानव की सर्वांग पूर्णता के लिए उपयुक्त व्यवस्था उपस्थित करने में सफल नहीं रही है। वास्तविक व्यवहार में प्रत्येक संस्कृति आदर्श सीमाओं और अपूर्णताओं का शिकार हो जाती है। आदर्श जितने ही ऊँचे होते हैं, उनके साक्षात्कार में उतनी ही अधिक कठिनाइयाँ होती हैं। प्रत्येक संस्कृति उसके गुणों की सीमाओं, दोषों और अतिशयोक्तियों से पीड़ित होती है। विचार और वास्तविक जीवन में अमूर्त्तता अपवाद न होकर नियम है। विचार प्रत्येक सस्कृति को बनाए रखने में सहायता देता है, किन्तु उसके दोष संस्कृति की प्राणशक्ति को सोखते हैं और उसके पतन तथा कभी-कभी पूर्ण उन्मूलन की ओर ले जाते हैं। इस प्रकार कुछ महान् संस्कृतियों जैसे कि प्राचीन भारतीय सस्कृति में कुछ स्थायी पूर्णता और समन्वय प्राप्त करने के बावजूद, "मानवता अभी भी अर्धसभ्य से अधिक नहीं है और वह वर्तमान चक्र के लिखित इतिहास में इसके अलावा कुछ भी नहीं रही है।"[29] किन्तु इससे मानव-संस्कृति के भविष्य में निराशा की कोई बात नहीं है। इससे केवल यही पता चलता है कि सांस्कृतिक प्रक्रिया एक मन्द विकास है। श्री अरविन्द के अनुसार सभी महान् सस्कृतियाँ अपने इतिहास में तीन कालों से गुजरती हैं: "सबसे पहले एक व्यापक और बिखरा हुआ संगठन होता है; इसके बाद दूसरा काल आता है जिसमें कि हम रूपों, आकारों और गतियों का निश्चित किया जाना देखते हैं; तब फिर एक अन्त का, वार्धक्य का, पतन का और विघटन का संकट काल आता है।"[30] यह अन्तिम अवस्था सभ्यता में एक सकट उत्पन्न कर देती है, ऐसा ही संकट वर्तमान समय में मानव की बौद्धिक संस्कृति के सम्मुख उपस्थित है। श्री अरविन्द के अनुसार यह संकट आत्मा की अभिव्यक्ति में वर्तमान सस्कृति के रूपों की असफलता के कारण है। इन रूपों को बदलकर ही इस संकट को दूर किया जा सकता है। सांस्कृतिक रूपों में यह रूपान्तरण आत्मा की आन्तरिक माँगों के अनुकूल होने पर मानव-प्रजाति दिव्य संस्कृति के काल में पहुँच जाएगी जिसका विवेचन प्रस्तुत पुस्तक के चौदहवें अध्याय में किया गया है। सांस्कृतिक प्रक्रिया के रूपों का यह परिवर्तन कहाँ तक शिक्षा, नैतिकता और धर्म से प्राप्त किया जा सकता है, यह अगले अध्यायों का विषय है। इस दिशा में बुद्धि और बुद्धि से निम्न तत्वों की असफलता यह दिखलाती है कि सांस्कृतिक प्रक्रिया के विकास में मनुष्य एक ऐसी स्थिति पर पहुँच गया है जहाँ पर आत्मा के अतिरिक्त कोई भी निम्न तत्त्व उसके उपयुक्त आकार प्रदान नहीं कर सकता। मानव-सभ्यता में वर्तमान आध्यात्मिक संकट अन्दर से परिवर्तन, समस्त मानव-प्रजाति का रूपान्तरण माँगता है। कुछ समाज दार्शनिकों के अनुसार यह असम्भव है और यह सकट मानव प्रजाति की अनिवार्य मृत्यु की ओर ले जाएगा किन्तु श्री

अरविन्द ने योग के रूप में इस संकट का एक सुलझाव उपस्थित किया है जिसकी विवेचना आगे तेरहवें अध्याय में की गई है। यह प्रणाली ही मानव-संस्कृति के उज्ज्वल भविष्य में श्री अरविन्द के आशावाद का ठोस आधार है।

सात्मीकरण

किन्तु यह प्रक्रिया अच्छे को ग्रहण करने और बुरे को छोड़ देने मात्र से नहीं होगी जोकि एक जनप्रिय सूत्र है, किन्तु साथ ही अत्यन्त अपरिष्कृत और भ्रामक है क्योंकि यदि बाहर से कुछ लिया जाता है तो वह सदैव भले और बुरे का मिश्रण होता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि बाहर से कुछ भी लेना अनुपयुक्त है क्योंकि वह समस्त विकास के लिए आवश्यक है। वास्तव में असली प्रश्न लेने या न लेने का नहीं है बल्कि अनुकरण करने अथवा सात्मीकरण का है। अनुकरण आत्मविकास की प्रकृति के लिए विदेशी नियम है। दूसरी ओर, सात्मीकरण एक अनिवार्य सिद्धान्त है, यद्यपि सात्मीकरण और अनुकरण दोनों में ही बाहर से लेना आवश्यक होता है। अस्तु, भारतीय संस्कृति को, चाहे वह कितनी भी विकसित क्यों न हो, यूरोपीय संस्कृति से बहुत-कुछ ग्रहण करना पड़ेगा। किन्तु यह अनुकरण के रूप में नहीं बल्कि सात्मीकरण के रूप में होना चाहिए। इस अवधारणा को स्पष्ट करते हुए श्री अरविन्द ने कहा है, "सात्मीकरण से मेरा तात्पर्य यह है कि हमें उसे यूरोपीय रूपों में अपरिष्कृत तरीके से नहीं लेना चाहिए, बल्कि उसके अनुरूप जो कुछ था उसकी ओर लौटना चाहिए, जोकि उसके अर्थ को स्पष्ट करे, जीवन और अस्तित्व की हमारी अपनी धारणा में उसके सर्वोच्च प्रयोजन की पुष्टि करे, तथा अन्य विचारों और व्यवहार में उसके विस्तार, अंश, रूप और सम्बन्ध को निश्चित करे।"[31] इसी को आत्मसातकरण कहा गया है। यह अन्तर्क्रिया जीवन की प्रकृति है। यह परमतत्त्व का मूल सत्य है जिसमें प्रत्येक प्राणी विविधता में एकता है और इसी को प्रत्येक संस्कृति का नियम बनना चाहिए। श्रेष्ठता एक सापेक्ष शब्द है, क्योंकि कोई भी संस्कृति सभी पहलुओं में अनिवार्य रूप से दूसरों से श्रेष्ठ नहीं होती। वह कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण पहलुओं में अधिक विकसित होने के कारण श्रेष्ठ होती है। किन्तु सर्वांग विकास में अन्य पहलुओं का भी उतना ही महत्त्व है। अस्तु, अपनी संस्कृति के कुछ पहलुओं में यूरोप भारत से श्रेष्ठ है। संस्कृति के कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण पहलुओं में भारत यूरोप से श्रेष्ठ है किन्तु अन्तर्क्रिया, सात्मीकरण और सहयोग की दोनों को आवश्यकता है। सांस्कृतिक विकास के सिद्धान्त सार्वभौम होते हैं। परन्तु इन सिद्धान्तों पर अमल व्यक्तिगत होता है और उसमें दूसरों से अन्तर्क्रिया आवश्यक होती है। यही कारण है कि समाज दर्शन वास्तविक सांस्कृतिक विकास के लिए सुनिश्चित नियम निर्धारित नहीं कर सकता। वह केवल पिछली असफलताओं की ओर संकेत कर सकता है, सांस्कृतिक विकास में दर्शन और विज्ञान, कला और साहित्य, शिक्षा, नीति और धर्म के योगदान का मूल्यांकन कर सकता है, इन सबमें विकास के मार्ग दिखला सकता है और जहाँ ये सब असफल होते हैं वहाँ कोई ऊंची प्रणाली सुझा सकता है इस पुस्तक के अगले अध्यायों में यही प्रयास किया गया है यह स्मरणीय है कि इस विश्लेषण में संस्कृति और को एक प्रक्रिया और

सामाजिक विकास की दशा तथा एक उज्ज्वल भविष्य की ओर आगे बढ़ने की प्रणाली के रूप में दिया गया है। उसके मूल तत्त्वों का विवेचन उनमें अन्तर करने के लिए तथा सामाजिक विकास में उनका मूल्य और सीमाएँ निर्धारित करने के लिए किया गया है।

आध्यात्मिक संस्कृति के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक संस्कृति को अपनी तरह से और अपनी राह में आगे बढ़ना होगा। वर्तमान स्थिति में वे भले ही परस्पर विरोधी दिखलाई पड़ती हों किन्तु आध्यात्मिक स्तर पर पहुँचकर यह विरोध समाप्त हो जाएगा, क्योंकि इस स्तर पर परस्पर विरोधी परस्पर पूरक बन जाते हैं। किन्तु इससे विविधता समाप्त नहीं होगी। विविधता मानव की सांस्कृतिक समृद्धि का अनिवार्य लक्षण है। नीति, धर्म, कला, साहित्य, शिक्षा, सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विविधता समृद्धि का लक्षण है। इस विविधता को हटाकर एकता बनाने का विचार जीवित तत्त्व के स्थान पर मृतक की स्थापना करने जैसा है। अस्तु, संसार में प्रत्येक साहित्य, भाषा, कला, दर्शन, समूह, समाज और राष्ट्र को अपने मार्ग पर आगे बढ़ना है, अपने स्वधर्म का पालन करना है। किसी को किसी का अनुकरण करने की आवश्यकता नहीं है। विविधता के कारण इनमें जो द्वन्द्व दिखलाई पड़ते हैं वे आध्यात्मिक स्तर पर स्वयं ही समाप्त हो जाएँगे।

श्री अरविन्द के अनुसार किसी भी संस्कृति की प्राणशक्ति तीन तत्त्वों पर निर्भर होती है—एक तो जीवन की एक मूल धारणा उपस्थित करने की शक्ति, दूसरे, जीवन के विभिन्न रूपों में प्रकट होने की शक्ति और तीसरे, व्यक्ति और समुदाय के वास्तविक जीवन में अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने की शक्ति। संस्कृति को एक भौतिक आधार ही प्रदान नहीं करना है बल्कि व्यक्ति और समुदाय के भावी विकास के आदर्श, प्रेरणाएँ और विधियाँ भी प्रस्तुत करनी हैं। उसका भौतिक योगदान कितना भी महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, किन्तु उससे उसकी सफलता या असफलता का निश्चय नहीं होगा। संस्कृति का मूल लक्षण मानव का संस्कार, उसको ऊँचा उठाना है। वास्तविक जीवन में आदर्श और यथार्थ में बराबर खाई दिखलाई पड़ती है और कोई भी संस्कृति आज तक एक ऐसी व्यवस्था प्रस्तुत करने में सफल नहीं हुई है जिससे मनुष्य की सर्वांग पूर्णता का लक्ष्य प्राप्त हो सके। प्रत्येक संस्कृति की अपनी सीमाएँ और अपूर्णताएँ रही हैं। जिन संस्कृतियों ने जितने ही ऊँचे आदर्श उपस्थित किए उनमें उन आदर्शों को प्राप्त करने में उतनी ही अधिक कठिनाइयाँ रही हैं। अस्तु, मानव के लम्बे सांस्कृतिक इतिहास में किसी भी युग में यह अर्द्ध-सांस्कृतिक से अधिक कुछ नहीं बन सका है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह सांस्कृतिक विकास के लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता। इससे केवल यही प्रकट होता है कि सांस्कृतिक विकास को आगे बढ़ाने के लिए उसके आधार में किसी अधिक शक्तिशाली तत्त्व की आवश्यकता है। मानव का वर्तमान सांस्कृतिक संकट इस तथ्य के अभाव के कारण ही उपस्थित हुआ है और इस प्रकार के तत्त्व को जीवन का आधार बनाने से ही यह संकट टल सकता है शिक्षा, नैतिकता अथवा धर्म के माध्यम से थोड़ा-बहुत सुधार हो सकता है, किन्तु सामाजिक विकास के आदर्श को पूर्णतया प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसके लिए समस्त

मानव-जाति के रूपान्तर की आवश्यकता है। इसके लिए एक आन्तरिक क्रान्ति होनी चाहिए। यह क्रान्ति कितनी भी कठिन अथवा असम्भव क्यों न लगती हो, किन्तु यह किए बगैर मानव का भविष्य प्रकाशमय नहीं हो सकता। जब पाशविक स्तर से मानव बुद्धि के स्तर पर आया तब भी ऐसी ही क्रान्ति हुई थी और उस समय भी मानव पशु यह विश्वास नहीं कर सकता था कि कभी वह बौद्धिक स्तर पर पहुँचने की क्रान्ति सम्भव बना सकेगा। अस्तु, निराशा का कोई कारण नहीं है।

मानवता के इस भावी विकास में प्रत्येक राष्ट्र को जहाँ एक ओर आत्म-साक्षात्कार करना है, वहाँ दूसरों की वृद्धि में भी सहायता देना है। अन्तर्क्रिया सब-कहीं सांस्कृतिक वृद्धि की मूल प्रक्रिया है, भले ही यह व्यक्तियों के बीच हो, समूहों के मध्य हो या राष्ट्रों में हो। मनुष्य अन्य मनुष्यों से अलग रहकर आध्यात्मिक विकास के लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता। यह बात व्यक्ति और राष्ट्र दोनों पर लागू होती है। स्वधर्म पहली आवश्यकता है। कुछ समय तक व्यक्ति और राष्ट्र केवल अपने ही सत्य के सहारे आगे बढ़ सकते हैं। कुछ काल तक एक संस्कृति अन्य संस्कृतियों से सम्पर्क के बिना भी आगे बढ़ सकती है, किन्तु यह अलगाव अधिक समय तक सम्भव नही है, और आज जब दुनिया इतनी छोटी हो गई है तो कोई भी व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र अन्य से अलग रहकर अपना विकास नही कर सकता। अस्तु, विभिन्न संस्कृतियों की अन्तर्क्रिया का अर्थ अनुकरण नहीं है, बल्कि आदान-प्रदान में प्रत्येक संस्कृति को देना-लेना है, भले ही वह विकास के क्रम में अन्य से कितनी भी आगे क्यों न हो। यह परस्पर अनुक्रिया जीवन की प्रकृति है। इसी के माध्यम से विविधता में एकता बनती है। यही प्रत्येक संस्कृति का नियम होना चाहिए। अस्तु, पूर्व और पश्चिम के इस मिलन और सक्रिय सहयोग से ही भूतल पर आध्यात्मिक संस्कृति की स्थापना के आदर्श को प्राप्त किया जा सकता है। इसी में मानव-मानव के उज्ज्वल भविष्य को प्राप्त करने की सम्भावना निहित है।

10

शिक्षा

> "शिक्षा का प्रमुख लक्ष्य प्रगतिमान आत्मा को सहायता देना और उसमें से सर्वोत्तम तत्त्व को बाहर निकालकर उसे श्रेष्ठ उपयोग के लिए पूर्ण बनाना है।"[1]
>
> —श्री अरविन्द

प्रस्तुत अध्याय का प्रयोजन दो प्रकार का है। सबसे पहले इसमें प्राचीन और आधुनिक शिक्षा दर्शनों के प्रकाश में श्री अरविन्द के शिक्षा दर्शन की परीक्षा की जाएगी। दूसरे, इसका लक्ष्य सामाजिक विकास की एक प्रणाली के रूप में शिक्षा का मूल्यांकन करना है।

आत्मशिक्षा

श्री अरविन्द के अनुसार, "बालक की शिक्षा उसकी प्रकृति में जो कुछ सर्वोत्तम, सर्वाधिक शक्तिशाली, सबसे अधिक अन्तरंग और जीवित है उसे अभिव्यक्त करना होना चाहिए; एक ऐसा साँचा जिसमें मनुष्य की क्रिया और विकास उसके आन्तरिक गुण और शक्ति के आधार पर चले। उसे नई वस्तुएँ अर्जित करनी चाहिए, परन्तु वह उन्हे सर्वोत्तम रूप से अपने स्वयं के विकसित प्रकार और जन्मजात शक्ति के आधार पर शक्तिशाली रूप से सर्वोत्तम प्रकार से अर्जित करेगा।"[2] इस प्रकार सच्ची शिक्षा सदैव आत्मशिक्षा होती है। वह एक प्रयोजनात्मक प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति अपनी आन्तरिक प्रकृति और उसकी प्रेरणाओं का साक्षात्कार करता है। इस प्रक्रिया में शिक्षार्थी अपने विशिष्ट लक्ष्यों का साक्षात्कार करने के लिए शिक्षकों, विद्यालयों और पुस्तकों को प्रयोग करता है। शिक्षक शिक्षार्थी को एक ऐसी अवस्था पर ले जाता है जबकि शिक्षार्थी की प्रकृति ही मार्ग-दर्शन करती है। यह शिक्षार्थी-केन्द्रित शिक्षा है। आधुनिक शिक्षा-दार्शनिक शिक्षा-प्रक्रिया में शिक्षार्थी के इस महत्त्व के विषय में एकमत हैं।

शिक्षा का मनोवैज्ञानिक आधार

श्री अरविन्द के अनुसार "मानस को ऐसा कुछ भी नहीं सिखाया जा सकत जोकि जीव की अ[illegible] होने वाली आत्मा मे निहित ज्ञान के रूप में पहले से ही छिपा

हुआ न हो।"[3] शिक्षा का कार्य कुछ नया निर्माण करना नहीं है। वह मानव-प्राणी की सम्भावनाओं को अभिव्यक्त करती और विकसित करती है। वाटसन जैसे परिवेशवादी मनोवैज्ञानिक का अत्यधिक आशावाद शिक्षा का ठोस आधार सिद्ध नहीं हुआ है क्योंकि परिवेशवाद सही मनोविज्ञान नहीं है। शैक्षिक सिद्धान्त को ठोस मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित होना चाहिए। जैसाकि श्री अरविन्द ने संकेत दिया है, "शिक्षा का सच्चा आधार मानव-मस्तिष्क, शिशु, किशोर और वयस्क का अध्ययन है।"[4] परिवेशवादियों का प्रमुख दोष यह सोचना था कि मानव-शिशु को लकड़ी अथवा मिट्टी की तरह कोई भी रूप दिया जा सकता है। अब यह स्थापित हो चुका है कि मानव इस जगत् में कुछ विशिष्ट संरचना, शक्तियाँ और कौशल लेकर आता है और मानव-प्रकृति जैसी कोई चीज है जिसको विशिष्ट परिस्थितियों में सीमित रूप से ही बदला जा सकता है यद्यपि उसके विकास की सम्भावनाएँ असीम हैं। अस्तु, शिक्षा मानव-प्रकृति के अनुरूप होनी चाहिए।

शिक्षा और आदर्श

समाज में शिक्षा का आदर्श वही होगा जोकि समाज और मानव का लक्ष्य है। कोल के शब्दों में, "हम जिस शिक्षा-व्यवस्था की स्थापना का प्रयास करते हैं वह समाज के उस प्रकार पर आधारित होनी चाहिए जिसमें कि हम रहते हैं, पुरुषों और स्त्रियों के उन गुणों पर आधारित होनी चाहिए जिनको हम सर्वाधिक मूल्यवान मानते हैं, शिक्षा की सम्भावना के हमारे अनुमानों पर आधारित होनी चाहिए जोकि हम श्रेष्ठ बुद्धि और सौन्दर्यात्मक सामर्थ्यों वाले लोगों के साथ-साथ साधारण लोगों के बारे में लगाते हैं।"[5] श्री अरविन्द ने दैवी समाज और दैवी मानव का लक्ष्य रखा है। अस्तु, उनकी शिक्षा योजना का लक्ष्य मानव, व्यक्ति और समाज में दैवी पूर्णता प्राप्त करना है। अपने शिक्षा दर्शन में उन्होंने पूर्व के आदर्शों और पश्चिम की खोजों में समन्वय करने की चेष्टा की है। उनकी धारणा है कि जैसाकि प्राचीन भारतीय ऋषियों ने कहा था, शिक्षा का परम लक्ष्य मनुष्य मे दैवी तत्त्व का पूर्णतम साक्षात्कार है। भारतवर्ष में शिक्षा को, "प्रकाश और शक्ति का एक स्रोत माना गया है जोकि हमारी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्तियों तथा कौशलों के और प्रगतिशील सम्बन्धित विकास के द्वारा हमारी प्रकृति को रूपान्तरित करती और श्रेष्ठ बनाती है।"[6] प्राचीन भारतीय शिक्षा-व्यवस्था की परम्परा में श्री अरविन्द सर्वांग शिक्षा का समर्थन करते हैं। मानव का लक्ष्य सर्वांग आत्मसाक्षात्कार है और शिक्षा उसी सीमा तक उपयोगी है जहाँ तक वह उस प्रयोजन को पूरा करती है।

शिक्षा के मौलिक सिद्धान्त

श्री अरविन्द का शिक्षा दर्शन कुछ मौलिक सिद्धान्तों पर आधारित है। सबसे पहले बालक को स्वयं जानना और विकसित होना चाहिए शिक्षक को केवल निर्देशन और सहायता देनी चाहिए जैसाकि फ्रोबेल ने कहा है शिक्षा प्रशिक्षण और अध्यापन

के मूल सिद्धान्त निर्देशक और बाधक न होकर निष्क्रिय और स्वेच्छात्मक होने चाहिए।"[7] आयु और लिंग के भेद के बिना यह सिद्धान्त सभी शिक्षार्थियों पर लागू होता है। दूसरे, शिक्षा शिक्षार्थी के विशिष्ट गुणों, सामर्थ्यों, विचारों और मूल्यों के अनुरूप होनी चाहिए। व्यक्तिगत अथवा राष्ट्रीय सभी क्षेत्रों में स्वधर्म पालन विकास का सिद्धान्त है। अनुकरण विदेशी नियम को थोपना है। प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक समुदाय को अपनी प्रतिभा के अनुरूप शिक्षा व्यवस्था का विकास करना चाहिए। यह व्यक्ति और समाज दोनों की पूर्णता के लिए अनिवार्य है। यहाँ पर श्री अरविन्द ने प्राचीन यूनानी और भारतीय शिक्षा दार्शनिकों के विचारों का समर्थन किया है। प्लेटो ने कहा था, "प्रत्येक सामाजिक तत्त्व को वही करना चाहिए जिसके लिए वह सबसे अधिक उपयुक्त है, इस प्रकार उसे सामान्य सम्पत्ति में वही योगदान देना चाहिए जो वह सर्वोत्तम रूप से दे सकता है, और प्रत्येक अन्य तत्त्व से उसे वही ग्रहण करना चाहिए जिसकी उसे सबसे अधिक आवश्यकता है।"[8] इससे शिक्षा का यह दूसरा सिद्धान्त निकलता है, "विकास में मानस की सलाह ली जानी चाहिए।"[9] यह व्यक्ति की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त है जिस पर पश्चिम में रूसो ने इतना अधिक जोर दिया था। प्रकृतिवादी रूसो ने कहा था, "हमें प्रकृति का आदेश मानना चाहिए। हम यह देखेंगे कि उसको वहन करना आसान है और जब हम उसकी आवाज को सुनते हैं तो हम शुभ अन्तरात्मा के प्रति उत्तर में आनन्द प्राप्त करते हैं।"[10] इस प्रकार रूसो ने शिक्षा में स्वतन्त्रता पर इतना जोर दिया मानो कि स्वतन्त्रता ही परम लक्ष्य है। किन्तु, वे यह भूल जाते हैं कि स्वतन्त्रता स्वयं किसी अधिक ऊँचे आदर्श का अनुगमन करती है जिसके बिना वह केवल निरंकुशता बनकर रह जाती है। सच्ची स्वतन्त्रता आत्मसाक्षात्कार की स्वतन्त्रता है और यहाँ पर व्यक्तिगत और सामाजिक आदर्श में कोई संघर्ष नहीं है क्योंकि दोनों में आत्मा एक ही है। स्वतन्त्रता का यह आदर्श व्यक्ति के सामाजिक अनुकूलन पर ही नहीं रुक जाता, वह उसे लगातार विकसित करते हुए दिव्य शक्ति तक पहुँचाता है। सच्ची स्वतन्त्रता व्यक्तिगत अथवा सामाजिक नहीं है बल्कि दैवी है, क्योंकि दिव्य शक्ति ही अन्त में प्रत्येक वस्तु का मूल आधार है। रूसो ने बन्धनों का ठीक ही विरोध किया है। शिक्षा में दबाव के स्थान पर सहमति होनी चाहिए। किन्तु यह सहमति न केवल व्यक्तिगत रूप से बल्कि सार्वभौम और परात्पर रूप से विकसित होने की भी होनी चाहिए।

आत्मसाक्षात्कार के आदर्श को अनेक शिक्षा दार्शनिकों ने शिक्षा का लक्ष्य माना है। परन्तु इस आत्मा की प्रकृति को बहुधा नहीं समझा गया है। श्री अरविन्द ने शिक्षा प्रक्रिया में साक्षात्कार करने के लिए भौतिक, प्राणात्मक और मानसिक आकारों के पीछे छिपे वास्तविक आत्मा चैत्य तत्त्व को दिखलाया है। वे कहते हैं, "प्राणात्मक और शारीरिक मानसिकता के पीछे छिपे चैत्य तत्त्व से घनिष्ठ सम्पर्क और उसकी सम्भावनाओं पर बढ़ते हुए विश्वास को इस परम खोज पर अवश्य पहुँचना चाहिए कि मनुष्य आन्तरिक रूप से एक आत्मा और दिव्य शक्ति का एक चेतन रूप है और अन्दर के इस वास्तविक मानव की अभिव्यक्ति ही शिक्षा का ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण मानव-जीवन का सही लक्ष्य है यदि उसे अपने मे छिपे सत्य और गहनतम नियम का अनुसरण करना है औ

पता लगाना है[11] इस प्रकार शिक्षा का प्रमुख लक्ष्य विकासमान आत्मा को अपने में से सर्वोत्तम की अभिव्यक्ति करना और उसे पूर्ण बनाना है।

श्री अरविन्द के अनुसार, "शिक्षा का तीसरा सिद्धान्त निकट से दूर की ओर जो कुछ है उससे जो कुछ होगा उसकी ओर कार्य करना है।"[12] यह सिद्धान्त पीछे बतलाए गए दूसरे सिद्धान्त से निकलता है। शिक्षा संस्थाओं में पाठ्यक्रम, शिक्षा का माध्यम तथा परिवेश सभी कुछ शिक्षार्थी के लिए स्वाभाविक होना चाहिए। शिक्षा का आदर्श ही नहीं बल्कि रूप भी स्वदेशी होना चाहिए। एकता में विविधता सब कहीं आध्यात्मिक विकास का सिद्धान्त होता है। अस्तु, शिक्षा की राष्ट्रीय व्यवस्था राष्ट्रीय भूतकाल पर आधारित होनी चाहिए और राष्ट्रीय भाषा के माध्यम से चलनी चाहिए। किन्तु इसका अर्थ पाश्चात्य ज्ञान, पाश्चात्य विज्ञान और अंग्रेजी भाषा का तिरस्कार नहीं है। श्री अरविन्द ने स्पष्ट रूप से कहा है, "एक सच्ची राष्ट्रीय शिक्षा का लक्ष्य और सिद्धान्त आधुनिक सत्य और ज्ञान की अवहेलना नहीं बल्कि हमारे अपने विश्वास, हमारे अपने मस्तिष्क, हमारी अपनी आत्मा पर आधारित होना चाहिए।"[13] इस सिद्धान्त पर भारत के अन्य समकालीन शिक्षा दार्शनिकों, गांधी, रवीन्द्रनाथ, विवेकानन्द और राधाकृष्णन ने भी जोर दिया है। राधाकृष्णन के शब्दों में, "व्यापक देश-भक्ति में संकीर्ण भक्तियों का अतिक्रमण नहीं होता बल्कि उनका स्वीकार होता है।"[14]

शिक्षा का वाहन

प्राचीन भारतीय विचारकों ने शिक्षा के लक्ष्य को चित्त वृत्ति निरोध कहा है। इस प्रकार चित्त शिक्षा का वाहन है। शिक्षा मन के नियन्त्रण की प्रक्रिया है ताकि उसमें सच्ची आत्मा का साक्षात्कार हो सके। श्री अरविन्द ने अन्तःकरण को शिक्षा का वाहन माना है। अन्तःकरण में निम्नलिखित चार स्तर होते हैं[15]—

(1) **चित्त**—यह भूतकालीन स्मृतियों और मानसिक संस्कारों का भण्डार है। इसके निष्क्रिय और सक्रिय दो पहलू हैं। इसमें निष्क्रिय और सक्रिय दो शक्तियाँ हैं। शिक्षा की आवश्यकता सक्रिय पहलू को होती है।

(2) **मानस**—यह विभिन्न इन्द्रियों की संवेदनाओं के द्वारा वस्तुओं की प्रतिमाएँ प्राप्त करता है। यह प्रत्यक्ष रूप में भी मानसिक प्रतिमाओं को प्राप्त करता है और मानसिक संस्कार बनाता है। ये संवेदनाएँ और संस्कार विचार को सामग्री देते हैं। इस प्रकार इन्द्रियों का प्रशिक्षण और कर्मेन्द्रियों का प्रशिक्षण उपयुक्त शिक्षा और सही चिन्तन की ओर पहला कदम है।

(3) **बुद्धि**—यह चिन्तन का वाहन है। यह संवेदनाओं, प्रतिमानों और संस्कारों को व्यवस्थित करता है। इसके कार्य दो प्रकार के हैं—दाहिने हाथ के कार्य और कौशल जैसे निर्णय, कल्पना, स्मृति, निरीक्षण इत्यादि और बाएँ हाथ के कार्य और कौशल जिसमें समीक्षा, विश्लेषण, तुलना और विवेक शामिल हैं। पहले प्रकार के कौशल व्यापक, रचनात्मक और समन्वयात्मक होते हैं। मानस का यह भाग ज्ञान पर अधिकार जमाता है वह आत्मा में प्रवेश करता है वह अनिश्चित को है और अपने

नियम के अनुसार मोड़ता है। दूसरे प्रकार में तार्किक विवेक आता है जिसमें विभेदीकरण, तुलना, वर्गीकरण, साधारणीकरण, निगमन, अनुमान और निष्कर्ष आते हैं। मानस का यह भाग सुनिश्चित तथ्यों का अनुगमन करता है। वह केवल ज्ञान से सम्बन्धित है।

(4) **सामान्येत्तर शक्तियाँ**—श्री अरविन्द ने मानव में अति सामान्य शक्तियाँ स्वीकार की हैं किन्तु इनका प्रशिक्षण नहीं माना है। वे आल्डस हक्सले के इस विचार से सहमत हैं कि "एक पूर्ण शिक्षा वह है जोकि प्रत्येक मानव-प्राणी को सामाजिक संस्तरण में उसके उपयुक्त स्थान के लिए फिट करती है, किन्तु इस प्रक्रिया में उसकी वैयक्तिकता को नष्ट नहीं करती।"[16]

शिक्षा का माध्यम

राष्ट्रवादी होने के कारण श्री अरविन्द राष्ट्रभाषा को ही शिक्षा का माध्यम बनाना चाहते है। मानव-मनोविज्ञान में सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि रखने के कारण वे बालक की शिक्षा का उपयुक्त माध्यम मातृभाषा को ही मानते हैं। मातृभाषा सीखने से बालक अपने देश के साहित्य और इतिहास का परिचय प्राप्त करता है और उसे अपने चारों ओर के जीवन को समझने में सहायता मिलती है। अस्तु, मातृभाषा पर अधिकार होने के बाद ही विदेशी भाषाएँ सिखानी चाहिएँ। यहाँ पर अन्य प्रसिद्ध समकालीन भारतीय शिक्षा-दार्शनिक भी श्री अरविन्द के विचारों से सहमत हैं।

शिक्षा का पाठ्यक्रम

श्री अरविन्द के अनुसार शिक्षक को सबसे पहले बालक को उसके चारों ओर के जगत् से परिचित कराना चाहिए जिससे बालक अपने चारों ओर के जीवन, कार्य और ज्ञान मे रुचि ले सके। प्रत्येक बालक में विभिन्न मानसिक शक्तियाँ होती हैं। इन शक्तियों के उचित उपयोग के लिए शिक्षा का पाठ्यक्रम निर्धारित किया जाना चाहिए। बालक को देश के साहित्य के मनोरंजक पहलुओं से परिचित कराया जाना चाहिए। इतिहास की शिक्षा में बालक में स्वभावतया उपस्थित नायक-पूजा की प्रवृत्ति का लाभ उठाया जा सकता है। बालक की जिज्ञासा का लाभ उठाकर उसे विभिन्न विज्ञानों से परिचित कराया जा सकता है। बालक के पाठ्यक्रम को अत्यधिक विषयों से लादना उपयुक्त नहीं है। पाठ्यक्रम निर्धारित करते समय बराबर यह ध्यान रखना चाहिए कि शिक्षा की प्रक्रिया की स्वाभाविकता कभी भी नष्ट न हो सके। बालक के विभिन्न पहलुओं के लिए सर्वांग पाठ्यक्रम की व्यवस्था की जानी चाहिए। इसलिए श्री अरविन्द ने मानसिक शिक्षा के साथ-साथ शारीरिक, धार्मिक और नैतिक शिक्षा पर भी विशेष जोर दिया है।

इन्द्रियों की शिक्षा[17]

बालक की शिक्षा में सबसे पहले इन्द्रियों का प्रशिक्षण आता है, क्योंकि उन्हीं के माध्यम से बालक परिवेश का ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञानेन्द्रियाँ—आँख, नाक, कान, जीभ और त्वचा बाह्य इन्द्रियों के माध्यम से कार्य करती हैं। अस्तु, इन सबके प्रशिक्षण पर ही अनुभव की यथार्थता निर्भर है। यदि इनमें कोई शारीरिक दोष है तो उसकी तुरन्त चिकित्सा कराई जानी चाहिए। इन्द्रिय-प्रशिक्षण में यथार्थता और संवेदनशीलता का विशेष महत्त्व है। इन्द्रियों की यथार्थता और संवेदनशीलता नाड़ियों के ठीक प्रकार से कार्य करने पर निर्भर करती है। नाड़ियों के ठीक प्रकार से कार्य करने के लिए श्री अरविन्द ने नाड़ी-शुद्धि की यौगिक प्रक्रिया की सहायता लेने की सलाह दी है। नाड़ी-शुद्धि के साथ-साथ नाड़ियों को शान्त रखने की आदत भी आवश्यक है। नाड़ी-शुद्धि के बाद इन्द्रियों की सहायता से अनेक सामान्येतर शक्तियाँ भी प्राप्त की जा सकती हैं।[18]

अभ्यास से इन्द्रियों का प्रशिक्षण

इन्द्रियों के ठीक प्रकार से कार्य करने में तीन प्रकार की बाधाएँ उपस्थित होती हैं। सबसे पहली बाधा स्नायविक और संवेगात्मक है जिसको संवेगों के अनुशासन और नैतिक आदतों के विकास से दूर किया जा सकता है। दूसरी बाधा मानसिक है जिसके लिए मानसिक शक्तियों के प्रशिक्षण की आवश्यकता है। तीसरी बाधा पिछले साहचर्यो अथवा स्मृति के कारण हो सकती है। इसको चित्त-शुद्धि से दूर किया जा सकता है, जिसमें चित्त की शान्ति और नियन्त्रण आवश्यक है। श्री अरविन्द ने शिक्षा में चित्त की शुद्धि पर बड़ा जोर दिया है।[19] इन्द्रियों के भली प्रकार काम न करने का एक मुख्य कारण उनका पर्याप्त रूप से प्रयोग न करना है। अस्तु, शिक्षक को चाहिए कि वह विभिन्न प्रकार की सामग्री उपस्थित करके बालक को अपनी विभिन्न इन्द्रियों के प्रयोग करने का अवसर दे।[20] यहाँ पर श्री अरविन्द के विचार आधुनिक पाश्चात्य शिक्षाशास्त्रियों के अनुरूप हैं। इस प्रकार इन्द्रिय प्रशिक्षण के अभ्यास का विशेष महत्त्व है।

मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण

इन्द्रिय-प्रशिक्षण विभिन्न मानसिक शक्तियों के प्रशिक्षण की ठोस आधार-भूमि है। श्री अरविन्द, जहाँ पाश्चात्य शिक्षा दार्शनिकों के साथ सक्रियता से सीखने का महत्त्व दिखाते हैं वहाँ निष्क्रियता से सीखने पर भी जोर देते हैं। बालक को अपने मानस को सक्रिय करने के साथ-साथ निष्क्रिय करने का भी अभ्यास करना चाहिए। वास्तव में शिक्षा के लिए बाह्य सामग्री का इतना महत्त्व नहीं है जितना शिक्षार्थी की विशेष विषय पर अधिकार करने की इच्छा का महत्त्व है। अस्तु, विभिन्न मानसिक विषयों के अध्यापन में सबसे पहली बात बालक में रुचि उत्पन्न करना है। विभिन्न विज्ञानों को बालक की विभिन्न आन्तरिक प्रवृत्तियों की सहायता से सिखाया जा सकता है। देश-भक्ति और वीर पूजा की प्रवृत्ति से इतिहास को मनोरंजक बनाया जा सकता है जिज्ञासा की प्रवृत्ति के

उकसाकर बालक को विज्ञान सिखाया जा सकता है, उसकी बौद्धिक चेतना को उकसाकर उसको दर्शन सिखाया जा सकता है। अनुकरण और कल्पना कला को सीखने में सहायक हैं। शिक्षक को सबसे पहले बालक को ध्यान केन्द्रित करना सिखाना चाहिए।[21] ध्यान का केन्द्रीयकरण पहले शब्दों पर और फिर विचारों पर किया जाना चाहिए। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में बाहर से कोई भी दबाव उचित नहीं है। अवधान के साथ-साथ स्मृति और निर्णय की शक्तियों को भी प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। प्राकृतिक वस्तुओं, जैसे फूलों के निरीक्षण, भेद, तुलना, आदि से बालक की स्मृति को विकसित किया जा सकता है। सितारों के निरीक्षण से नक्षत्रविद्या सिखायी जा सकती है। भूमि और पत्थरों के निरीक्षण से भूगर्भशास्त्र का अध्ययन किया जा सकता है और पशुओं के निरीक्षण से जीवशास्त्र सिखाया जा सकता है। इस प्रकार बालक को अपने चारों ओर निकट परिवेश की सहायता से ही मानसिक शिक्षा दी जानी चाहिए।[22]

मानसिक शिक्षा में निर्णय-शक्ति का प्रशिक्षण अत्यन्त आवश्यक है। बालक को सही निर्णय करने के साथ-साथ अन्य व्यक्तियों के निर्णयों से अपने निर्णय की तुलना करके अपनी गलतियों को समझना भी सीखना चाहिए। इसके लिए श्री अरविन्द ने मस्तिष्क की तार्किक शक्ति के प्रशिक्षण पर जोर दिया है। यह प्रशिक्षण पुस्तकों से नहीं हो सकता। इसके लिए शिक्षार्थी को तथ्यों से अनुमान लगाना और परिणामों तथा कारणों में सम्बन्ध स्थापित करना सीखना चाहिए। उसे अपने तर्क की भूलों को समझना चाहिए और क्रमशः शुद्ध तर्क करने का अभ्यास करना चाहिए।[23]

कला, कविता और संगीत का प्रशिक्षण

श्री अरविन्द ने मानसिक प्रशिक्षण के साथ-साथ कला, कविता और संगीत के प्रशिक्षण पर जोर दिया है। काव्य संवेगों को ऊँचा उठाता है, कला संवेगों को सन्तुलित करती है, संगीत संवेगों को गहराई प्रदान करता है और उनमें परस्पर समन्वय उत्पन्न करता है। अस्तु, आत्मा की पूर्ण शिक्षा के लिए ये तीनों ही आवश्यक हैं। इनसे मनुष्य की विभिन्न क्रियाएँ शुद्ध, आत्मनियन्त्रित और समन्वित हो जाती हैं। अस्तु, मानव-जाति के विकास के लिए इनका विकास अत्यन्त आवश्यक है। कला का मूल्य बौद्धिक शक्ति के प्रशिक्षण में भी है। श्री अरविन्द के अनुसार बुद्धि में कल्पना, सृजनात्मक शक्ति तथा विश्लेषण, विवेचना और गहरे पैठने की शक्ति होनी है। पहले प्रकार के गुण कला, काव्य और संगीत तथा साहित्य से विकसित होते हैं और दूसरे प्रकार की शक्तियों के विकास के लिए विज्ञान, निरीक्षण और आलोचना की सहायता लेनी पड़ती है। श्री अरविन्द ने बालक में कल्पना के विकास पर विशेष जोर दिया है। कल्पना के विकास से बालक अपने चारों ओर की प्रकृति में सौन्दर्य की प्रशंसा करना सीखता है।

मानसिक शक्तियों के विकास के लिए सबसे पहले उनका वस्तुओं पर प्रयोग किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए फूलों, पत्तियों और पेड़-पौधों का निरीक्षण और तुलना की जा सकती है। इसी प्रकार आसमान में ग्रह-नक्षत्रों तथा पृथ्वी पर नाना प्रकार के पत्थरों पशु पक्षियों और जीव-जन्तुओं तथा वनस्पतियों का निरीक्षण किया जा सकता

है। जैसाकि पीछे बतलाया जा चुका है, इन विभिन्न प्रकार की वस्तुओं की सहायता से बालक को विभिन्न विज्ञानों का प्रशिक्षण दिया जा सकता है। वस्तुओं पर ध्यान जमाने के बाद शब्दों और विचारों पर ध्यान जमाने का अभ्यास किया जाता है। श्री अरविन्द बालक को विभिन्न शब्दों के प्रयोग के विषय में अभ्यास कराने पर विशेष जोर देते हैं। बालक के मस्तिष्क को सबसे पहले शब्द का रूप, स्वर और अर्थ समझना चाहिए, इसके बाद उसे विभिन्न शब्दों की परस्पर समानताएँ और अन्तर जानना चाहिए। इससे व्याकरण सीखने का आधार प्राप्त होगा। इसके पश्चात् वह विभिन्न प्रकार के शब्दों का प्रयोग करके वाक्य बनाना सीख सकता है, जिससे उसकी साहित्यिक योग्यता की नींव पड़ेगी। किन्तु यह समस्त प्रशिक्षण अधिक-से-अधिक स्वाभाविक रूप में होना चाहिए जिसमें स्मृति पर जोर डालने की कम और रुचि तथा जिज्ञासा का उपयोग करने की अधिक आवश्यकता पड़े।

कल्पना के अतिरिक्त श्री अरविन्द ने स्मृति और निर्णय के प्रशिक्षण पर विशेष जोर दिया है। बालक को विभिन्न प्रकार की वस्तुओं से परिचित कराकर उसे स्मृति का अभ्यास कराया जा सकता है। इसी प्रकार उसे विभिन्न रंग, स्वर और आकार की वस्तुओं में अन्तर करने का अवसर देकर उसकी निर्णय-शक्ति को अभ्यास कराया जा सकता है। श्री अरविन्द के अनुसार मानस इन्द्रिय भी है और बाहर की संवेदनाओं को इन्द्रियों के माध्यम से ग्रहण भी करता है। उसमें न केवल सामान्य प्रकार की क्रियाओं की शक्ति होती है, बल्कि ऐसी सब क्रियाओं की भी शक्ति होती है जो सामान्य से उच्च मानी जाती है।

श्री अरविन्द की शिक्षा-व्यवस्था में शिक्षार्थी के मस्तिष्क में पकी-पकाई जानकारी भरने का प्रयास नहीं किया जाता है। उनकी शिक्षा-व्यवस्था में मूल सूत्र यह है कि विद्यालय को केवल शिक्षा की सामग्री प्रस्तुत करनी है, जबकि उसको प्रयोग करने का कार्य शिक्षार्थी का है। बौद्धिक विकास का आधार जानकारी नहीं है। वह तो केवल वह सामग्री है जिसके आधार पर ज्ञान का विकास होता है। अस्तु, ज्ञान की सामग्री उपस्थित करने से अधिक शिक्षा का कार्य स्मृति, निर्णय, कल्पना, प्रत्यक्षीकरण और तर्क जैसी शक्तियों का विकास करना है। शिक्षक को चाहिए कि वह बालक में इन शक्तियों का विकास करने के लिए विविध प्रकार की सामग्री चतुरतापूर्वक उपस्थित करे तथा साथ-ही-साथ बालक में उस शक्ति को भी उकसाए जिसकी सहायता से वह ज्ञान प्राप्त कर सकता है। यह शक्ति बालक में कहीं बाहर से नहीं आती। संसार में सब-कहीं शक्ति व्यापक है, केवल उसको ग्रहण करने के आधार पर अलग-अलग हैं। प्रत्येक बालक में असीम शक्ति है, केवल उसको अभिव्यक्त करने की आवश्यकता है। बौद्धिक विकास की सम्भावनाएँ असीम हैं और वर्तमान बौद्धिक विकास को बहुत बड़ी सीमा तक बढ़ाया जा सकता है।

ब्रह्मचर्य :

प्राचीन भारतीय शिक्षा-व्यवस्था में विद्यार्थियों में शक्ति का संग्रह करने के लिए ब्रह्मचर्य को माना जाता था दूसरी ओर (भौतिकवादी विचारधारा

के अनुसार विद्यार्थी-जीवन में ब्रह्मचर्य आवश्यक नहीं है। भारतीय विचारकों ने जीवन के स्रोत को भौतिक न मानकर आध्यात्मिक माना है। समस्त मानव-शक्ति का आधार भौतिक होता है, किन्तु भौतिक शक्ति का आधार आध्यात्मिक होता है। ब्रह्मचर्य की साधना में भौतिक शक्ति को आध्यात्मिक स्तर पर ले जाया जाता है। इसमें भौतिक और आध्यात्मिक शक्तियाँ मिलती हैं। इसमें रेतस की शुद्धि से तपस, तेजस और विद्युत् तक पहुँचते हैं। विद्युत् से ओजस का निर्माण होता है जिससे समस्त मस्तिष्क अपूर्व शक्ति से भर जाता है। ब्रह्मचर्य की साधना से शिक्षार्थी में तपस, तेजस, विद्युत् और ओजस बढ़ते है जिससे शरीर और हृदय, मस्तिष्क और आत्मा प्रकाश से भर उठते हैं। सामान्य रूप से ज्ञान का अर्थ जड़, जीवन और मानस के नियमों की जानकारी समझा जाता है। अधिकतर पाश्चात्य शिक्षाशास्त्री बालक को व्यावहारिक जीवन मे कुशल बनाने को ही शिक्षा का लक्ष्य मानते हैं। अनेक विचारको के अनुसार शिक्षा का लक्ष्य अपने चारों ओर के परिवेश की जानकारी प्राप्त करना और अपनी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने की योग्यता प्राप्त करना है। जैसाकि पीछे श्री अरविन्द के दर्शन की विवेचना में बतलाया जा चुका है उनके अनुसार भौतिक जगत् के पीछे एक अत्यन्त विशाल, अति भौतिक जगत् है जिसको जाने बिना इस भौतिक जगत् को भी नहीं जाना जा सकता है, किन्तु जिसका ज्ञान बाह्य इन्द्रियों से नहीं हो सकता। वास्तव में इसी अति भौतिक सत्ता का ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है और आजकल के विद्यार्थियों को दी जाने वाली जानकारी केवल प्रपंचात्मक ज्ञान मात्र है। उस अति भौतिक ज्ञान को प्राप्त करने के लिए मानव को अन्दर-बाहर की शुद्धि करनी पड़ेगी। अशुद्ध मस्तिष्क, इन्द्रिय, हृदय और जीवन से उस ज्ञान को प्राप्त नहीं किया जा सकता। उसको प्राप्त करने के लिए सर्वांग शुद्धता की आवश्यकता है। श्री अरविन्द ने मानव-मन के विभिन्न क्षेत्रों और स्तरों की सूक्ष्म विवेचना करके यह दिखलाया है कि हम कैसे सामान्य जानकारी से ऊपर उठकर वास्तविक ज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं। उनके अनुसार, प्रत्येक बालक में उस ज्ञान को प्राप्त करने की शक्ति है, आवश्यकता केवल इस बात की है कि सर्वांग शुद्धि के द्वारा उस ज्ञान को प्राप्त करने का आधार बनाया जाए। वास्तव में अरविन्द-दर्शन के अनुसार जीवन का वास्तविक लक्ष्य अपने अहंकार से ऊपर उठकर सच्ची आत्मा को प्राप्त करना है। मानव को अपने अन्दर छिपे यथार्थ मानव की खोज करनी चाहिए, अन्यथा उसकी शिक्षा अधूरी है। इस दृष्टि से प्राचीन भारतीय दार्शनिकों के साथ-साथ श्री अरविन्द मानव में आन्तरिक, प्राणात्मक, मानसिक, चैत्य, अतिमानसिक और आध्यात्मिक पुरुष का अस्तित्व मानते हैं और इनको अभिव्यक्त करके ही वास्तविक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। मानव-जीवन का एकमात्र लक्ष्य आत्माभिव्यक्ति है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रकृति पाई जाती है। इनमें से प्रत्येक को अपनी ही प्रकृति के अनुसार विकसित होना चाहिए, क्योंकि वही उसका मानवता, समाज और अन्त में ईश्वर के प्रति कर्त्तव्य है। शिक्षा को बालक के वास्तविक मनोविज्ञान पर आधारित होना चाहिए। बालक कोई वस्तु नहीं है जिसे शिक्षक को कोई आकार देना है। प्रत्येक बालक में विकासमान आत्मा है, माता-पिता और शिक्षक का कर्त्तव्य है कि वे इस आत्मा को विकसित होने में सहायता दें

जिससे कि उसकी भौतिक, नैतिक, सौन्दर्यात्मक और व्यावहारिक सामर्थ्यों का मुक्त रूप से विकास हो सके। यही मानव-आत्मा विकास का अग्रदूत है। इसी को आगे बढ़ाना शिक्षा का कार्य है। यह कार्य अधिकाधिक उत्कृष्ट रूप मे करने के लिए शिक्षा के नए-नए प्रयोग किए जा रहे है। अहंकार नहीं बल्कि यही आत्मा सच्चा व्यक्ति है। इसी का विकास मानव और समाज का लक्ष्य है।

नैतिक शिक्षा

मनुष्य में मानसिक प्रकृति का विकास नैतिक विकास पर निर्भर है। नैतिक और संवेगात्मक प्रकृति से अलग और उसके अभाव में बौद्धिक विकास मानव-व्यक्ति के लिए हानिकारक है। वास्तव में श्री अरविन्द किसी भी प्रकार के एकांगी विकास को मनुष्य के लिए हानिकारक मानते है। इसीलिए उन्होंने मस्तिष्क के साथ-साथ हृदय की शिक्षा पर भी जोर दिया है। किसी भी उपयुक्त शिक्षा-प्रणाली में नैतिक शिक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह नैतिक शिक्षा हृदय की शिक्षा है जिसके बिना मनुष्य पूर्ण मनुष्य नहीं बन सकता, किन्तु यह नैतिक शिक्षा उपदेश अथवा पाठ्य-पुस्तकों के अध्ययन के द्वारा नहीं दी जा सकती, क्योंकि ये सब कृत्रिम और यन्त्रवत् साधन हैं। व्यक्ति की नैतिक शिक्षा मे नैतिक प्रकृति, संवेग, संस्कार अथवा आदतें और साहचर्य तथा स्वभाव का बड़ा महत्त्व है। नैतिक शिक्षा का मूल आधार सम्यक् संवेग, सम्यक् साहचर्य और मानसिक, संवेगात्मक तथा शारीरिक कार्यों में अच्छी आदतों का निर्माण है। नैतिक विकास के लिए मनुष्य के संवेग, संस्कार और स्वभाव सभी का रूपान्तर आवश्यक है। केवल वही शिक्षा मानव-व्यक्तित्व का अंग बन पाती है जिसे वह स्वाभाविक रूप में ग्रहण करता है। जिस प्रकार से मानसिक शिक्षा में बालक को स्वयं विकास के मार्ग पर बढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है उसी प्रकार नैतिक शिक्षा मे भी शिक्षक का कार्य बालक को पूर्णता के सही मार्ग पर बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करना है और इस कार्य में कोई हस्तक्षेप न करते हुए उसको सुझाव, निर्देशन और सहायता देना है। नैतिक शिक्षा का सबसे पहला सिद्धान्त यह है कि बालक को किसी प्रकार का आदेश न देकर उसे सुझाव दिए जाने चाहिए। नैतिक शिक्षा अनुशासन नहीं बल्कि आवाहन से हो सकती है। उसमें सबसे बड़ा महत्त्व शिक्षकों द्वारा ऊँचे आदर्श प्रस्तुत करने का है। शिक्षा-संस्थाओं में कठोर अनुशासन के नियमों को लागू करने से कुछ नहीं होगा। अनुशासन का ठोस आधार अपने से बड़ों के लिए सम्मान और प्रशंसा की भावना है। इसके बिना अनुशासन नहीं रखा जा सकता और इसके होने पर अनुशासन स्वाभाविक रूप से होता है। आजकल विद्यार्थियों में बढ़ती हुई अनुशासन-हीनता का सबसे बड़ा कारण यह है कि उनमें शिक्षकों और अभिभावकों, समाज के कर्ण-धारों और राजनीतिक नेताओं के प्रति प्रशंसा और सम्मान की भावना का अभाव ही नहीं बल्कि घृणा की भावना भी उपस्थित है। इसका उत्तरदायित्व विद्यार्थियों पर कम और शिक्षकों, अभिभावकों तथा नेताओं पर अधिक है। इस परिस्थिति का मूल कारण हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के सर्वविदित दोष है, जिनको दूर करने के लिए कोई भी ठोस कदम नहीं उठाए जा रहे हैं

प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली में गुरु, विद्यार्थियों के सम्मुख आदर्श था और उन्हें उसके अनुकरण से ही नैतिक शिक्षा मिल जाती थी। आधुनिक युग में उन प्राचीन परिस्थितियों को वापस तो नहीं लाया जा सकता परन्तु ऐसी शिक्षा-प्रणाली की स्थापना अवश्य की जा सकती है जिसमें शिक्षक-वर्ग वैतनिक प्रशिक्षक मात्र न होकर विद्यार्थियों का मित्र, निर्देशक और सहायक हो। नैतिक शिक्षा उपदेश से नहीं, बल्कि संकेत से भी दी जा सकती है। इस संकेत का सबसे अच्छा उपाय व्यक्तिगत उदाहरण, रोज़ाना की बातचीत और स्वाध्याय है। स्वाध्याय से बालकों के सामने महापुरुषों के आदर्श उपस्थित होते हैं। वे इनका अध्ययन पाठ के रूप में नहीं करते, बल्कि इनमें मानव-सुलभ रुचि लेते हैं। बड़े विद्यार्थियों के सामने ऐसा साहित्य उपस्थित किया जाना चाहिए जिससे उनमें उच्च संवेगों को प्रोत्साहन मिले और वे ऊँचे आदर्शों की ओर बढ़ें। इसके लिए इतिहास और जीवनियों का अध्ययन विशेष महत्त्वपूर्ण है। किन्तु केवल ज्ञान मात्र से मनुष्य नैतिक नहीं होता। बालक के नैतिक विकास के लिए उसको अपने निर्णयों पर अमल करने का पर्याप्त अवसर दिया जाना चाहिए जिससे वह सही और गलत की परख कर सके और स्वतन्त्र रूप से नैतिक विकास कर सके। यदि कोई बालक अनैतिक है, उस पर बुरे संस्कार पड़े हुए हैं तो किशोरापराधी मानकर उसके साथ कठोर व्यवहार नहीं किया जाना चाहिए, बल्कि उसे संयम की राज-यौगिक प्रणाली के द्वारा इन संस्कारों को दूर करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। शिक्षक और विद्यार्थी—दोनों को अवगुणों को पाप अथवा अपराध के रूप में नहीं, बल्कि रोग के रूप में लेना चाहिए, जिसको नियमित संकल्प और अभ्यास से दूर किया जा सकता है। विद्यार्थियों में बढ़ती हुई अनुशासनहीनता शिक्षक के लिए कोई भी चिन्ता का कारण नहीं होनी चाहिए। विभिन्न प्रकार के असभ्य और हिंसात्मक व्यवहार तो विद्यार्थी में अतिरिक्त शक्ति और भावुकता के उफान के समान हैं।[24] इनके निरोध की नहीं बल्कि शोधीकरण की आवश्यकता है।

धार्मिक शिक्षा

नैतिक शिक्षा के साथ-साथ धार्मिक शिक्षा भी आवश्यक है। यह धार्मिक शिक्षा सीखने का विषय नहीं, बल्कि जीवन में उतारने का विषय है। जब तक उसे जीवन में न उतारा जाए और विभिन्न प्रकार की साधना, आत्मनियन्त्रण और अभ्यास के द्वारा धार्मिक जीवन व्यतीत करने की प्रवृत्ति न बढ़े, तब तक कोरे मौखिक धार्मिक शिक्षण का कोई लाभ नहीं है। धार्मिक शिक्षा में उपासना, प्रार्थना, विभिन्न प्रकार के धार्मिक उत्सव आदि से भी आध्यात्मिक विकास में सहायता मिलती है, भले ही ये स्वयंसाध्य न हों। विद्यार्थी को धार्मिक कर्त्तव्यों, भक्ति और मनन की शिक्षा दी जानी चाहिए। प्रत्येक विद्यालय में बालकों के सामने ईश्वर, मानवता, देश और दूसरों के लिए जीवन यापन करने का उद्देश्य उपस्थित किया जाना चाहिए जोकि समस्त धर्मों का सार है।[25] धार्मिक शिक्षा के लिए यह आवश्यक नहीं है कि बालक को सभी धर्मों की पुस्तकें पढ़ाई जाएँ, जैसाकि कुछ विचारकों ने सुझाव दिया है और न यह धार्मिक सहिष्णुता के लिए ही है श्री अरविन्द अनेकता में एकता के सिद्धान्त को मानते हैं उनके आवश

समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने धर्म का पालन करते हुए भी दूसरे से समन्वित सम्बन्ध बनाए रख सकता है क्योंकि सभी धर्मों के मूल उद्देश्य एक ही हैं। अस्तु, धार्मिक शिक्षा के लिए विभिन्न धर्मों का अध्ययन इतना आवश्यक नहीं है जितना आवश्यक धार्मिक उद्देश्यों पर अमल करना है। श्री अरविन्द किसी भी ऐसी धार्मिक साधना के विरुद्ध हैं जो सभी के लिए अनिवार्य बना दी जाए। मूल बात यह है कि शिक्षा की राष्ट्रीय व्यवस्था में धार्मिक शिक्षा को स्थान दिया जाए और इस सम्बन्ध में धर्म के मूल तत्वों को लेकर पाठ्यक्रमों की व्यवस्था की जाए।

शारीरिक शिक्षा

मानसिक, नैतिक और धार्मिक शिक्षा के साथ-साथ शारीरिक शिक्षा भी आवश्यक है क्योंकि इसके अभाव में कोई भी शिक्षा अधूरी है। शिक्षा का लक्ष्य मनुष्य का पूर्ण विकास है। तब फिर शारीरिक विकास की अवहेलना कैसे की जा सकती है? शरीर समस्त कर्म का माध्यम है, शारीरिक प्रशिक्षण से शरीर की पूर्णता, स्वास्थ्य और शक्ति प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। विभिन्न प्रकार के खेलों और व्यायामों के द्वारा ऐसी आदतों, शक्तियों और गुणों का निर्माण किया जा सकता है जो मनुष्य के व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन में सफलता के लिए आवश्यक होती हैं। इस प्रकार शारीरिक शिक्षा अनुशासन, नीतिमत्ता और चरित्र जैसे आवश्यक गुणों के लिए ठोस आधार प्रदान करती है। विभिन्न प्रकार के गुणों के विकास के लिए विभिन्न प्रकार के खेलों की सहायता ली जा सकती है। श्री अरविन्द आश्रम में शारीरिक शिक्षा के लिए भारतीय और पाश्चात्य दोनों प्रकार के व्यायामों और खेलों को अपनाया गया है। शारीरिक शिक्षा में ब्रह्मचर्य भी आवश्यक है क्योंकि मानसिक नियन्त्रण के लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य है। वास्तव में श्री अरविन्द की शारीरिक शिक्षा का लक्ष्य शरीर का दैवी रूपान्तर है, केवल उसकी भौतिक शक्ति अथवा कुशलता मात्र नहीं है। इसीलिए उन्होंने ब्रह्मचर्य पर इतना अधिक जोर दिया है। श्री अरविन्द के शिक्षा दर्शन में यह बात ध्यान में रखनी आवश्यक है कि किसी भी प्रकार की शिक्षा सर्वांग शिक्षा के एक समीचीन अंग के रूप में ही काम करती है। सभी प्रकार की शिक्षा का एकमात्र लक्ष्य मानव का सर्वांग विकास है। अस्तु, शारीरिक शिक्षा केवल शरीर की शिक्षा मात्र न होकर मानव के सर्वांग विकास में शारीरिक विकास को आगे बढ़ाने की शिक्षा है। यही बात धार्मिक, नैतिक और मानसिक शिक्षा के बारे में भी कही जा सकती है। शिक्षित व्यक्ति की बाह्य प्रकृति का रूपान्तर हो जाता है जिससे वह अशिक्षित व्यक्ति से भिन्न दिखाई पड़ने लगता है। उसकी सभी प्रकार की सामर्थ्यों में परस्पर समन्वय होता है। उसका प्रत्येक कार्य आन्तरिक प्रकाश से परिचालित होता है। उसकी प्रत्येक गतिविधि में उसके आन्तरिक विकास का प्रभाव दिखलाई पड़ता है। श्री अरविन्द शिक्षा के द्वारा मनुष्य को जीवन-संघर्ष में कुशलता मात्र देना नहीं चाहते। उनकी दिव्य दृष्टि और अधिक आगे जाती है। उन्होंने एक ऐसे समाज का स्वप्न देखा है जिसमें सभी मनुष्य परस्पर पूर्ण समन्वित और जीवन बिताते हैं उनके अनुसार मानव

का भविष्य आध्यात्मिक युग में पदार्पण है। मनुष्य के विकास का पिछला समस्त इतिहास इस निष्कर्ष की ओर संकेत करता है। श्री अरविन्द के अनुसार क्रमशः विकास से मानसिक चेतना दिव्य चेतना में परिवर्तित हो जाएगी जिसका नियम विविधता मे एकता है। श्री अरविन्द का आदर्श दिव्य पुरुष है। यह अति मानसिक पुरुष है जिसमे शरीर, जीवन और मानस की पूर्णता है। उसका बाह्य व्यक्तित्व आन्तरिक व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करता है। उसे नैतिकता सीखनी नहीं होती क्योंकि वह स्वभावतया नैतिक होता है। ऐसे समाज में व्यक्ति-व्यक्ति में भेद होते हुए भी संघर्ष नहीं होंगे। विभिन्न मानव-समूहों में विभिन्नता होते हुए भी वे एक-दूसरे के पूरक होंगे। इस प्रकार का आदर्श समाज कभी बन सकेगा या नहीं, यह एक विवादास्पद विषय है, किन्तु यदि शिक्षा के लक्ष्य को तुरन्त ही पूरी तरह से प्राप्त न किया जा सके तो इससे उसको अव्यावहारिक नहीं कहा जा सकता। फिर, श्री अरविन्द के शिक्षा-दर्शन के पीछे तो विकासवाद का तर्क भी उपस्थित है, भले ही वर्तमान परिस्थितियों में यह बात समझ में न आती हो कि मानव इतनी ऊँचाई तक कैसे जा सकेगा और जा सकेगा या नहीं।

शिक्षा में संकलन

श्री अरविन्द टुकड़ों में बाँटकर शिक्षा देने के विरुद्ध हैं। शिक्षा समन्वित होनी चाहिए। विद्यार्थी के मस्तिष्क पर कभी भी इतने अधिक विषयों का बोझ नहीं डाला जाना चाहिए कि वह किसी का भी अध्ययन भली प्रकार न कर सके। 5-6 विषय पढ़ाने की अपेक्षा 2-3 विषयों पर अधिकार कराने का प्रयास अधिक उत्तम है। बालक की शिक्षा 7 या 8 वर्ष में प्रारम्भ की जा सकती है, क्योंकि इस आयु में वह पर्याप्त समय तक किसी विषय पर ध्यान केन्द्रित कर सकता है। इससे कम आयु में बालक के लिए किसी विषय पर अधिक समय तक ध्यान जमाना सम्भव नहीं है। इससे पूर्व उसे उसके चारों ओर के परिवेश से परिचित कराया जा सकता है। भारतवर्ष में अनेक विद्यालयों में अनेक विषयों को थोड़ा-थोड़ा पढ़ाया जाता है, जिसका परिणाम यह होता है कि बालक किसी भी विशेष क्षेत्र में विशेष ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाता। श्री अरविन्द इस प्रकार की शिक्षा-प्रणाली के विरुद्ध हैं। इसकी तुलना में वे उस प्राचीन भारतीय शिक्षा-प्रणाली को अधिक अच्छा समझते हैं जिसमें बालक को एक या दो विषय पूरी तरह पढ़ाए जाते थे और जब वह उस पर अधिकार प्राप्त कर लेता था तब उसको अन्य प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। इससे ज्ञान में इतनी अधिक विविधता तो नहीं होती थी जैसी कि आजकल होती है, किन्तु इससे अधिक गहरे और यथार्थ सांस्कृतिक विकास का आधार निर्माण होता था। आधुनिक शिक्षा का दुष्परिणाम पढ़े-लिखे अधकचरे ज्ञान प्राप्त लोगों के व्यवहार में देखा जा सकता है। विश्वविद्यालय से शिक्षा प्राप्त करके निकला हुआ विद्यार्थी उचित-अनुचित, सही-गलत में अन्तर नहीं कर सकता। उसकी मानसिक शक्तियों का पर्याप्त रूप से प्रशिक्षण नहीं होता न तो उसके संवेग ही सन्तुलित होते हैं और न उसके चरित्र का ही निर्माण होता है शारीरिक विकास का तो मानो दीवाला

ही पिट चुका होता है। आदर्श शिक्षा योजना के निर्माण के लिए पश्चिम के अन्धानुकरण से काम नहीं चलेगा और न प्राचीन भारतीय परम्परा को ज्यों का त्यों लागू करने की हठधर्मी ही उपयुक्त है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "भावी शिक्षा में हमें अपने को प्राचीन अथवा आधुनिक प्रणाली से बांधने की आवश्यकता नहीं है, बल्कि केवल ज्ञान प्राप्त करने की सबसे अधिक पूर्ण और तीव्र गति वाले साधन का चुनाव करना है।"[26] श्री अरविन्द के विचारों के विरुद्ध कुछ लोगों का यह कहना है कि बालक को एक ही प्रकार की शिक्षा देने से उसके ऊब जाने का और थक जाने का भय है। विषयान्तर करने से मस्तिष्क को आराम मिलता है।

शिक्षा में स्वाभाविकता

यहाँ पर प्रश्न उठता है कि यदि 1-2 विषयों को काफी समय तक पढ़ना मानव-प्रकृति के विरुद्ध होता तो प्राचीन काल में यह प्रणाली कैसे सफल हो सकती थी। जहाँ तक ध्यान लगाने का प्रश्न है, केवल छोटे बच्चे ही अधिक समय तक किसी बात पर ध्यान नहीं लगा सकते। यहाँ पर श्री अरविन्द अत्यन्त छोटी आयु से शिक्षा प्रारम्भ करने के विरुद्ध हैं। उन्होंने शिक्षा प्रारम्भ करने की आयु 7 या 8 वर्ष मानी है, जबकि बालक अपनी रुचि के विषय पर काफी देर ध्यान लगा सकता है। होता यह है कि हम बालक को अत्यन्त रूखे ढंग से पाठ पढ़ाने का प्रयास करते हैं और जब वह ध्यान नहीं देता तो उसके अनवधान की शिकायत करते हैं। यदि इसके स्थान पर एक ऐसी शिक्षा-प्रणाली चलाई जाए जिसमें बालक अपनी रुचि के विषय में स्वयं शिक्षा प्राप्त करे तो यह कठिनाई नहीं होगी, क्योंकि यह मानव-स्वभाव है कि मनुष्य अपनी रुचि के विषय को पूरा किए बगैर नहीं छोड़ता। अस्तु, शिक्षक का कार्य यह है कि वह बालक को प्रत्येक विषय में रुचि दिलाते हुए एक-एक कदम करके आगे बढ़ाए चले। इसके पश्चात् प्रशिक्षण के माध्यम को पुष्ट किया जाना चाहिए। इसके पूर्व अध्ययन के विषय को पढ़ाते जाना बुद्धिमानी नहीं है। एक भाषा पर अधिकार कर लेने के बाद बालक को अनेक भाषाएँ सिखाई जा सकती हैं। एकसाथ ही अनेक भाषाएँ सिखाने का प्रयास उपयुक्त नहीं है। भाषा के अभ्यास के बाद ही अन्य विषयों का अध्ययन किया जा सकता है। भाषाओं में मातृभाषा पर अधिकार करना सबसे अधिक सुगम है। प्रत्येक बालक को सबसे पहले उसकी मातृभाषा का अभ्यास कराया जाना चाहिए। इसके बाद उसे देश के साहित्य और इतिहास से परिचित करा देना चाहिए। साहित्य में भी उसे सबसे पहले अधिक मनोरंजक स्थलों का परिचय कराया जाना चाहिए। शिक्षा के साथ-साथ बालक की मानसिक शक्तियों और नैतिक चरित्र के विकास का भी विशेष महत्त्व है। बालक के मनोविज्ञान के आधार पर इतिहास, विज्ञान, दर्शन और कला के अध्ययन की नींव रखी जानी चाहिए। विभिन्न विषयों का अध्ययन कराने में बालक की विभिन्न स्वाभाविक प्रवृत्तियों का लाभ उठाया जाना चाहिए।

श्री अरविन्द के दर्शन में सब-कहीं मानव पर प्रकृति के कार्य को अत्यधिक महत्त्व [दि]या गया है। जहाँ पाश्चात्य दार्शनिकों के साथ श्री अरविन्द ने शिक्षा में सक्रियता

का महत्त्व माना है, वहाँ कभी-कभी निष्क्रियता को भी आवश्यक माना है। निष्क्रियता की स्थिति में प्रकृति स्वयं बालक पर कार्य करती है। दूसरे शब्दों में, बालक को स्वाभाविक रूप से विकसित होने का अवसर दिया जाना चाहिए, उसमें कृत्रिम बाधाएँ उत्पन्न करना अनुचित है। पाश्चात्य शिक्षा-दर्शन के इतिहास में आधुनिक काल में रूसो ने शिक्षा को कृत्रिम बनाए जाने का विरोध किया और प्रकृति की ओर लौट चलने की राय दी। समकालीन भारतीय दर्शन में लगभग सभी शिक्षा-दार्शनिक इस मूल तथ्य को मानते हैं और अधिक-से-अधिक स्वाभाविक वातावरण में बालक की शिक्षा का समर्थन करते हैं। स्वाभाविक विकास के लिए बालक को उसके चारों ओर के परिवेश से परिचित कराया जाना चाहिए। इससे वह स्वयं ज्ञानार्जन करने में जुट जाएगा। शिक्षा के कार्य में जल्दबाजी करना उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से शिक्षा अधकचरी रह जाती है। यदि बालक के पूरी तरह से परिपक्व होने के बाद ही उसकी शिक्षा प्रारम्भ की जाए और कोई भी विषय तभी पढ़ाया जाए, जबकि उसको समझने की परिपक्वता बालक में हो, तो बहुत-सा अपव्यय रोका जा सकता है। उपयुक्त आयु में और पर्याप्त परिपक्वता आने पर किसी विषय का अध्ययन प्रारम्भ करने से समय और शक्ति की बचत होती है।

श्री अरविन्द के शिक्षा-दर्शन के विभिन्न पहलुओं के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि उनका शिक्षा-दर्शन सर्वांग के आदर्श के बहुत निकट है। श्री अरविन्द का दर्शन उनके विकासवाद के आदर्श सिद्धान्त पर टिका हुआ है। मनुष्य की प्रत्येक क्रिया का लक्ष्य उसका विकास है और शिक्षा का लक्ष्य मनुष्य का सर्वांगीण विकास है। यह लक्ष्य केवल विद्यालयों में शिक्षा से प्राप्त नहीं किया जा सकता। श्री अरविन्द के अनुसार शैक्षिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए योग आवश्यक है। योग मानव-विकास का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और सर्वाधिक शक्तिशाली साधन है। उसके बिना पूर्ण विकास असम्भव है। यम, नियम, आसन और प्राणायाम विद्यार्थियों को ध्यान केन्द्रित करने में सहायता दे सकते हैं। केवल शारीरिक और मानसिक प्रशिक्षण ही शिक्षा का लक्ष्य नहीं है। उसका लक्ष्य व्यक्ति और समाज को सर्वांग पूर्णता की ओर ले जाना है। इस प्रक्रिया में जब ऐसी स्थिति आ जाती है कि विद्यालय की शिक्षा पर्याप्त नहीं होती तो वहाँ पर योग की सहायता ली जानी चाहिए। योग और शिक्षा-प्रणाली के सम्बन्ध के विषय में विभिन्न शिक्षा-दार्शनिकों को श्री अरविन्द के विचार न भी पसन्द आएँ तो भी उनके शिक्षा-दर्शन की पीछे दी गई संक्षिप्त रूपरेखा से यह अवश्य स्पष्ट होता है कि उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य, प्राचीन और आधुनिक शिक्षा-दार्शनिकों के विचारों में उपस्थित महत्त्वपूर्ण सत्यों का अनुपम समन्वय उपस्थित किया है। उनके शैक्षिक आदर्श ठोस मनोवैज्ञानिक आधार पर स्थापित हैं। उनकी शिक्षा-प्रणाली में मनुष्य के प्रत्येक पहलू, शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, नैतिक और धार्मिक सभी के विकास का प्रयास किया गया है। वे व्यक्ति की पूर्णता को उसके सामाजिक पहलू के विकास के बिना असम्भव मानते हैं; इसलिए उनकी शिक्षा-प्रणाली में सर्वांग व्यक्तित्व में व्यक्तिगत शक्तियों, सामर्थ्यों और गुणों के विकास के साथ साथ सामाजिक गुणों के विकास पर भी जोर दिया गया है

आज भारत में शिक्षा के क्षेत्र में विचारकों और शिक्षकों के सामने जब अनेक समस्याएँ भयंकर रूप में उपस्थित हैं तो इन समस्याओं के मूल कारणों को खोजने में श्री अरविन्द के शिक्षा-दर्शन से सहायता ली जा सकती है, क्योंकि अन्य क्षेत्रों के समान शिक्षा के क्षेत्र में भी उन्होंने व्यापकता और गहराई दोनों ही दृष्टियों से सत्यों की खोज की है। इसीलिए उनका शिक्षा-दर्शन केवल समकालीन भारतीय शिक्षा-दर्शन में ही नहीं अपितु विश्व के शिक्षा-दर्शन में भी विशिष्ट स्थान रखता है। उसके आधार पर राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली की नींव रखी जा सकती है।

शिक्षा और योग

श्री अरविन्द के शिक्षा-दर्शन में योग के बिना शिक्षा अधूरी है। दूसरे शब्दों में योग शिक्षा की चरम परिणति है। प्राचीन भारत में योग शिक्षा का अनिवार्य अंग था। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार का अभ्यास सभी शिक्षार्थी करते थे। निदिध्यासन पर जोर दिया जाता था। शिक्षा और योग दोनों का ही लक्ष्य मानव-विकास है। जहाँ शिक्षा के अन्य साधनों की विकास की सामर्थ्य समाप्त हो जाती है उसके आगे विकास को योग बढ़ाता है। वही व्यक्ति और समाज का सर्वांग विकास कर सकता है। विकास में योग का यह योगदान तेरहवें अध्याय का विषय है।

11
नैतिकता

"अस्तु मनुष्य को सबसे पहले नैतिक, सुकृति बनना है और तब केवल नैतिक जीवन के नियम से ऊपर उठकर आध्यात्मिक प्रकृति के प्रकाश, विशालता और शक्ति की ऊँचाइयों की ओर उठना है, जहाँ कि वह द्वैत और भ्रान्ति, द्वन्द्व-मोह के परे पहुँच जाता है।"[1]
—श्री अरविन्द

अधिकतर पाश्चात्य समाज-दार्शनिकों के अनुसार, सामाजिक विकास की कसौटी व्यक्ति और समाज का नैतिक विकास है। इस प्रकार नैतिकता को सामाजिक विकास की सबसे अधिक शक्तिशाली प्रणाली माना गया है। इस दृष्टिकोण की परीक्षा करने के लिए दो बातों की जाँच करनी पड़ेगी। सबसे पहले, नैतिकता का मानदण्ड क्या है जोकि सबसे अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण हो और इसीलिए सबसे अधिक व्यापक और सर्वग्राही हो? स्पष्ट है कि इस प्रकार के नैतिक मानदण्ड के सिद्धान्त में अन्य सभी सिद्धान्तों का सकलन होगा, उनकी सीमाएँ दिखलाई जाएँगी और उनको मिलाकर एक अधिक पूर्ण सिद्धान्त बनाया जाएगा। दूसरे, क्या नैतिक प्रगति से मनुष्य और समाज के सर्वांग विकास का साक्षात्कार होता है। क्योंकि यह सामाजिक विकास का लक्ष्य है इसलिए समाज-दार्शनिक नैतिकता के लक्ष्य की प्रकृति का पता लगाएगा, उसके परम मानदण्ड और उसके मूल्य की जाँच करेगा। परन्तु वह इसके साथ ही सामाजिक विकास के आदर्श को प्राप्त करने में उसका मूल्य पता लगाएगा, उसकी सीमाओं का निरीक्षण करेगा और यदि सम्भव हुआ तो उस पर विकास करने के लिए अन्य प्रणालियाँ सुझाएगा। श्री अरविन्द ने विभिन्न नैतिक मानदण्डों की समीक्षा की है, एक ऐसा मानदण्ड प्रस्तुत किया है जोकि एकसाथ ही उनका संकलन और अतिक्रमण करता है, सामाजिक विकास की प्रगति में उसके मूल्य की विवेचना की है, उसकी सीमाएँ दिखलाई हैं और अन्त में यह दिखलाया है कि किस प्रकार धर्म और योग नैतिक प्रणाली से आगे ले जाते हैं।

मूल भ्रान्ति

नैतिकता के विभिन्न सिद्धान्तों म वही मूल भ्रान्ति है जो मनोविज्ञान तत्त्व विद्या और धर्म के सिद्धान्तों में है इन सभी में अमूर्त्तकरण और एकांगिता का दोष है। नीति

मनोविज्ञान और तत्त्व-विद्या के सिद्धान्त साधारणतया मानव सत के किसी एक पहलू, व्यष्टि के सत्य अथवा समाज के सत्य पर आधारित किए गए हैं। परन्तु जैसाकि श्री अरविन्द ने दिखलाया है, "नैतिक सत इन सभी सूत्रों से परे है; वह स्वयं के लिए एक नियम है और अपने सिद्धान्त को स्वयं अपनी शाश्वत प्रकृति में प्राप्त करता है जोकि मूल रूप से विकासमान मस्तिष्क की वृद्धि नहीं है यद्यपि वह उसके पार्थिव इतिहास में यही प्रतीत होती है बल्कि आदर्श से एक प्रकाश, मानव में दिव्य तत्त्व की परछाई है।"[2] नैतिकता, धर्म, विज्ञान, आध्यात्मशास्त्र सब-कहीं मानव का लक्ष्य मनुष्य का सर्वांग विकास है और यह सर्वांग विकास समाज से अलग रहकर नहीं बल्कि उसी में और उसी के द्वारा होता है। यही मनुष्यों के सभी प्रयासों का लक्ष्य है।

गतिशील दृष्टिकोण की आवश्यकता

अनेक विचारक कुछ विशेष सिद्धान्तों को नैतिक सिद्धान्त मानकर इन सिद्धान्तो का पालन ही मनुष्य का सर्वोच्च नैतिक कर्त्तव्य मानते हैं। इनके अनुसार नैतिक नियम ही सर्वोच्च नियम है और प्रत्येक मनुष्य को प्रत्येक परिस्थिति में इस नियम का पालन करना चाहिए। मनुष्य पर नैतिक नियम को लागू करते समय ये विचारक यह नहीं सोचते कि मानव एक गतिशील प्राणी है जिसके व्यावहारिक जीवन के नियम उसके विकास के स्तर के साथ-साथ बदलते जाने चाहिए। नियम मानव-विकास का साधन है। नैतिकता हमारे लक्ष्यों को प्राप्त करने का एक साधन है। बुद्धि से निम्न स्तरों से उठकर और बौद्धिक स्तर पर आते हुए मनुष्य की प्रेरणा सौन्दर्य-बोध और धर्म के क्षेत्र के समान नीति के क्षेत्र में भी शाश्वत सत्ता की खोज रही है।[3] इस लक्ष्य की खोज में सम्पूर्ण व्यक्ति आगे बढ़ता है। सम्पूर्ण व्यक्ति के विकास में स्वार्थ और परार्थ, सैद्धान्तिक और व्यावहारिक, इहलोक और परलोक, नैतिक और अनैतिक मे सापेक्ष अन्तर है, पूर्ण अन्तर कहीं नहीं है। हमारे प्रयासों का एकमात्र लक्ष्य एक विकासमान प्राणी के रूप में मनुष्य के सभी पहलुओं को पूर्ण सन्तोष प्रदान करना है।

परम लक्ष्य

श्री अरविन्द के नीति-दर्शन में मनुष्य का परम लक्ष्य ईश्वर-साक्षात्कार है। यही नैतिक शुभ और नैतिक उचित की कसौटी है। इसी से प्रत्येक कार्य को मूल्य प्राप्त होता है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "प्रत्येक वस्तु स्वयं अपने में से नए मूल्य नहीं लेती, बल्कि उस चेतना से लेती है जोकि उसे प्रयोग करती है, क्योंकि केवल एक ही वस्तु मूलभूत, आवश्यक और अनिवार्य है और यह है दैवी सद्वस्तु की चेतना में वृद्धि और उसमें रहना तथा सदैव उसी में अवस्थित रहना।"[4] नैतिकता का यह सिद्धान्त भारत के इतिहास मे कोई नया नहीं है। प्राचीन भारतीय ऋषियों से लेकर आधुनिक भारतीय दार्शनिकों गाधी, रवीन्द्र और विवेकानन्द आदि सभी ने इसी नैतिक सिद्धान्त का समर्थन किया है। ऐसा ही नीतिशास्त्र गीता में उपस्थित किया गया है। गीता में आदर्श व्यक्ति स्थितप्रज्ञ है जोकि सोते-जागते, उठते-बैठते और कर्म करते हुए सब-कहीं और सब समय दैवी प्रज्ञा मे

स्थित रहता है। यहाँ पर दैवी प्रज्ञा अथवा ईश्वर में स्थिति को आत्मसाक्षात्कार के सिद्धान्त से भी समझाया जा सकता है क्योंकि ईश्वर ही मानव में स्थित आत्मा है। इस प्रकार श्री अरविन्द आत्मसाक्षात्कार का नैतिक सिद्धान्त उपस्थित करते हैं। उनके अनुसार मनुष्य का नैतिक लक्ष्य ईश्वर-साक्षात्कार अर्थात् आत्म साक्षात्कार है। उनके अपने शब्दों में, "ईश्वर की खोज भी, आत्मनिष्ठ रूप से हमारी सर्वोच्च, सबसे अधिक सत्य, पूर्णतम और विशालतम आत्मा की खोज है।"[5] श्री अरविन्द के दर्शन में, जैसाकि इस पुस्तक के द्वितीय अध्याय में बतलाया गया है, मानव, जगत और ईश्वर एक ही सद्वस्तु के तीन पहलू हैं। इस सद्वस्तु का साक्षात्कार ही जीव और प्रकृति का परम लक्ष्य है। अस्तु, "जो कुछ व्यक्ति और जगत् को उसकी दैवी पूर्णता में सहायता करता है वह सब शुभ है और अशुभ वह सब है जोकि उस बढ़ती हुई पूर्णता को पीछे हटाता या तोडता है।"[6] शुभ और अशुभ की ये धारणाएँ गतिशील हैं क्योंकि उनका लक्ष्य स्वय गतिशील है। अस्तु, आचार के कोई भी नियम निरपेक्ष रूप से कठोरतापूर्वक निश्चित नहीं किए जा सकते। यह सिद्धान्त शाश्वत है कि मनुष्य को नैतिक आदर्शों का पालन करना चाहिए। किन्तु यह नैतिक आदर्श किस प्रकार के आचार में अभिव्यक्त होता है, उसके नियम क्या हैं, यह देश-काल के अनुसार निर्धारित होगा। इस प्रकार ईश्वर-साक्षात्कार ही सबसे बड़ा साध्य है। विज्ञान, संस्कृति, शिक्षा, नीति, धर्म और दर्शन सभी इसी लक्ष्य को लेकर आगे बढ़ते हैं।

नैतिकता : ईश्वर-साक्षात्कार का साधन

गीता के समान श्री अरविन्द कर्त्तव्य को कर्त्तव्य के लिए नहीं, बल्कि कर्त्तव्य को ईश्वर के लिए या आत्मसाक्षात्कार के लिए मानते हैं। गीता पर अपनी प्रसिद्ध पुस्तक, 'एसेज ऑन गीता' मे श्री अरविन्द ने गीता की शंकर, रामानुज, तिलक आदि से भिन्न व्याख्या उपस्थित की है। उनके अपने शब्दों में, "गीता कर्त्तव्य को निष्काम रूप से करना नहीं सिखाती बल्कि दैवी जीवन का पालन करना सिखाती है, समस्त धर्मों, सर्वधर्मान को छोड़कर परम मात्र में शरण लेना और एक बुद्ध, एक रामकृष्ण, एक विवेकानन्द का दैवी कार्य इस दिशा के पूर्णतया अनुरूप है।"[7] इस प्रकार गीता का उपदेश दैवी जीवन में कर्म का उपदेश है। तिलक के समान श्री अरविन्द ने जीवन में कर्म को विशेष महत्त्वपूर्ण माना है किन्तु वे उसे स्वयं साध्य नहीं मानते। उनके अनुसार आदर्श व्यक्ति न तो अपने लिए और न समाज के लिए ही कर्त्तव्य करता है। न वह कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य करता है बल्कि ईश्वर के लिए, उसके यन्त्र के समान कर्त्तव्य करता है। कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य तभी तक सर्वोच्च सिद्धान्त है जब तक कि मानव मानसिक स्तर से आगे नहीं बढ़ता। इस स्तर से आगे बढ़ने पर उसके लिए कोई नियम नही रहता, चाहे वह कर्त्तव्य का ही नियम क्यों न हो। अब उसके कार्य उसकी आत्मा की स्वाभाविक अभिव्यक्ति के रूप मे होते हैं।

मूल्यों का रूपान्तरण

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि श्री अरविन्द मानव नहीं बल्कि अतिमानव को मनुष्य का लक्ष्य मानते हैं। नीत्शे के समान उन्होंने मूल्यों के पुनर्मूल्यीकरण पर जोर दिया है किन्तु उनका अतिमानव नीत्शे के अतिमानव के समान आसुरी गुणसम्पन्न नहीं है। उनका अतिमानव नैतिकता से परे अवश्य है किन्तु वह नैतिकता के पक्ष में है। मानव के आध्यात्मिक विकास में चेतना के आगे बढ़ने के साथ नए तत्वों, नवीन प्रकार की क्रियाओं और नए मूल्यों का जन्म होता है। जैसे-जैसे हमारी चेतना और जीवन का विस्तार होता जाता है वैसे-वैसे हमारी सत्ता के निम्न तत्वों का रूपान्तर होता है और इस रूपान्तर के साथ मूल्यों का रूपान्तर आवश्यक है।[8]

आत्मत्याग

इस रूपान्तर के लिए, आत्मसाक्षात्कार के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए आत्मत्याग एक आवश्यक शर्त है। जब तक मनुष्य भौतिक और प्राणात्मक आवश्यकताओं, प्रवृत्तियों और इच्छाओं से तादात्म्य करता है तब तक वह पशु से अधिक कुछ नहीं है। नैतिक प्रगति के लिए इस निम्न स्तर से ऊपर उठना आवश्यक है। इसके लिए आत्मा की अवधारणा को विस्तृत और गहरा बनाना होता है। यह तभी सम्भव है जबकि सतत आत्मत्याग किया जाए। यह आत्मत्याग, "मानव-जाति की नैतिक वृद्धि का पुष्प है, आत्मस्वार्थी पशु से निःस्वार्थ दिव्य तत्त्व तक हमारे क्रमशः उत्थान का प्रमाण है।"[9] आत्मत्याग प्राणी जगत् में मानव का विशेष गुण है, यह पशुओं में नहीं मिलता। इसके साथ-साथ आध्यात्मिक विकास में आत्मा की धारणा आगे बढ़ती जाती है। सबसे पहले मनुष्य की आत्मा की धारणा उसके 'स्व' तक ही सीमित रहती है। इस 'स्व' में उसका अपना शरीर, प्राण, मानस आदि होते हैं। इससे आगे बढ़कर वह परिवार के कल्याण को अपना कल्याण मानने लगता है। इससे विकसित होकर वह यह अनुभव करता है कि परिवार से भी अधिक समुदाय पर उसके अधिकार हैं। इस सामुदायिक आत्मा के क्रमशः विकास से वह राष्ट्र आत्मा पर पहुँचता है। कुछ विचारक यहीं रुक जाते हैं और यह समझने लगते हैं कि राष्ट्र आत्मा ही आत्मा के विकास में सर्वोच्च अवधारणा है और इसके लिए अधिक-से-अधिक आत्मत्याग की आवश्यकता होती है। किन्तु भारतीय विचारकों ने कभी भी राष्ट्र आत्मा को अन्तिम नहीं माना यद्यपि उन्होंने सदैव उसे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण और स्थायी माना है। नैतिक चेतना के क्रमशः विकास में हम राष्ट्र से आगे बढ़कर सम्पूर्ण मानवता की चेतना पर पहुँचते हैं। अनेक नैतिक सिद्धान्त इस चेतना को सर्वोच्च चेतना मानते हैं। किन्तु श्री अरविन्द यहाँ भी नहीं रुकते, उनके अनुसार मानवता की चेतना से आगे भी आत्मा को अधिक विस्तृत और गहरा बनाया जाना चाहिए, जब तक कि उसमें दिव्य सत्ता का साक्षात्कार न हो जाए। इस प्रकार सर्वोच्च आत्मा वस्तुजगत् में व्यापक और इनका अतिक्रमण करने वाली दैवी आत्मा है। व्यक्ति के सीमित अहम से चलकर इस परम आत्मा पर पहुँचने तक प्रत्येक कदम पर

मनुष्य को निम्न आत्मा को उच्च आत्मा के लिए त्याग करना पड़ता है। यही आत्म-साक्षात्कार के लिए आत्मत्याग का सही अर्थ है।

विधायक नैतिकता

आत्मत्याग से तात्पर्य निम्न आत्मा का निषेध नहीं है। श्री अरविन्द का दर्शन सब-कहीं विधायक दर्शन है, निषेधात्मक कहीं नहीं है क्योंकि कोई भी निषेधात्मक दर्शन सर्वांग नहीं हो सकता। विभिन्न धर्मों, संस्कृतियों, दर्शनों और नैतिक सिद्धान्तों का विश्लेषण करते समय श्री अरविन्द ने उनमें से किसी का भी पूर्णतया निषेध नहीं किया है। उन्होंने उनका महत्त्व बतलाया है, सीमाएँ दिखलाई हैं और एक ऐसा अधिक व्यापक सिद्धान्त प्रस्तुत करने का प्रयास किया है जिसमें सभी निम्न सिद्धान्तों को स्थान मिले। तब यदि उनका सिद्धान्त अधिक सन्तोषजनक, अधिक समीचीन और अधिक सर्वांग दिखलाई पड़ता है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? उनका महत्त्व इस बात में नहीं है कि अन्य सिद्धान्तों से पृथक् उन्होंने कोई श्रेष्ठ सिद्धान्त उपस्थित किया है बल्कि इस बात में है कि उन्होंने अपने सिद्धान्त में अन्य सभी सिद्धान्तों को स्थान दिया है, वे उनको लेकर आगे बढ़े हैं। विकास के क्रम में कोई भी स्तर तभी ऊँचा कहा जा सकता है जबकि वह निम्न स्तर से गुजरने के बाद मिले और उसमें निम्न स्तर सम्मिलित हो। इस दृष्टि से समीक्षा करने पर श्री अरविन्द के नीति-दर्शन का महत्त्व अधिक स्पष्ट होता है।

श्री अरविन्द का नीति-दर्शन सब-कहीं मनोविज्ञान पर आधारित है। मानव मूल रूप से एक मनोवैज्ञानिक प्राणी है। श्री अरविन्द ने उसके व्यक्तिगत जीवन और सामूहिक जीवन में सब-कहीं उसकी मूल मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों पर दृष्टि रखी है, कहीं भी उनकी अवहेलना नहीं की है। वे कहीं भी दमन का समर्थन नहीं करते बल्कि स्वाभाविक विकास का उपदेश देते हैं। नैतिक विकास में सबसे अधिक महत्त्व हमारे अन्दर की सच्चाई और लगातार विकास का है। इसके होने पर फिर मनुष्य मनचाहे भोगों का आनन्द लेकर अपनी प्रवृत्तियों को सन्तुष्ट कर सकता है क्योंकि सन्तुष्ट होने पर वे पके फल के समान गिर जाएँगी। आन्तरिक सच्चाई और सतत विकास ही प्रगति की आवश्यक शर्त है। दमन और दबाव से तनाव और हताशाएँ बढ़ती हैं। असली चीज है दैवी आत्मा के साक्षात्कार की ओर लगातार बढ़ते जाना क्योंकि ज्यों-ज्यों मनुष्य इस मार्ग में बढ़ता जाता है त्यों-त्यों उसकी बाधाएँ अपने-आप ही समाप्त होती जाती हैं।

नैतिकता की कसौटी

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मानव-जीवन में दैवी आत्मा का साक्षात्कार ही उचित और अनुचित, शुभ और अशुभ की कसौटी है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "अनुचित का अर्थ उससे है जो सत्य से दूर ले जाता है; उच्चतर चेतना और उच्चतर आत्मा, दिव्य सत्ता के मार्ग से अलग करता है।"[10] सुखवादियों और मार्क्सवादियों के विरुद्ध श्री अरविन्द नैतिकता को फल पर आधारित नहीं मानते। दूसरी ओर बुद्धिवादियों के समान उन्होंने नैतिकता को अभिप्राय पर भी आधारित नहीं माना है उनके अनुसा

नैतिकता, चेतना के विकास पर आधारित है। मनुष्य का आचार जिस सीमा तक आत्माभिव्यक्ति का साधन करता है उसी से उसके नैतिक स्तर की परख होती है। यह ठीक है कि कुछ साधन ऐसे होते हैं जो न्यूनाधिक रूप से सदैव बनाए रखे जाते हैं जबकि कुछ अन्य छोड़ दिए जाते हैं, और तोड़ दिए जाते हैं, किन्तु अन्त में सभी यन्त्र मात्र हैं।[11] आध्यात्मिक विकास में हमारी कोई भी शर्त, कोई भी पूर्वाग्रह नहीं चल सकते। उसमें आगे बढ़ने वाले व्यक्ति को प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक इच्छा, प्रत्येक प्रवृत्ति को त्याग करने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए। उसका एकमात्र पुरस्कार आन्तरिक विकास है। यही उसके कार्यों का एकमात्र फल है, इसके अतिरिक्त उसे किसी भी अन्य परिणाम में रुचि नहीं होनी चाहिए। श्री अरविन्द के शब्दों में, "परन्तु सच्चे रूप में नैतिक प्राणी को शुभ के मार्ग का अनुसरण करने और अशुभ के मार्ग से घृणा करने के लिए पुरस्कारों और दण्डों की व्यवस्था की आवश्यकता नहीं होती। सद्गुण उसके लिए स्वयं अपना पुरस्कार है। पाप अपने साथ स्वयं उसकी अपनी प्रकृति के नियम से पतन के रूप में, कष्ट में अपना दण्ड लाता है, यही सच्चा नैतिक मानदण्ड है।"[12]

नैतिक मान्यताएँ

प्रत्येक नैतिक सिद्धान्त कुछ मान्यताओं को लेकर चलता है जिनको वह सिद्ध नहीं करता बल्कि जिन्हें मानकर चलता है। श्री अरविन्द के अनुसार ईश्वर कोई नैतिक मान्यता नहीं है अर्थात् हम नैतिक हैं इससे यह सिद्ध नहीं होता कि संसार में कोई नैतिक व्यवस्था है और इसलिए उसको बनाने वाला कोई ईश्वर भी है। भगवद्गीता के समान श्री अरविन्द ने नैतिकता को दैवी आवश्यकता पर आधारित किया है। उनके अनुसार संस्कृति, विज्ञान, शिक्षा, दर्शन और धर्म के समान नीति भी कोई परम तत्त्व नहीं है बल्कि एक स्थायी तत्त्व है। वह पुरस्कार और दण्ड पर निर्भर नहीं होता और न ही उसे कर्मों का फल देने वाले कर्माध्यक्ष के रूप में किसी ईश्वर की आवश्यकता है। विश्व-व्यवस्था मानव की प्रशासनिक व्यवस्था के समान कोई ऐसी व्यवस्था नहीं है जिसमें दैवी शासक और न्यायाधीश पुरस्कार और दण्ड की व्यवस्था के द्वारा शासन-यन्त्र चलाता हो।[13] अस्तु, कर्माध्यक्ष के रूप में ईश्वर की नैतिक मान्यता नैतिक विकास के लिए आवश्यक नहीं है। इसी प्रकार पुनर्जन्म भी कोई अनिवार्य नैतिक मान्यता नहीं है, यद्यपि श्री अरविन्द ने पुनर्जन्म का समर्थन किया है क्योंकि विकास का आदर्श एक ऐसा ऊँचा आदर्श है जिसको एक जीवन में प्राप्त करना सम्भव नहीं है।

संकल्प की स्वतन्त्रता

श्री अरविन्द के अनुसार एकमात्र नैतिक मान्यता संकल्प की स्वतन्त्रता है। उनके अपने शब्दों में, "यह सन्देहास्पद है कि भाग्य में अथवा स्वतन्त्र संकल्प में विश्वास किसी मनुष्य के कार्य में विशेष अन्तर उत्पन्न करता है, परन्तु यह निश्चय ही उसके स्वभाव और उसकी आन्तरिक सत्ता के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वह उसकी आत्मा पर अपनी मोहर लगा देता है।"[14] इस प्रकार संकल्प की स्वतन्त्रता नीति का आधार है

श्री अरविन्द के दर्शन में संकल्प की स्वतन्त्रता का अर्थ वही है जो गीता के नीति-दर्शन मे है। संकल्प की स्वतन्त्रता संकल्प पर अनियन्त्रण नहीं है। इसका अर्थ आत्मनियन्त्रण है जोकि अन्त में ईश-नियन्त्रण है क्योंकि आत्मा ही ईश्वर है। इस विचार से मानव और प्रकृति, स्वतन्त्रता और भाग्य के बीच की खाई पट जाती है। इसमें स्वतन्त्रता और नियन्त्रण का विवाद समाप्त हो जाता है। श्री अरविन्द के अनुसार, "संसार में सब-कहीं व्यापक दैवी शक्ति ही सम्पूर्ण के एक अंग के रूप में मेरे कार्यों का परिणाम निर्धारित करती है। जब मैं संकल्प करता हूँ तो संकल्प की सम्पूर्ण व्यवस्था के एक अंग के रूप मे ही ऐसा करता हूँ। मैं और मेरा केवल बाहरी आवरण मात्र हैं। इनको हटा देने पर परम दैवी तत्त्व ही एकमात्र सद्वस्तु रहती है, सब-कुछ उसी के संकल्प, उसी के ज्ञान और उसी की क्रिया का परिणाम है।"[15] अस्तु, स्वतन्त्र संकल्प से तात्पर्य बुद्धि से निम्न और स्वयं बुद्धि के नियन्त्रण से स्वतन्त्र आत्मा के अनुसार संकल्प करना है और क्योंकि यह आत्मा मूल रूप से परमात्मा ही है इसलिए स्वतन्त्र संकल्प से तात्पर्य दैवी सत्ता के एक यन्त्र के रूप में कार्य करना है। यही समस्त आचार में अवस्थित रहस्य है। मनुष्य एक यन्त्र है, उसका सामाजिक आत्मा कर्मी है परन्तु उसकी दिव्य आत्मा ही समस्त कर्म का स्वामी है। इस दिव्य आत्मा का साक्षात्कार ही समस्त नैतिक आचार का लक्ष्य है।

आत्मसाक्षात्कार का नीतिशास्त्र

विकास का स्तर बढ़ने के साथ-साथ हमारी नैतिकता की धारणा में भी परिवर्तन होता रहता है। समाजशास्त्रियों ने नैतिक विचारों को देश-काल सापेक्ष दिखलाया है। श्री अरविन्द उन्हें आत्मा के विकास की स्थिति से सापेक्ष दिखलाते हैं। उनके अपने शब्दो मे, "साधारण दृष्टिकोण से नैतिकता एक भली प्रकार अनुशासित, व्यक्तिगत और सामाजिक आचार है, जोकि समाज को चलाए रखता है और हमारे साथियों के प्रति एक बेहतर, अधिक बौद्धिक, सन्तुलित, सहानुभूतिमय, आत्मनियन्त्रित व्यवहार की ओर ले जाता है। किन्तु आध्यात्मिक दृष्टिकोण से नैतिकता इससे कहीं अधिक है, वह हमारे कर्म और उससे भी अधिक हमारे सत के चरित्र मे, हममें दैवी आत्मा में आगे बढ़ने का साधन, दैवी प्रकृति में हमारी वृद्धि का एक सोपान है।"[16] इस प्रकार आध्यात्मिक दृष्टिकोण से नैतिकता दिव्य जीवन की ओर विकास का एक साधन और एक सोपान है। "अपने अन्दर आध्यात्मिक पुरुष की खोज आध्यात्मिक मानव का मुख्य कार्य है और अन्य लोगों को इसी विकास की ओर बढ़ने में सहायता करना प्रजाति के लिए उसकी वास्तविक सेवा है।"[17] कोई भी मनुष्य जहाँ तक दूसरों को आध्यात्मिक जीवन की ओर आगे बढ़ाता है, वहीं तक वह उनकी सेवा करता है। हम दूसरों को आध्यात्मिक नहीं बना सकते किन्तु ऐसी परिस्थितियाँ अवश्य जुटा सकते हैं जो उनके आध्यात्मिक विकास में सहायक हों। इस प्रकार स्वयं का आध्यात्मिक विकास और दूसरों के इस प्रकार के विकास में सहायता देना मनुष्य का प्रमुख कर्त्तव्य होना चाहिए। इस नैतिक लक्ष्य में स्वार्थ और परार्थ, बुद्धि और अनुभूति एवं व्यक्ति तथा समाज का समन्वय दिखलाई पड़ता है। यह एक पूर्णतावादी सिद्धान्त है किन्तु इसमें पूर्णता मानसिक स्तर पर नहीं बल्कि आध्यात्मिक स्तर

पर स्थापित की गई है। श्री अरविन्द के अनुसार आध्यात्मिक आत्मा न केवल व्यक्ति और समाज में है, बल्कि उनका अतिक्रमण भी करती है। वह सत्यम् शिवम् सुन्दरम् से भी आगे है, क्योंकि वह सच्चिदानन्द है। उसमें व्यक्तिगत अथवा समूहगत, बौद्धिक अथवा बुद्धि से निम्न तत्त्वों का कोई संघर्ष नहीं होता, इनमें से किसी को दूसरे के आधीन नहीं बनाया जाता बल्कि सभी का संकलन होता है, सभी का रूपान्तर होता है।

नैतिकता का अतिक्रमण

अस्तु, श्री अरविन्द के दर्शन में नैतिक विकास मानव-विकास का अन्तिम सोपान नहीं है। चेतना के क्रमशः विस्तार के साथ मनुष्य नैतिक सोपान से आगे बढ़ जाता है। नैतिकता मूल रूप से मानसिक स्तर पर होती है क्योंकि मानसिक स्तर शुभ और अशुभ, उचित और अनुचित के द्वन्द्व का स्तर है। मानसिक स्तर से ऊपर उठने पर नैतिक समस्याएँ नहीं रहती क्योंकि यह द्वन्द्व समाप्त हो जाता है और व्यक्ति असीम दैवी चेतना में स्थित हो जाता है। यह स्थिति शुभ और अशुभ से परे है। इस प्रकार नैतिकता का स्तर अज्ञान का स्तर है यद्यपि उसका आधार वही है जो धर्म और आध्यात्मिकता का आधार है। जैसे जीवन के अन्य क्षेत्रों में वैसे यहाँ पर भी मनुष्य की विकास करने की, विस्तार करने की और अपनी सीमित चेतना से ऊपर उठने की प्रवृत्ति ही उसे नैतिकता की ओर ले जाती है और स्वाभाविक है कि यही प्रवृत्ति उसे नैतिकता से परे भी ले जाती है।

इस प्रकार मानव नैतिकता से परे उठकर आध्यात्मिकता में पहुँचता है। नैतिकता स्वभावतया अपना परम लक्ष्य, परम शुभ खोजते हुए बौद्धिक स्तर से ऊपर उठती है। जीवन में सब-कहीं परम लक्ष्यों की ओर प्रवृत्ति देखी जाती है। सत्य, शिव और सुन्दर इन तीनों की ही खोज में मानव इनके आगार निरपेक्ष सत को खोजता है। श्री अरविन्द के अनुसार नैतिक स्तर बुद्धि का स्तर है और इसीलिए वह मानव-विकास का अन्तिम स्तर नहीं है। उनके अपने शब्दों में, "ये समस्याएँ मानस और अज्ञानमय जीवन की है, ये मानस के परे हमारे साथ नहीं जाती, जिस प्रकार एक असीम सत्य, चेतना में सत्य और असत्य के द्वैत की समाप्ति हो जाती है, उसी प्रकार एक असीम शुभ में शुभ और अशुभ के द्वैत से मोक्ष मिल जाता है, यहाँ परात्परता है।"[18] इस प्रकार अन्त में नैतिकता का स्तर अज्ञान का स्तर है। यद्यपि अन्त में जैसाकि अन्य सब-कहीं है वैसे ही यहाँ भी परम तत्त्व ही सबका आधार है। विकास, सार्वभौम चेतना प्राप्त करना और अपने व्यक्तित्व से आगे बढ़ना मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। यही उसको नैतिकता की ओर ले जाती है और यही उसके नैतिक स्तर से आगे बढ़ाती है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "हमारी आंतरिक प्रकृति शाश्वत आत्मा की प्रगतिशील अभिव्यक्ति है और किसी अकेले प्रभावशाली मानसिक अथवा नैतिक सिद्धान्त से बँधे रहने के लिए कहीं अधिक जटिल शक्ति है।"[19]

नैतिकता की अपरिहार्यता

किन्तु नैतिकता के अतिक्रमण से यह सिद्ध नहीं होता कि नैतिकता मानव के लिए किसी भी प्रकार से कम अनिवार्य है। श्री अरविन्द के दर्शन में मानव और प्रकृति के विकास की भिन्न-भिन्न स्थितियों में भिन्न-भिन्न तत्त्व दिखलाई पड़ते हैं जिनका विशिष्ट स्थितियों पर अपना महत्त्व है; यद्यपि विकास के सोपान के आगे बढ़ने के साथ उनका महत्त्व कम हो जाता है और उनके स्थान पर नए तत्त्व आ जाते हैं। सर्वांग विकास में प्रत्येक पहलू का विकास निहित है, किसी का भी विकास सब-कुछ नहीं है और न ही किसी के विकास की अवहेलना की जा सकती है। उच्चतर तत्त्व निम्नतर का निषेध नहीं करता बल्कि उससे ऊपर उठते हुए उसका संकलन करता है। इसीलिए नैतिक स्तर की अनिवार्यता के विषय में श्री अरविन्द ने लिखा है, "परन्तु, फिर भी, यह अन्य मध्य सत्य चेतना भी है जोकि हमें शुभ और अशुभ के मूल्यों के प्रति जागृत करती है और उनकी आवश्यकता तथा महत्त्व बतलाती है; यह जागृति, उसके विशिष्ट निर्णयों की चाहे जो भी मान्यता अथवा प्रामाणिकता हो, विकासमान प्रकृति की प्रक्रिया में एक अपरिहार्य सोपान है।"[20] इस प्रकार सर्वोच्च सोपान न होते हुए भी नैतिक सोपान अपरिहार्य है।

नैतिक विकास के सोपान

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नैतिकता का स्थान प्रकृति और पराप्रकृति के मध्य में है। प्रकृति और पराप्रकृति दोनों ही नैतिकता से परे हैं। नैतिकता प्रकृति से परे है और पराप्रकृति नैतिकता से परे है। मानव की अन्य प्रवृत्तियों के समान नैतिक प्रवृत्ति और नैतिक क्रिया भी बुद्धि से निम्न अविचेतन प्रवृत्तियों में उत्पन्न होती हैं। मानव-जीवन में जो कुछ महान् अथवा लघु है, वह सभी अधिचेतन अथवा मूल-प्रवृत्तियों से उत्पन्न होता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि मूल-प्रवृत्तियों का सन्तोष ही हमारी सभी प्रवृत्तियों और क्रियाओं का लक्ष्य होना चाहिए। यह ठीक है कि अन्य प्रवृत्तियों के समान नैतिकता भी पहले-पहले मूल-प्रवृत्तिजन्य होती है और बिना कोई प्रश्न उठाए मान ली जाती है। साधारण मनुष्य नैतिक नियम को सामाजिक नियम अथवा प्रकृति के नियम के रूप में जानता और पालन करता है; किन्तु क्रमशः बुद्धि के जागृत होने के पश्चात् इस मूल-प्रवृत्तिजन्य नैतिकता में आशंका प्रारम्भ हो जाती है। बुद्धि नैतिक क्रिया पर विचार करती है और नैतिक कार्य की व्यवस्था बनाती है। यह भी मानव-विकास में एक अनिवार्य सोपान है, किन्तु चूंकि मनुष्य परम सत्य से पहले कहीं भी नहीं रुक सकता इसलिए वह नैतिक विचार और नैतिक संकल्प में भी अधिक काल तक सन्तोष नहीं पा सकता। सतत विकास हमारी अनिवार्य प्रकृति है और किसी भी स्थिति पर यह विकास रुक नहीं सकता, भले ही वह स्थिति नैतिकता की ही स्थिति क्यों न हो। श्री अरविन्द के दर्शन में विकास ही साध्य है, शेष सब साधन हैं। विकास के चलते रहने में चाहे कितनी भी कठिनाइयाँ, आरोहण, अवरोहण, प्रगति और अवगति क्यों न आएँ, किन्तु मानव को उसे बराबर चलाए रखना चाहिए यह विकास मानव की ही नहीं,

बल्कि प्रकृति की भी मूल-प्रवृत्ति है क्योंकि यह विकास परम तत्त्व का स्वभाव है। नैतिक आचार के द्वारा अन्त में हम आत्मविकास खोजते हैं, नियम पालन नहीं। इसलिए किसी भी नैतिक आचार का महत्त्व उसके बाहरी परिणाम के कारण नहीं बल्कि आन्तरिक विकास में उसके योगदान के कारण माना जाता है। यह आन्तरिक विकास ही परम साध्य है। श्री अरविन्द के अनुसार प्रत्येक कर्म सापेक्ष होता है और किसी भी कर्म का औचित्य, शुद्धता और श्रेष्ठता उसके बाहरी परिणाम से नहीं जाँची जा सकती। उसका वास्तविक मूल्य उसके अभिप्राय से भी नहीं जाना जा सकता बल्कि उस सहायता से जाना जा सकता है जोकि वह आध्यात्मिक विकास में देता है क्योंकि यह आध्यात्मिक विकास ही परम साध्य है। यही नैतिक प्रवृत्ति और नैतिक आचार की चरम परिणति है। किसी भी प्रवृत्ति अथवा आचार की नैतिकता शुभ और अशुभ की गणना अथवा सामाजिक नियमों की अनुरूपता से नहीं लगाई जा सकती। प्रत्येक कर्म दैवी प्रकृति की ओर बढ़ने का एक प्रयास है। शुद्धता, सत्य, उचित, सहानुभूति और दान इत्यादि के द्वारा हम यही खोजते हैं। यही आध्यात्मिक पुरुष ही अति-मानव है जोकि मानव का लक्ष्य है। नैतिक प्रकृति दैवी प्रकृति की ओर ले जाती है जहाँ पर कि सभी कर्म स्वभावतया शुभ होते हैं। इस सोपान पर संकल्प न तो बुद्धि से निम्न और न बौद्धिक होता है, बल्कि दैवी होता है। इस प्रकार नैतिक विकास में, बुद्धि से निम्न, बौद्धिक और बुद्धि से परे ये तीन सोपान दिखलाई पड़ते हैं।

नैतिक विकास का वर्तुल

नैतिक विकास की इस धारणा में सभी प्रकार के नैतिक सिद्धान्तों को स्थान मिल जाता है, सभी की व्याख्या हो जाती है। नीतिशास्त्र के इतिहास में बुद्धि से निम्न तत्त्वों और बौद्धिक तत्त्व को लेकर नैतिक सिद्धान्त उपस्थित किए गए हैं। विकासमय दृष्टिकोण में ये सिद्धान्त परस्पर विरोधी नहीं बल्कि विकास के विभिन्न सोपानों पर मानव-प्रकृति की अभिव्यक्तियों के रूप में दिखलाई पड़ते हैं। विकास की विभिन्न स्थितियाँ कालगत न होकर मनोवैज्ञानिक होती हैं। ऐसा नहीं है कि किसी विशेष काल में मानव-समाज बुद्धि से निम्न तत्त्वों के द्वारा चलता था और किसी विशेष काल में वह बौद्धिक हो गया। सभी कालों में मानव-समाज में न्यूनाधिक सभी प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं, केवल विशेष काल में विशेष प्रवृत्ति सामान्य रूप से अधिक प्रबल होती है। इसीलिए आधुनिक युग बौद्धिक युग कहलाता है। मनोवैज्ञानिक सोपान व्यक्ति के विकास के सोपान हैं। व्यक्ति के विकास में भी यह आवश्यक नहीं है कि सभी व्यक्तियों में विकास की प्रक्रिया समान गति से और एक-सी अवस्थाओं से होकर होती हो। इन दोनों ही बातों में व्यक्तियों में व्यक्तिगत अन्तर देखा जाता है।

साध्य और साधन

नैतिक क्षेत्र में साध्य और साधन के सम्बन्ध को लेकर सदैव विवाद रहा है। कार्ल मार्क्स के अनुसार साध्य साधन का औचित्य निश्चित करता है। गांधी जैसे

विचारकों ने साधन को साध्य का औचित्य निश्चित करने वाला माना है। श्री अरविन्द के अनुसार, "हमारे साधन उतने ही महान् होने चाहिएँ जैसे कि हमारे साध्य महान् हैं और साध्य को प्राप्त करने के लिए साधन का पता लगाने और प्रयोग करने की शक्ति [illegible] स्वयं हमारे अन्दर शक्ति के शाश्वत स्रोत की खोज करने से पाई जा सकती है।"[2] [illegible] प्रकार श्री अरविन्द के अनुसार यदि साध्य महान् हैं तो साधन भी महान् ही चुने [illegible] चाहिएँ। यहाँ तक वे गांधीजी से सहमत हैं। किन्तु इससे आगे उनकी दृष्टि अ[illegible] व्यापक, गहरी और गतिशील दिखलाई पड़ती है। उनके सिद्धान्त में नैतिक और मनो-वैज्ञानिक का कोई झगड़ा नहीं है। व्यक्ति और समाज के विकास में योगदान देने के लिए नैतिकता को ठोस तथ्यों पर आधारित होना चाहिए। नैतिक क्षेत्र में तथ्यों और मूल्यों के द्वैत से ही तथ्य अनैतिक और मूल्य शक्तिहीन हो जाते हैं। जो लोग यह कहते हैं कि आदर्श आदर्श है, उसका यथार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है, वे यह भूल जाते हैं कि यथार्थ बने बगैर आदर्श में कोई शक्ति नहीं होती। सच्चे आदर्श को यथार्थ में अपनाए जाने योग्य होना चाहिए। श्री अरविन्द ने अपने नैतिक और राजनीतिक सिद्धान्तों को सदैव ठोस तथ्यों पर आधारित रखा है क्योंकि आखिर ये तथ्य क्या हैं, ये भी तो परम सद्वस्तु की अभिव्यक्तियाँ ही हैं। इसलिए श्री अरविन्द के दर्शन में तथ्यों और आदर्शों में कोई झगड़ा, कोई विरोध नहीं है। उनका आदर्शवाद ठोस यथार्थवाद पर आधारित है। यह बात उनके राजनीतिक सिद्धान्त की विवेचना से और भी स्पष्ट होती है।

राजनीतिक नैतिकता

गांधीजी के समान श्री अरविन्द ने नीति और राजनीति में समन्वय किया। जर्मन दार्शनिक मैकियावेली और उसके अनुयायी यह मानते थे कि राजनीति का नीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। आज भी बहुत से लोग यह कहते सुने जाते हैं कि राजनीति में सब-कुछ चलता है; जिससे सफलता मिले वही उचित है। हॉब्स, बेन, तथा अन्य विचारक इसी प्रकार नीति को राजनीति के आधीन बना देते हैं। दूसरी ओर प्लेटो, अरस्तु, हेगेल और गांधी जैसे आदर्शवादी विचारकों ने राजनीति को नीति के आधीन करने का प्रयास किया है। श्री अरविन्द ने न तो राजनीति को नीति के आधीन किया है, और न नीति को राजनीति के आधीन माना है, बल्कि इन दोनों को आध्यात्मिक परम तत्त्व पर आधारित किया है जोकि मानव की समस्त क्रियाओं के साथ-साथ इन दोनों का भी नियमन करता है। इसीलिए श्री अरविन्द के दर्शन में नीति और राजनीति में समन्वय दिखलाई पड़ता है।

निष्क्रिय प्रतिरोध का सिद्धान्त

भारतवर्ष में अंग्रेज सरकार के विरुद्ध राजनीतिक क्रान्ति में कुछ नेताओं ने निष्क्रिय प्रतिरोध का सिद्धान्त उपस्थित किया। श्री अरविन्द के अनुसार निष्क्रिय प्रतिरोध और गांधीजी के सत्याग्रह में कोई अन्तर नहीं था। गांधीजी के साथ उन्होंने यह माना है कि शान्तिपूर्ण प्रतिरोध अवकि अन्य विधियों से कम साहसपूर्ण और आक्रामक

बल्कि प्रकृति की भी मूल-प्रवृत्ति है क्योंकि यह विकास परम तत्त्व का स्वभाव है। नैतिक आचार के द्वारा अन्त में हम आत्मविकास खोजते हैं, नियम पालन नहीं। इसलिए किसी भी नैतिक आचार का महत्त्व उसके बाहरी परिणाम के कारण नही बल्कि आन्तरिक विकास में उसके योगदान के कारण माना जाता है। यह आन्तरिक विकास ही परम साध्य है। श्री अरविन्द के अनुसार प्रत्येक कर्म सापेक्ष होता है और किसी भी कर्म का औचित्य, शुद्धता और श्रेष्ठता उसके बाहरी परिणाम से नहीं जाँची जा सकती। उसका वास्तविक मूल्य उसके अभिप्राय से भी नहीं जाना जा सकता बल्कि उस सहायता से जाना जा सकता है जोकि वह आध्यात्मिक विकास में देता है क्योंकि यह आध्यात्मिक विकास ही परम साध्य है। यही नैतिक प्रवृत्ति और नैतिक आचार की चरम परिणति है। किसी भी प्रवृत्ति अथवा आचार की नैतिकता शुभ और अशुभ की गणना अथवा सामाजिक नियमों की अनुरूपता से नहीं लगाई जा सकती। प्रत्येक कर्म दैवी प्रकृति की ओर बढ़ने का एक प्रयास है। शुद्धता, सत्य, उचित, सहानुभूति और दान इत्यादि के द्वारा हम यही खोजते हैं। यही आध्यात्मिक पुरुष ही अति-मानव है जोकि मानव का लक्ष्य है। नैतिक प्रकृति दैवी प्रकृति की ओर ले जाती है जहाँ पर कि सभी कर्म स्वभावतया शुभ होते हैं। इस सोपान पर संकल्प न तो बुद्धि से निम्न और न बौद्धिक होता है, बल्कि दैवी होता है। इस प्रकार नैतिक विकास में, बुद्धि से निम्न, बौद्धिक और बुद्धि से परे ये तीन सोपान दिखलाई पड़ते हैं।

नैतिक विकास का वर्तुल

नैतिक विकास की इस धारणा में सभी प्रकार के नैतिक सिद्धान्तों को स्थान मिल जाता है, सभी की व्याख्या हो जाती है। नीतिशास्त्र के इतिहास में बुद्धि से निम्न तत्त्वों और बौद्धिक तत्त्व को लेकर नैतिक सिद्धान्त उपस्थित किए गए हैं। विकासमय दृष्टिकोण में ये सिद्धान्त परस्पर विरोधी नहीं बल्कि विकास के विभिन्न सोपानों पर मानव-प्रकृति की अभिव्यक्तियों के रूप में दिखलाई पड़ते है। विकास की विभिन्न स्थितियाँ कालगत न होकर मनोवैज्ञानिक होती है। ऐसा नहीं है कि किसी विशेष काल में मानव-समाज बुद्धि से निम्न तत्त्वों के द्वारा चलता था और किसी विशेष काल में वह बौद्धिक हो गया। सभी कालों में मानव-समाज में न्यूनाधिक सभी प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं, केवल विशेष काल में विशेष प्रवृत्ति सामान्य रूप से अधिक प्रबल होती है। इसीलिए आधुनिक युग बौद्धिक युग कहलाता है। मनोवैज्ञानिक सोपान व्यक्ति के विकास के सोपान हैं। व्यक्ति के विकास में भी यह आवश्यक नहीं है कि सभी व्यक्तियों में विकास की प्रक्रिया समान गति से और एक-सी अवस्थाओं से होकर होती हो। इन दोनों ही बातों में व्यक्तियों में व्यक्तिगत अन्तर देखा जाता है।

साध्य और साधन

नैतिक क्षेत्र में साध्य और साधन के सम्बन्ध को लेकर सदैव विवाद रहा है। कार्ल मार्क्स के अनुसार साध्य साधन का औचित्य निश्चित करता है। गांधी जैसे

विचारकों ने साधन को साध्य का औचित्य निश्चित करने वाला माना है। श्री अरविन्द के अनुसार, "हमारे साधन उतने ही महान् होने चाहिएँ जैसे कि हमारे साध्य महान् है और साध्य को प्राप्त करने के लिए साधन का पता लगाने और प्रयोग करने की शक्ति स्वयं हमारे अन्दर शक्ति के शाश्वत स्रोत की खोज करने से पाई जा सकती है।"[21] इस प्रकार श्री अरविन्द के अनुसार यदि साध्य महान् हैं तो साधन भी महान् ही चुने जाने चाहिएँ। यहाँ तक वे गांधीजी से सहमत हैं। किन्तु इससे आगे उनकी दृष्टि अधिक व्यापक, गहरी और गतिशील दिखलाई पड़ती है। उनके सिद्धान्त में नैतिक और मनोवैज्ञानिक का कोई झगड़ा नहीं है। व्यक्ति और समाज के विकास में योगदान देने के लिए नैतिकता को ठोस तथ्यों पर आधारित होना चाहिए। नैतिक क्षेत्र में तथ्यों और मूल्यों के द्वैत से ही तथ्य अनैतिक और मूल्य शक्तिहीन हो जाते हैं। जो लोग यह कहते हैं कि आदर्श आदर्श है, उसका यथार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है, वे यह भूल जाते हैं कि यथार्थ बने बगैर आदर्श में कोई शक्ति नहीं होती। सच्चे आदर्श को यथार्थ में अपनाए जाने योग्य होना चाहिए। श्री अरविन्द ने अपने नैतिक और राजनीतिक सिद्धान्तों को सदैव ठोस तथ्यों पर आधारित रखा है क्योंकि आखिर ये तथ्य क्या हैं, ये भी तो परम सद्वस्तु की अभिव्यक्तियाँ ही हैं। इसलिए श्री अरविन्द के दर्शन में तथ्यों और आदर्शों में कोई झगड़ा, कोई विरोध नहीं है। उनका आदर्शवाद ठोस यथार्थवाद पर आधारित है। यह बात उनके राजनीतिक सिद्धान्त की विवेचना से और भी स्पष्ट होती है।

राजनीतिक नैतिकता

गांधीजी के समान श्री अरविन्द ने नीति और राजनीति में समन्वय किया। जर्मन दार्शनिक मैकियावेली और उसके अनुयायी यह मानते थे कि राजनीति का नीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। आज भी बहुत से लोग यह कहते सुने जाते हैं कि राजनीति मे सब-कुछ चलता है; जिससे सफलता मिले वही उचित है। हौब्स, बेन, तथा अन्य विचारक इसी प्रकार नीति को राजनीति के आधीन बना देते हैं। दूसरी ओर प्लेटो, अरस्तु, हेगेल और गांधी जैसे आदर्शवादी विचारकों ने राजनीति को नीति के आधीन करने का प्रयास किया है। श्री अरविन्द ने न तो राजनीति को नीति के आधीन किया है, और न नीति को राजनीति के आधीन माना है, बल्कि इन दोनों को आध्यात्मिक परम तत्त्व पर आधारित किया है जोकि मानव की समस्त क्रियाओं के साथ-साथ इन दोनों का भी नियमन करता है। इसीलिए श्री अरविन्द के दर्शन में नीति और राजनीति में समन्वय दिखलाई पडता है।

निष्क्रिय प्रतिरोध का सिद्धान्त

भारतवर्ष में अंग्रेज सरकार के विरुद्ध राजनीतिक क्रान्ति में कुछ नेताओं ने निष्क्रिय प्रतिरोध का सिद्धान्त उपस्थित किया। श्री अरविन्द के अनुसार निष्क्रिय प्रतिरोध और गांधीजी के सत्याग्रह में कोई अन्तर नहीं था। गांधीजी के साथ उन्होंने यह माना है कि शान्तिपूर्ण प्रतिरोध जबकि अन्य विधियों से कम साहसपूर्ण और आक्रामक

है, उसके लिए भी शायद विशेष प्रकार के उतने ही अधिक शौर्य और निश्चय ही अधिक सार्वभौम साहस और कष्ट झेलने की आवश्यकता है।"[22] किन्तु श्री अरविन्द राजनीति के क्षेत्र में किसी भी सिद्धान्त अथवा साधन को स्वयं साध्य नहीं मानते, चाहे वह सत्याग्रह का सिद्धान्त हो या अहिंसा का सिद्धान्त क्योंकि उनके अनुसार, "दबाव की प्रकृति ही प्रतिरोध की प्रकृति को निश्चित करती है।"[23] किसी भी प्रकार के दबाव के विरुद्ध लड़ने के लिए हम कौनसा साधन अपनाएँगे यह इस बात पर निर्भर होगा कि वह दबाव किस प्रकार का है। यदि औषधि रोग को देखकर नहीं दी जाती तो स्पष्ट है कि उससे रोग के दूर होने की आशा नहीं की जा सकती। कोई भी औषधि स्वयं अपने-आपमें श्रेष्ठ नहीं होती। औषधि वही श्रेष्ठ है जिससे रोग दूर हो। सामाजिक, नैतिक, राजनीतिक, जीवन के सभी क्षेत्रों में मनुष्यों ने नियम इसीलिए बनाए है कि जीवन चले, आगे बढ़े, विकास हो और सभी पहलुओं में प्रगति हो। नियम इन साध्यों के साधन मात्र हैं, स्वयं साध्य कभी नहीं हैं। अस्तु, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के युद्ध मे जबकि राष्ट्र के जीवन और मृत्यु का प्रश्न उपस्थित हो तो विदेशी सरकार के विरुद्ध किसी भी प्रकार का विद्रोह पूर्णतया उचित है। श्री अरविन्द के इसी विचार को लेकर कुछ लोग उन्हें राजनीति में अतिरेकवादी मान बैठते हैं। यह बात कहाँ तक सत्य है, इसकी विवेचना अगले अध्याय में की जाएगी। यहाँ पर केवल यही याद रखना पर्याप्त है कि श्री अरविन्द कहीं भी अतिरेकवादी नहीं हैं, बल्कि सब-कहीं किसी भी प्रकार के अतिरेकवाद के विरुद्ध हैं। उनके विचारों मे अतिरेकवाद उन्हीं लोगों को दिखलाई पड़ता है जिन्होंने स्वयं कोई स्थायी स्थिति बना रखी है और जो अपनी स्थिति मे भिन्न प्रत्येक स्थिति को अतिरेकवादी कहते हैं। श्री अरविन्द के दर्शन में सन्तुलन, समझौता, अतिरेक जैसी कोई कसौटियाँ नही हैं, एकमात्र कसौटी व्यक्ति और समाज का आध्यात्मिक विकास है, इसके लिए जो कुछ करना पड़े उसमें किसी भी प्रकार के संकोच की आवश्यकता नहीं है क्योंकि जो कुछ करना पड़ेगा उसका औचित्य और श्रेष्ठता इस साध्य की ओर बढ़ने से ही निश्चित होगी। वैसे भी आध्यात्मिक स्तर पर साध्य-साधन का द्वैत समाप्त हो जाता है क्योंकि आध्यात्मिक लक्ष्य केवल आध्यात्मिक साधन से ही प्राप्त किया जा सकता है।

साधन रूप में अहिंसा

गांधीजी के समान श्री अरविन्द ने व्यक्तिगत और राजनीतिक जीवन में साधन रूप में अहिंसा का महत्त्व माना है। किन्तु जबकि गांधीजी के लिए अहिंसा साधन मात्र न होकर स्वयं साध्य थी, श्री अरविन्द के लिए मानव-विकास के अन्य साधनों के समान अहिंसा भी एक साधन है और जहाँ-कहीं उससे विकास में बाधा पड़ेगी वहाँ उसे छोड दिया जाएगा। स्मरण रहे कि भगवद्‌गीता में भी अहिंसा के विषय में यही दृष्टिकोण अपनाया गया है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "आक्रामकता अन्यायपूर्ण है परन्तु केवल तभी जबकि वह बिना किसी कारण हो हिंसा अनुचित है जबकि उसका निर्ममता से अथवा अनैतिक लक्ष्यों के लिए प्रयोग किया जाए जो दर्शन सभी क्रियाओं मे एक ही

यान्त्रिक नियम लागू करता हो अथवा किसी एक शब्द को लेकर समस्त मानव-जीवन को उसमें फिट करने का प्रयास करता हो वह बाँझ दर्शन है, उससे कोई सत्य नहीं निकल सकता।"[24] नीति अथवा राजनीति में रामबाण जैसी सब रोगों की एक दवा नहीं होती। अहिंसा अथवा 'पंचशील' जैसे कोई भी सिद्धान्त कितने ही महान् क्यों न हो, जनजीवन में उन्हें लागू करते समय यथार्थवादी दृष्टिकोण रखा जाना चाहिए और उनके मनोवैज्ञानिक प्रभाव पर सदैव ध्यान दिया जाना चाहिए अन्यथा हमारे अपने अभिप्राय कितने ही ऊँचे क्यों न हों दूसरों पर उनका प्रभाव बुरा ही पड़ता है। गांधीजी के अहिंसा और सत्याग्रह के सिद्धान्त उनके व्यक्तिगत अनुभव पर आधारित थे जिन्हें वे सत्य के प्रयोग कहा करते थे। किन्तु व्यक्तिगत जीवन में सत्य के प्रयोग जनजीवन में सत्य के प्रयोग नहीं होते क्योंकि व्यक्तिगत मनोविज्ञान और सामाजिक मनोविज्ञान में भारी अन्तर है। गांधीजी अपने व्यक्तिगत अनुभवों को जनजीवन पर लागू करने का प्रयास करते थे। जब तक जनजीवन का रूपान्तर नहीं होता और वह वैसा ही रहता है जैसाकि वह है तब तक गांधी और ईसा के नैतिक आदर्श केवल व्यक्तिगत जीवन में ही सम्भव हो सकते हैं, जनजीवन पर लागू नहीं हो सकते। श्री अरविन्द ने कहा है, "राजनीति का सम्बन्ध मानव-समुदायों से है, व्यक्तियों से नहीं। मानव-समुदायों को सन्तों के समान काम करने के लिए कहना, दैवी प्रेम की ऊँचाई तक उठने और अपने विरोधियों तथा शोषकों पर लागू करने के लिए कहना मानव-प्रकृति की अवहेलना करना है। यह चोट करने के लिए उठे हुए मोक्षदाता के हाथ को गतिहीन बनाकर अन्याय और हिंसा को प्रोत्साहित करना है।"[25] इस प्रकार असली उद्देश्य न्याय, सत्य और दैवी चेतना की ओर आगे बढ़ना है। यदि अहिंसा इसमें सहायक है तो वह श्रेष्ठ है और यदि इसके लिए हिंसा अपनानी पड़े तो, जैसाकि गीता में कहा गया है, वही मानव-धर्म है।

राजनीति में प्रेम

उपरोक्त विवेचन में श्री अरविन्द का दृष्टिकोण हिंसा और युद्ध का नीतिशास्त्रीय विवेचन नहीं है। उन्होंने इन्हें एक मनोवैज्ञानिक और इतिहास-दार्शनिक की दृष्टि से देखा है। नैतिक और सामाजिक घटनाओं का विवेचन करते समय भी उनकी अन्तर्दृष्टि सदैव इनके मूल में अवस्थित परम तत्त्व की गति पर ही रही है। उनके नैतिक सिद्धान्त आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया के सर्वांग अनुभव के विश्वरूप दर्शन पर आधारित है। गांधीजी ने प्रेम के व्यक्तिगत गुण को राष्ट्रों के सम्बन्धों पर लागू किया। इस धारणा का दोष दिखलाते हुए श्री अरविन्द ने स्पष्ट लिखा है, "राष्ट्र और राष्ट्र में न्याय, पक्षपात, युद्ध, शौर्य, कर्त्तव्य होते हैं, प्रेम नहीं होता। समस्त प्रेम या तो व्यक्तिगत है अथवा प्रजाति में आत्मा के लिए है अथवा मानव-जाति में आत्मा के लिए है, वह विभिन्न प्रजातियों के व्यक्तियों में हो सकता है, किन्तु एक प्रजाति का दूसरी के लिए प्रेम प्रकृति के लिए विदेशी तत्त्व है।"[26] नैतिक और राजनीतिक सभी क्षेत्रों में श्री अरविन्द ने ठोस मनोवैज्ञानिक सत्यों को ही आधार बनाया है बचपन से युवावस्था तक पश्चिम में पलने के कारण वे विज्ञान के महत्त्व से पूर्णतया परिचित थे और महान दार्शनिक तथा योगी

होते हुए भी वे सब-कहीं तथ्यों के क्षेत्र में वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखते थे। इसीलिए जो तथ्यात्मकता उनके आदर्शवादी दर्शन में दिखलाई पड़ती है, दर्शन के इतिहास में उसकी कोई मिसाल नहीं है। कोई भी राजनीतिक नेता चाहे कितने भी उदात्त उद्देश्यों को लेकर अपने सिद्धान्तों की स्थापना करे, सफलता तभी मिलेगी जबकि वे तथ्यों पर आधारित हों अन्यथा उनसे केवल जनता को भ्रम में डाला जाएगा, विकास की प्रक्रिया में अवनति होगी और मानव-शक्ति तथा प्रयास का भारी अपव्यय होगा।

राष्ट्रवाद का सन्देश

श्री अरविन्द के राजनीति दर्शन में, जैसाकि अगले अध्याय में विस्तृत रूप से विवेचन किया जाएगा, राष्ट्र ही सबसे बड़ा देवता है यद्यपि इस राष्ट्र-देवता के चरणों में श्री अरविन्द ने व्यक्ति का बलिदान कभी नहीं किया क्योंकि व्यक्तियों ने इस देवता को देवत्व प्रदान किया है, उन्हीं के कारण यह देवता कहलाता है। इसी प्रकार उन्होंने कभी भी मानवता को राष्ट्रीयता के आधीन नहीं किया क्योंकि उनके अनुसार राष्ट्रीयता और मानवता दोनों के पीछे एक ही परम सद्वस्तु है और राष्ट्रीयता अथवा मानवता नहीं बल्कि वह परम तत्त्व ही हमारा परम लक्ष्य है, उसी के मार्ग में आगे बढ़ते हुए हमें क्रमशः राष्ट्रीयता और मानवता जैसे तत्त्व मिलते हैं। आज की कूटनीति में व्यक्तियों और राष्ट्रों को विशेष राष्ट्र के हितों की सिद्धि के लिए साधन के रूप में प्रयोग किया जाता है। राष्ट्रवादी होते हुए भी श्री अरविन्द इस प्रकार की कूटनीति या राजनीति के विरुद्ध हैं। उनका राजनीति दर्शन यथार्थवादी है, किन्तु उनका यथार्थवाद सब-कहीं सर्वांग और आध्यात्मिक आदर्शवाद तथा अपने में और सभी मानवों में दैवी तत्त्व के अनुभव पर आधारित है।

स्वदेशी की नैतिकता

गांधीजी के आगमन से बहुत पहले श्री अरविन्द ने राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व किया और स्वदेशी के सिद्धान्त का समर्थन किया। उनका कहना था कि स्वदेशी राजनीतिक और नैतिक दोनों ही दृष्टिकोण से उचित है। उनके अनुसार राजनीति, कानून और सरकार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में बाधक होते हुए भी समष्टि के व्यापक हितों के लिए आवश्यक हैं। समाज को मनुष्य की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करने का अधिकार है यदि उससे समाज के हितों में बाधा पड़ती हो। इस प्रकार देश में व्यक्तियों पर स्वदेशी का नियम लागू किया जा सकता है। 'बायकाट' उस नियम का निषेधात्मक पहलू है जिसका 'स्वदेशी' विधायक पहलू है। 'स्वदेशी' के नियम के अनुसार हम जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपने ही देश की वस्तुओं को प्रयोग करते हैं। कोई भी राष्ट्र एक ओर सदस्यों से स्वदेशी के प्रयोग की माँग कर सकता है और दूसरी ओर विदेशी सामान के बायकाट की माँग कर सकता है। श्री अरविन्द के राजनीति दर्शन में स्वदेशी का केवल यही अर्थ नहीं है बल्कि वह स्वधर्म से जुड़ा हुआ है। उनके अनुसार व्यक्ति के समान प्रत्येक राष्ट्र की एक अपनी आत्मा होती है और जैसे व्यक्ति को उसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र

को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी आत्मा का अनुगमन करना चाहिए। व्यक्ति के समान राष्ट्र का लक्ष्य भी आत्मसाक्षात्कार है, यह तभी हो सकता है जबकि प्रत्येक राष्ट्र स्वदेशी के नियम का पालन करे; स्वदेशी भाषा, स्वदेशी वस्त्र, स्वदेशी संस्कृति, स्वदेशी साहित्य, स्वदेशी कला और इसी प्रकार प्रत्येक अन्य स्वदेशी वस्तुओं को प्रोत्साहन दे। किन्तु क्या इसका अर्थ यह हुआ कि श्री अरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय आदान-प्रदान और सहयोग के विरुद्ध थे, वे तो समस्त राष्ट्रों की एकता के समर्थक थे, किन्तु वे सब-कहीं अनेकता में एकता के सिद्धान्त को मानते थे। जिस प्रकार प्रत्येक समाज में व्यक्ति अपने आत्मसाक्षात्कार के मार्ग में आगे बढ़ते हुए दूसरों से आदान-प्रदान करता है और इस आदान-प्रदान के द्वारा भी आत्मसाक्षात्कार करता है वैसे ही विभिन्न राष्ट्रों को अन्य राष्ट्रों से आदान-प्रदान करते हुए भी स्वदेशी के नियम का अनुगमन करना चाहिए। देश परतन्त्र होने पर तो इस नियम का पालन और भी अधिक आवश्यक है।

हिंसा और युद्ध का महत्त्व

श्री अरविन्द ने राष्ट्रीय लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कभी-कभी युद्ध और हिंसा का महत्त्व भी स्वीकार किया है। जब तक लक्ष्य भौतिक, प्राणात्मक अथवा मानसिक या इनमें से कुछ या सबका मिश्रण होता है, तब तक वह साधन का औचित्य निश्चित नहीं करता क्योंकि ऐसा होने से सब-कहीं व्यक्तिगत साध्यों के संघर्ष की आशंका होती है। किन्तु आध्यात्मिक लक्ष्य सभी साधनों को उचित बना लेता है क्योंकि आध्यात्मिक शुभ, चाहे वह व्यक्ति का हो अथवा राष्ट्र का, अन्य व्यक्तियों और राष्ट्रों के आध्यात्मिक शुभ से संघर्ष नहीं करता। आध्यात्मिक स्तर पर भौतिक, प्राणात्मक और मानसिक स्तर के विरोधी तत्त्व परस्पर पूरक हो जाते हैं क्योंकि इस स्तर का मूल लक्षण समन्वय है। श्री अरविन्द के अनुसार कोई भी नैतिक सिद्धान्त स्वयं साध्य नहीं है बल्कि प्रत्येक आध्यात्मिक शुभ का साधन मात्र है। इस प्रकार श्री अरविन्द ने अपने नैतिक दर्शन को मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक सत्यों पर आधारित किया है। जहाँ तक मानव प्रकृति का अंग है, वह उसकी अवहेलना नहीं कर सकता और उसके नियम से परिचालित होता है। प्रकृति का नियम संघर्ष है और इसीलिए मानव-जीवन में संघर्ष अनिवार्य है, परन्तु फिर मानव प्रकृति से अधिक भी है और इसलिए वह कुछ ऐसे नियमों के अनुसार भी कार्य करता है जो प्रकृति के नहीं बल्कि मानवता के विशिष्ट नियम हैं। ये नियम सहयोग, प्रेम और साहचर्य के नियम हैं। इस प्रकार श्री अरविन्द ने प्रकृतिवाद और आदर्शवाद दोनों का समन्वय किया है। उनके अपने शब्दों में, "संघर्ष और विनाश ही सब-कुछ नहीं है, साहचर्य और परस्पर सहायता का मोक्षदायक सिद्धान्त भी है जैसेकि विघटन और परस्पर संघर्षों की शक्ति है, प्रेम की शक्ति स्वार्थमय आत्मस्थापना से कम नहीं है, जिस प्रकार दूसरों को अपने प्रति त्याग करने की प्रवृत्ति है, उसी प्रकार स्वयं अपने को दूसरों के लिए बलि करने की प्रवृत्ति भी है। परन्तु जब हम यह देखते हैं कि इन्होंने वास्तव में कैसे काम किया है तो हमें उनके विरोधियों की शक्ति की अवहेलना करने को आकर्षित नहीं होना चाहिए।"[27] एक बार मानव आध्यात्मिक चेतना प्राप्त कर लेता है तो साधन और साध्य का द्वैत

अन्तर्ध्यान हो जाता है। उसके कार्य, चाहे वे हिंसात्मक भी क्यों न हों, प्रत्यक्ष रूप से दैवी चेतना से निसृत होते हैं। यह सोचना कि ईश्वर केवल प्रेम है, एकांगी विचार है क्योंकि इसका विरोधी निर्णय भी ईश्वर के बाहर नहीं हो सकता। विकास जब तक कि वह मानसिक स्तर तक रहता है, संघर्ष के बिना नहीं हो सकता। जगत् की वर्तमान स्थिति में हिंसा और युद्ध न केवल उचित है बल्कि कभी-कभी नैतिक दृष्टि से अनिवार्य हो जाते हैं। तब वे आध्यात्मिक आवश्यकता होते हैं जिनके लिए नैतिकता स्वयं साधन से अधिक कुछ नहीं है।

12
धर्म

> "धार्मिक जीवन आध्यात्म की ओर पहला कदम हो सकता है परन्तु बहुधा वह संस्कारों के चक्र, अर्थ-व्यवस्थाओं और व्यवहारों के सुनिश्चित विचारों और रूपों की ओर मुड़ना होता है जिसमें कोई समस्या नहीं है। दूसरी ओर, आध्यात्मिक जीवन प्रत्यक्ष रूप से चेतना के परिवर्तन से आगे बढ़ता है, साधारण चेतना, सच्ची आत्मा और ईश्वर से पृथक् और अज्ञानमय चेतना से एक महान् चेतना की ओर परिवर्तन जिसमें कि हमें अपने वास्तविक सत के दर्शन होते हैं और हम दैवी शक्ति से पहले प्रत्यक्ष एवं जीवित सम्पर्क में आते हैं और तब उससे एक हो जाते हैं।"[1] —श्री अरविन्द

पिछले अध्यायों में किए गए विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि मनुष्य के सामाजिक विकास को प्रेरित करने और निर्देशित करने के लिए बुद्धि और विवेक पर्याप्त नहीं हैं। वास्तव में यहीं पर मानव-संस्कृति, शिक्षा, विज्ञान, दर्शन और नैतिकता के क्षेत्र में विवेक मानव के सामाजिक विकास को एक सीमा से आगे ले जाने में असमर्थ होता है। इसीलिए आज मानव-सभ्यता क्रमशः पतन की ओर जा रही है। इससे पणालियों को बदलने की समस्या उत्पन्न होती है, क्योंकि पुरानी प्रणालियों की सीमाएँ समाप्त हो चुकी हैं, तथा समस्या यह है कि इससे पहले कि वर्तमान प्रणालियों की असफलता से कोई भयंकर परिणाम हो, नवीन और अधिक प्रभावशाली प्रणालियों का पता लगा लिया जाए। सामाजिक विकास की यह प्रणाली सामाजिक विकास के लक्ष्य और आदर्श के अनुरूप होनी चाहिए। श्री अरविन्द के समाज दर्शन में बौद्धिक संस्कृति, शिक्षा, कला और साहित्य, दर्शन और विज्ञान, और यहाँ तक कि नैतिकता को भी अपर्याप्त पाया गया है, इसलिए नहीं कि सामाजिक विकास में उनका योगदान बहुत थोड़ा है, बल्कि इसलिए कि सामाजिक विकास के सम्पूर्ण आदर्श को पूरी तरह प्राप्त करना उनकी पहुँच से परे है।

हिन्दू-जीवन में धर्म का मूल्य

यहाँ पर, धर्म निश्चित रूप से मानव की बौद्धिक संस्कृति, विज्ञान और नैतिकता, कला और साहित्य एवं दर्शन पर भी विकास है, "क्योंकि धर्म मनुष्य में वह मूलप्रवृत्ति,

विचार क्रिया और अनुशासन है जिसका लक्ष्य सीधे दैवी शक्ति है जबकि अन्य सब उसकी ओर केवल परोक्ष रूप से जाते हैं और कठिनाई से उस पर पहुँचते हैं तथा कई जगह ठोकरें खाते हैं और वस्तुओं की अपूर्ण तथा बाह्य प्रतीतियों में फँस जाते हैं।"[2] मानव-इतिहास में धर्म सदैव न केवल पूर्व में बल्कि पश्चिम में भी एक प्रभावशाली प्रवृत्ति रहा है।

धर्म के विरुद्ध विद्रोह

किन्तु निकट भूतकाल में अनेक विचारकों ने, जिनमें फ्रायड, रसल और मार्क्स शामिल हैं, धर्म को केवल व्यर्थ ही नहीं बल्कि निश्चित रूप से हानिकारक बतलाया है। फ्रायड के अनुसार, धर्म आदिम पिता की शान को फिर से स्थापित करता है और उसके प्रति संवेगों को दोहराने की सम्भावना उपस्थित करता है।[3] "वह मानवता का सार्वभौम स्नायविक रोग है।"[4] वह एक 'भ्रान्ति' है जो ज्ञान के विकास के साथ बिखर जाएगी। फ्रायड ने केवल टोटमवाद, प्रकृतिवाद और पशु-पूजा के धर्म का ही तिरस्कार नहीं किया है बल्कि स्पष्ट शब्दों में समस्त धर्म की आलोचना की है। वे कहते हैं, "ज्ञान के फल जितने ही अधिक मनुष्य को प्राप्त होते जाएँगे, उतना ही अधिक धार्मिक विश्वासों का पतन फैलेगा, सबसे पहले उसकी बीती हुई और व्यर्थ अभिव्यक्तियों का और तब उसकी मूल मान्यताओं का भी।"[5] धर्म के विषय में फ्रायड के निष्कर्ष उस पहलू के निरीक्षण पर आधारित हैं जिसको कि श्री अरविन्द ने 'धर्मवाद' कहा है, यह धर्मवाद सच्चे धर्म से भिन्न है और इसी के आधार पर धर्म और विज्ञान में विरोध दिखलाया जाता है। फ्रायड के शब्दों में, "जैसा कि आप जानते हैं, वैज्ञानिक चेतना और धार्मिक विश्वरूप में संघर्ष अभी समाप्त नहीं हुआ है, वह आज भी हमारी आँखों के सामने बराबर हो रहा है।"[6] किन्तु फ्रायड की इस मान्यता को पश्चिम के वैज्ञानिकों ने भी चुनौती दी है। वे धर्म को चाहे कितना ही अप्रासंगिक मानते हों, किन्तु वे उसे विज्ञान के विरुद्ध नहीं समझते। प्रो० जे० एच० ल्यूबा तक, जिन्होंने कि रहस्यवादी अनुभव को मानसिक रोग की उपमा दी है, मानव-जीवन में धर्म के मूल्य से इनकार नहीं करते। फ्रायड के विपरीत, वे कहते हैं, "धर्म और विज्ञान को एक बेहतर और अधिक आनन्दित, एक अधिक दैवी मनुष्य के जन्म के लिए हाथ में हाथ मिलाकर काम करना है।"[7] वर्तमान काल में यही दृष्टिकोण सब-कहीं प्रचलित है, भले ही कुछ लोग सन्देहवादी और भौतिकवादी दिखलाई पड़ते हों। मानव-जीवन से धर्म को निकाला नहीं जा सकता, क्योंकि वह मूलप्रवृत्तिजन्य है, केवल उसका रूप बदला जा सकता है।

धर्म-विरोधी प्रवृत्तियों का सत्य

परन्तु फ्रायड, मार्क्स और अन्य विद्वानों के द्वारा धर्म की यह आलोचना नितान्त व्यर्थ नहीं है। विकास में निम्नगामी वक्र का भी अपना कारण होता है और यदि गलतियों को दोहराना नहीं है तो उसे भी समझा जाना चाहिए। इस प्रकार इन धर्म-विरोधी प्रवृत्तियों के पीछे भी कुछ सत्य अवश्य है। यह सत्य उनके निष्कर्ष में

नहीं बल्कि उनकी पूव-मान्यताओ में है। धर्म के विरुद्ध यह विद्रोह इस तथ्य मे औचित्य रखता है कि धर्मों और उनके अनुयायियों में सब-कहीं बहुधा प्रतिगामी प्रवृत्तियों, दमन और अज्ञान की शक्तियों का समर्थन किया गया है। चर्चों, सम्प्रदायों और धार्मिक समूहों ने बहुधा अन्धविश्वासों, भूलों, हिंसा और अपराधों का अपने लाभ के लिए प्रयोग किया है। किन्तु इससे हमें सम्पूर्ण धर्म का तिरस्कार करने का अधिकार नहीं मिलता जैसे कि स्वतन्त्रता के नाम पर किए गए अपराधों और भूलों से उसके पूर्ण तिरस्कार के लिए पर्याप्त आधार नहीं मिलता। श्री अरविन्द के शब्दों में, "यह लड-खड़ाता हुआ इतिहास सभी मानव-प्रयासों में दिखलाई पड़ता है, और यदि यह धर्म के सत्य और आवश्यकता के विरुद्ध महत्त्व रखता है, तो उसका मानव-प्रयासो की अन्य दिशाओं में भी सत्य और महत्त्व होगा, मनुष्य की सभी क्रियाओं, उसके आदर्शों, उसके विचार, उसकी कला, उसके विज्ञान के विरुद्ध महत्त्व होगा।"[8] किन्तु धर्म की इस आवश्यकता पर जोर देने का तात्पर्य ऐतिहासिक तथ्यों के निष्पक्ष विश्लेषण और धर्म की भूलो की जाँच की राह में नहीं आना चाहिए। धर्म के नाम पर अनेक पाप सम्भव हुए हैं, यह उसके कारणों की जाँच करने का पर्याप्त कारण है। राजनीति के निर्देशन करने का धर्म का दावा इस तथ्य को देखते हुए कैसे उचित माना जा सकता है कि धर्म के नाम पर सब-कहीं भयंकर युद्ध हुए हैं और उत्पीड़न किए गए हैं। धर्म के नाम पर फैली हुई व्यापक हिंसा को देखते हुए उसे नैतिकता और समाज के नियन्त्रण की शक्ति कैसे माना जा सकता है ? मध्यकालीन यूरोप के इतिहास में ईसाइयत के नाम पर व्यापक रक्तपात की कोई कैसे अवहेलना कर सकता है ?

धर्म के मूल दोष

जिस प्रकार मानव-जीवन के अन्य क्षेत्रों में दिखाई पड़ता है, धर्म के दोष भी बुद्धि से न्यून पहलुओं में हैं। श्री अरविन्द के अनुसार, बुनियादी भूल, "धर्म को एक विशिष्ट सम्प्रदाय, विश्वास, धार्मिक समाज अथवा चर्च समझ लेने के हमारे अज्ञान मे है।"[9] यही अज्ञान असहिष्णु धार्मिक व्यक्तियों के द्वारा सुकरात को जहर देकर मार दिए जाने में देखा गया था। एक समय था जबकि हिन्दुओं ने भी बौद्धों, जैनों, शैवों और वैष्णवों के प्रति घृणा फैलाई और उन पर अत्याचार किए। दर्शन और विज्ञान में नास्तिकता, धार्मिक हठवादिता और हिंसा के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है जिसने बहुधा अपनी कठोरताओं और शुद्धतावादी प्रवृत्तियों से जीवन के सच्चे आनन्द व सौन्दर्य को पददलित किया है और यह भुला दिया है कि प्रेम, शराफत, दान, सहिष्णुता और कृपा भी दैवी होते हैं, क्योंकि, "ईश्वर प्रेम और सौन्दर्य और शुद्धता है।" राजनीति के क्षेत्र में धर्म ने बहुधा सत्ता के साथ गठबन्धन किया है और ईश्वर के राज्य के स्थान पर पोप अथवा पुजारियों का राज्य स्थापित करने की चेष्टा की है। राज-नीतिक और सामाजिक क्षेत्रों में धर्म ने बहुधा सब प्रकार के सुधारों का विरोध किया है। इस प्रकार धर्म को चर्च अथवा सम्प्रदाय मान लेने से जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कठिना-इयाँ उत्पन्न हुई हैं जिसके परि———— दर्शन कला विज्ञान साहित्य राजनीति

और यहाँ तक कि नैतिकता को भी धर्म को अपने जीवन का नियम बनाने के स्थान पर उसके विरुद्ध विद्रोह करने की आवश्यकता हुई है।

अतियों का मिलन

धर्म के दोषों के इस विश्लेषण से श्री अरविन्द के धर्म दर्शन में अतियों के मिलन का आधार बना है। धर्म के विरुद्ध पाश्चात्य विद्रोह वहाँ तक सच्चा है जहाँ तक कि वह इस तथ्य पर आधारित है कि बहुधा धर्म ने धर्मवाद का रूप ग्रहण किया है। जीवन के नियम के रूप में पूर्व का धर्म पर जोर वहाँ तक सच्चा है जहाँ तक कि वह सच्चे धर्म की ओर इंगित करता है। इस प्रकार पाश्चात्य लौकिक और पूर्वी धार्मिक आदर्शों को एक ही सद्वस्तु के दो पहलू मानना चाहिए। धर्म और धर्मवाद में सूक्ष्म अन्तर दिखलाकर श्री अरविन्द ने प्राचीन और आधुनिक, पौर्वत्य और पाश्चात्य दृष्टिकोणों का समन्वय किया है। उनके अपने शब्दों में, "सच्चा धर्म आध्यात्मिक धर्म है, वह जोकि आत्मा में जीवन बिताने की चेष्टा करता है, जोकि बुद्धि के परे, सौन्दर्यात्मक और नैतिक प्रवृत्ति से परे, मानव के व्यावहारिक पहलू के परे है और जोकि हमारे सत के इन सब सदस्यों को अनुप्राणित करता है और उन पर उच्चतर प्रकाश एवं आत्मा के नियम के द्वारा शासन करता है। दूसरी ओर, धर्मवाद स्वयं को निम्न सदस्यों के एक सकीर्ण और अनुचित विकास में सीमित कर लेता है अथवा बौद्धिक विश्वासों, रूपों और पाखण्डों पर, कुछ स्थिर और कठोर नैतिक नियमों पर तथा कुछ धार्मिक, राजनीतिक अथवा धार्मिक-सामाजिक व्यवस्था पर अत्यधिक जोर देता है।"[10] किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि धर्म के क्षेत्र में रूपों, मतों, व्यवस्थाओं और कर्मकाण्ड का कोई अर्थ नहीं है। मनुष्य के बुद्धि से निम्न और बौद्धिक पहलुओं के लिए इनकी भी आवश्यकता होती है। किन्तु ये साधन हैं, साध्य नहीं हैं। साधनों के विषय मे प्रमुख सिद्धान्त सहिष्णुता और उन्मुक्त परिवर्तन हैं।

धर्म का आदर्श आध्यात्मिकता है। किन्तु, यह आध्यात्मिकता, जीवन का निषेध नहीं है, क्योंकि जैसाकि श्री अरविन्द ने बतलाया है, तपस्वी का नकार उतना ही एकागी है जितना कि भौतिकवादी का निषेध। धर्म का सामाजिक विकास से कोई भी सम्बन्ध नहीं हो सकता यदि उसका लक्ष्य जीवन का निषेध करता है। धर्म को तो मानव के सम्पूर्ण सत को सन्तुष्ट करना चाहिए। उसे उसके भौतिक, प्राणात्मक और मानसिक सत को पूर्ण करना चाहिए। इनमें से किसी के भी अधिकार की अवहेलना से धर्म के विरुद्ध विद्रोह होगा। धर्म और जीवन में यह परस्पर द्वैत निराशावादी और कठोरतावादी सम्प्रदायों की ओर ले गया है जैसाकि ईसाई रहस्यवादियों और मध्य यूरोप के कोड़बाजों में देखा गया था। वह पलायनवाद और भ्रष्टाचार की ओर ले जाता है जैसाकि बाद के बौद्धों में दिखलाई पड़ा था। परन्तु फलवादियों, मानववादियों, साधनवादियों, उपयोगितावादियों और विज्ञान की श्रेष्ठता में विश्वास करने वाले विचारकों के द्वारा धर्म को जीवन और उपयोगिता के आधीन बना देना उतना ही एकांगी और अज्ञानपूण विचार है अपने गुरू विलियम जम्स के समयन मे प्रोफेसर ज० एच० ल्यूबा

ने कहा है, "ईश्वर जाना नहीं जाता, वह समझा नहीं जाता, वह प्रयोग किया जाता है।"[11] यह प्रकृतिवाद, जैसाकि प्रो० प्रिंगल पैटीसन ने ठीक ही दिखलाया है, एक पतन का दर्शन है। मनुष्य में बुद्धि से निम्न तत्त्व को लौकिक अथवा बौद्धिक नियन्त्रण से उसकी प्रवृत्तियों पर कृत्रिम बाधाएँ उपस्थित करके रूपान्तरित नहीं किया जा सकता। केवल एक उच्चतर धर्म का आध्यात्मिक प्रकाश ही उन्हें रूपान्तरित और प्रकाशित कर सकता है।

धर्म का सार आध्यात्मिकता

इस प्रकार आध्यात्मिकता धर्म का सार-तत्त्व और कसौटी है। सामाजिक विकास की एक प्रणाली के रूप में धर्म की सफलता उसके आध्यात्मिक तत्त्व पर निर्भर है। कोई भी धर्म उतना ही उपयोगी है जितना कि वह आध्यात्मिक है। जहाँ आध्यात्मिकता नहीं है वहाँ धर्म एक सामान्य मानव-क्रिया है जो शक्तिशाली होते हुए भी उसके जीवन में निर्देशन का सिद्धान्त नहीं बन सकती। यह आध्यात्मिकता सीमा बाँधने, स्थिर करने अथवा व्यवस्थाएँ बनाने के विरुद्ध है। इसकी पूर्ति तो स्वतन्त्रता से होती है जिसका अर्थ फैलने और पूर्णता की ओर बढ़ने की शक्ति है जिसमें स्वप्रकृति का नियम काम करता है। श्री अरविन्द के अनुसार, सच्चा धर्म आध्यात्मिक प्रवृत्ति को उसकी पूर्णता में अनुगमन करना है, और आध्यात्मिकता, "सर्वोच्च आत्मा, दैवी शक्ति, सर्वग्राही इकाई को जानने का प्रयास और उसमें जीने का प्रयास तथा जीवन को उसके सभी भागों में सर्वोच्च दैवी मूल्य तक उठाने का प्रयास है।"[12] आध्यात्मिकता पर आधारित एक धर्म दर्शन, विज्ञान, कला, सामाजिक और राजनीतिक क्रियाओं को स्वतन्त्रता और पूर्णता प्रदान करेगा और चारों ओर से उनके महानतम, सर्वोच्च और गहनतम सम्भावनाओं को प्रकाशित करेगा।

बुद्धि की अपर्याप्तता

इस प्रकार बुद्धि धर्म के सत्यों को नहीं समझ सकती। इसका एक उदाहरण हेगेल के शिष्यों प्रिंसिपल केयर्ड इत्यादि के द्वारा धर्म की बौद्धिक व्याख्या में दिखलाई पड़ता है। प्रिंसिपल केयर्ड कहते हैं, "जो कुछ बुद्धि के परे है वह केवल अबौद्धिक और इसलिए निरर्थक है।"[13] प्रिंसिपल केयर्ड ने यह कहकर धर्म के क्षेत्र में बुद्धिवादियों के अज्ञान का परिचय दिया है, क्योंकि वास्तव में धर्म का सार अतिबौद्धिक है। वैज्ञानिक विधियों पर आधारित धर्म के मनोवैज्ञानिक विश्लेषणों में, 'मनोवैज्ञानिक भ्रान्ति' दिखलाई पड़ती है। कोई भी व्यक्ति स्वयं धार्मिक हुए बगैर धर्म को नहीं जान सकता। आलोचनात्मक बुद्धि से धर्म को उसी प्रकार नहीं जाना जा सकता जिस प्रकार कोई बालक वयस्क के विचारों को अथवा अज्ञानी पुरुष महान् वैज्ञानिक के सिद्धान्तों को नहीं समझ सकता। इस प्रकार का प्रयास अधिक-से-अधिक सतह को छूता है, आन्तरिक सार तक कभी नहीं पहुँचता। श्री अरविन्द के शब्दों में, बौद्धिक धर्म "एक विचित्र मृगतृष्णा है"[14] बौद्धिक विवेक या तो खण्डन कर सकता है या सुधार सुझा सकता है या अधिक-

से-अधिक धर्म के क्षेत्र में निम्न स्तर पर कुछ स्पष्टीकरण कर सकना है। इन सेवाओं का अपना मूल्य है, किन्तु इनसे धर्म का सत्य पता नहीं चलता। धर्म के अति भौतिक सत के भौतिक प्रमाण की सन्देहवादी की माँग प्रामाणिकता के सिद्धान्त की विरोधी है। अनुभव के प्रत्येक स्तर की प्रामाणिकता की एक अपनी कसौटी होती है। धार्मिक सिद्धान्त प्रामाणिक हैं, किन्तु केवल चैत्य अनुभव के द्वारा जाने जा सकते हैं। विज्ञान के सामान्यीकरण के द्वारा धर्म को नहीं समझा जा सकता। सभी धर्मों के सामान्य बाह्य लक्षणों को जोड़कर धर्म का सार पता नहीं लगाया जा सकता जैसाकि प्रसिद्ध इतिहासकार आर्नोल्ड टायनबी ने कोशिश की है। धर्म के सत्यों को ऐतिहासिक विधि से नहीं बल्कि मनोवैज्ञानिक विधि से जाना जा सकता है। किन्तु यह मनोवैज्ञानिक विधि भी प्रो० ल्यूबा या विलियम जेम्स तथा अन्य मनोवैज्ञानिकों की निरीक्षण की प्रणाली नहीं है और न अन्तर्दर्शन है बल्कि व्यक्तिगत अनुभव पर आधारित विश्लेषण है। धर्म का एक तुलनात्मक विज्ञान व्यर्थ है और विश्वसनीय नहीं है, क्योंकि धर्म का लक्ष्य, क्षेत्र और प्रक्रिया अति बौद्धिक है। वह केवल आत्म-अतिक्रमण, पूर्ण आत्मसमर्पण, आन्तरिक अनुभव और अभीप्सा से जानी जा सकती है। मनुष्य की समस्त शक्तियाँ उसकी प्रेरणाओं, अन्तर्अनुभूतियों, अन्तर्दृष्टियों और साक्षात्कारों में समाहित हो जाती है। उसका प्रेम असीम है। उसका आनन्द चेतना के परे है। उसका समर्पण सम्पूर्ण और शर्तहीन है। उसका मार्ग निरपेक्ष है, उसका फल अवर्णनीय है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "धर्म का गुह्यतम हृदय, आन्तरिक सार, बाहरी मतों, सम्प्रदायों, विधियों और चिह्नों के यन्त्र से परे, ईश्वर की खोज और ईश्वर को पाना है। उसकी अभीप्सा असीम की खोज, निरपेक्ष, एक दैवी तत्त्व की खोज है, जोकि वह इन वस्तुओं में है और फिर भी अमूर्त्तकरण नहीं है बल्कि सत है। उसका कार्य मानव और ईश्वर में सच्चे और आन्तरिक सम्बन्धों को स्थापित करना है, एकता के सम्बन्ध, अन्तर के सम्बन्ध, एक प्रकाशित ज्ञान के सम्बन्ध, एक अलौकिक प्रेम और आनन्द, एक निरपेक्ष आत्म-समर्पण और सेवा, हमारे अस्तित्व के प्रत्येक अंश को उसकी सामान्य स्थिति से निकालकर एक नए साँचे में ढालना, और मनुष्य की दैवी तत्त्व की ओर प्रगति तथा दैवी तत्त्व का मनुष्य में उतरना।"[15]

धर्म का दर्शन

स्पष्ट है कि धर्म के क्षेत्र में बुद्धि आज्ञा नहीं दे सकती। परन्तु वह पूरी तरह व्यर्थ नहीं है। यदि वह अनुभव के आधीन रहे तो इस क्षेत्र में भी वह एक महत्त्वपूर्ण कार्यभाग अदा कर सकती है। तार्किक सम्भावनाएँ नहीं बल्कि तादात्म्य का अनुभव ही तात्त्विक सुनिश्चितताओं की ओर ले जाता है। धार्मिक अनुभव को बुद्धि के स्थिर साँचों में बाँधने का प्रयास उस पर एक विदेशी योजना को लागू करना है। श्री अरविन्द ने धर्म दर्शन की आवश्यकता और सम्भावना स्वीकार की है। परन्तु धर्म दर्शन के क्षेत्र में बुद्धि को अति बौद्धिक अनुभवों को विश्वासपूर्वक वर्णन मात्र करना चाहिए। "उसका एक मात्र उचित क्षेत्र य   अपनी भाषा में और मनुष्य के बौद्धिक पहलुओं तथा

बुद्धि को, हमारी अति बौद्धिक और आध्यात्मिक चेतना के सत्यों, अनुभवों और नियमों को समझाना है।"[16] इसके लिए एक ऐसी भाषा की आवश्यकता है जोकि आध्यात्मिक अनुभवों को बुद्धिगम्य बनाने के लिए पर्याप्त रूप से नमनीय और समृद्ध हो।

इस प्रकार धर्म दर्शन अपना कुछ प्रयोजन रखता है और इसलिए अनिवार्य है। श्री अरविन्द ने कहा है, "धर्म एक क्षण भी खड़ा नहीं रह सकता, यदि वह अपने को बौद्धिक व्याख्याओं से समर्थित नहीं करता, चाहे कि वे महान् सत्यों के लिए कितनी ही अपर्याप्त क्यों न हों।"[17] धर्म के बुद्धि से निम्न पहलू में बुद्धि की आवश्यकता और भी अधिक होती है; यह मूलप्रवृत्तियों, संवेदनाओं, स्थूल संवेगों और प्राणात्मक क्रियाओं का क्षेत्र है। प्रकृति-पूजा, टोटमवाद, पशु-पूजा तथा आदिम धर्मों में ये तत्त्व अत्यधिक मात्रा में दिखलाई पड़ते हैं। अन्य धर्मों मे इन्हीं तत्त्वों के कारण अस्वीकृतियाँ, अज्ञान और अन्धविश्वास देखे जाते हैं। यहाँ पर प्रकाशित करने, शुद्ध करने और बौद्धिक बनाने के लिए विवेक की आवश्यकता है। इस प्रकार धार्मिक इतिहास में रूढ़िगत, भ्रष्ट और हानिकारक तत्त्वों को नष्ट करने का महत्त्वपूर्ण कार्य बुद्धि ने किया है। किन्तु यह प्रक्रिया अपनी सीमा से आगे बढ़कर धर्म को दरिद्र बनाने की ओर ले गई। धर्म विवेक पर आधारित नहीं होता बल्कि आस्था पर जीता है। बुद्धि से निम्न तत्त्वों को धर्म से निकालने की आवश्यकता नहीं है बल्कि आध्यात्मिक प्रकाश से उन्हें शुद्ध करने और ऊपर उठाने की आवश्यकता है। जैसाकि श्री अरविन्द ने संकेत किया है, "यदि धर्म को कोई निश्चित कार्यभाग अदा करना है, तो वह बौद्धिक विवेक होने की तुलना में अन्तर्दृष्टिमय विवेक होना चाहिए जोकि सदैव आध्यात्मिक गहनता और सूझ-बूझ से अनुप्राणित हो।"[18] यहाँ पर विवेक और बोध मे कोई विरोध नहीं है। आध्यात्म तत्त्व मानव-प्राणी की अन्य शक्तियों के समान बुद्धि को भी ऊपर उठाता है, प्रकाशित करता है, और अपने प्रकाश, शक्ति तथा आनन्द से रूपान्तरित करता है।

धर्म का विकास

धर्म के अनिवार्य तत्त्व के सत्य को श्री अरविन्द ने धर्म के विकास के इतिहास मे दिखलाया है। विकास का तत्त्व धर्म के अनिवार्य चरित्र में अन्तर्दृष्टि देता है जोकि उसके बदलते हुए रूपों में न्यूनाधिक रूप से सदैव एक-सा रहा है। यही तत्त्व धर्म के विविध रूपों को जोड़ने वाली इकाई है। यह धर्म की बाह्य विविधताओं में आन्तरिक एकता स्थापित करता है। यह धर्म के विषय में मनोविश्लेषणात्मक निष्कर्षों और धर्मशास्त्रियों के सिद्धान्तों की सीमाएँ दिखलाता है। यह धर्म का एक सही, सहिष्णु और गतिशील परिप्रेक्ष्य देता है।

विकास, चाहे वह धर्म का हो, अथवा मानव-जीवन में किसी अन्य का हो, सदैव क्रमशः आगे बढ़ता है, क्योंकि उसे आगे बढ़ने की क्रिया में मूलप्रवृत्तिजन्य, निरोधक और अज्ञान की प्रवृत्तियों की निम्नगामी गति से संघर्ष करना पड़ता है। यही कारण है कि धम का जन्म टोटम पशु-पूजा अथवा प्रकृति-पूजा में अत्यन्त स्थूल

और अपूर्ण रूप में दिखलाई पड़ता है। जैसे-जैसे प्राणात्मक और मानसिक विकास बढ़ता जाता है, प्रवृत्तियाँ बौद्धिक संरचना के आधीन होती जाती हैं। इस प्रकार आदिम धर्म क्रमशः सम्प्रदायों, संस्थाओं, औपचारिक क्रियाओं और नैतिकता का रूप ग्रहण कर लेता है। इस अवस्था में आध्यात्मिक अनुभव तक आस्था, संवेगात्मक भक्ति और नैतिक आचरण के आधीन कर लिया जाता है। बौद्धिक प्रवृत्ति अन्त में धर्म के क्षेत्र से सभी अति भौतिक तत्त्वों के निराकरण की ओर ले जाती है। धार्मिक सम्प्रदायों से स्वतन्त्र कुछ व्यक्तियों में बौद्धिक प्रवृत्ति के कारण आत्मगत प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। इस अवस्था पर आकर धर्म फिर से अपने सत्य आध्यात्मिक अनुभव की ओर लौटता है।

रहस्यवाद और धर्म

धर्म में आध्यात्मिक तत्त्व दो रूपों में दिखलाई पड़ता है, आन्तरिक और बाह्य, रहस्यवादी का मार्ग और धार्मिक मनुष्य का मार्ग। श्री अरविन्द के अनुसार धर्म के ये दो रूप विकासवादी प्रवृत्ति में दोहरा सिद्धान्त दिखलाते हैं, "गहरे एवं एकत्रित विकास का सिद्धान्त जोकि बहुत थोड़े से क्षेत्र में होता है और व्यापकता एवं विस्तार का सिद्धान्त।" धर्म में रहस्यवादी प्रणाली अत्यधिक केन्द्रित, गतिशील और प्रभावशाली आन्दोलन है। धार्मिक मार्ग में विस्तार और स्थिति दोनों देखे जा सकते हैं। इस प्रक्रिया में आध्यात्मिक तत्त्व मिश्रित हो जाता है जिसमें सत्य की बहुत हानि होती है और धार्मिक शक्तियों का दुरुपयोग होता है। बौद्धिक रचनाएँ मत, सम्प्रदायों, रीति-रिवाजों, कर्मकाण्ड के मृतक ढेर की ओर ले जाती हैं जिससे आत्मा का यन्त्रीकरण होता है। अस्तु, रहस्यवादियों ने अपने रहस्यों को कुछ थोड़े से साधकों तक ही सीमित रखा। किन्तु कुछ कठिनाइयों के बावजूद धर्म का जनतन्त्रीयकरण एक अनिवार्य एवं व्यापक आन्दोलन है जोकि विकासवादी प्रकृति में आध्यात्मिक प्रवृत्ति पर आधारित है। विकास के व्यापक लक्ष्य को पूरा करने के लिए धर्म में सहिष्णुता और नमनीयता जरूरी है। जैसाकि श्री अरविन्द ने लिखा है, "एक धर्म, जोकि स्वयं अनेक धर्मों का समूह हो, और जोकि प्रत्येक मानव को उसके आन्तरिक अनुभव प्रदान करे, प्रकृति के इस प्रयोजन के सर्वाधिक अनुकूल होगा, वह आध्यात्मिक विकास और वृद्धि का एक समृद्ध उद्यान, आत्मा के अनुशासन, प्रयास और आत्मसाक्षात्कार का एक विशाल विविध रूप वाला विद्यालय होगा।"[19] धर्म के क्षेत्र में इस प्रकार का उदाहरण भारत में देखा जा सकता है। इसकी एक मात्र दुर्बलता धार्मिक-सामाजिक व्यवस्था पर आधारित होना है जिसमें नमनीयता समाप्त हो जाती है। धर्म में कुछ-न-कुछ व्यवस्था आवश्यक है परन्तु वह विकासमान व्यवस्था होनी चाहिए, अन्यथा भारतीय हिन्दू-धर्म में आत्मा उसके मूल तत्त्वों में बनी रही है।

सामाजिक विकास की प्रणाली के रूप में धर्म

श्री अरविन्द ने लिखा है आध्यात्मिक प्राणी के विकास के मार्ग को ध्यान में रखते हुए हमें दो तरफ से विचार करना होगा साधन का विचार प्रकृति के द्वारा

प्रयोग की गई विकास की रेखाओं का विचार और मानव-व्यक्तित्व में उसके द्वारा प्राप्त किए गए वास्तविक परिणामों का दृष्टिकोण ।"[20] अभी तक हमने धर्म के द्वारा प्राप्त किए गए वास्तविक परिणामों पर विचार किया है। अब हम प्रकृति के द्वारा इस्तेमाल किए गए विकास के मार्गों में उसका स्थान निर्धारित करेंगे । श्री अरविन्द का समाज दर्शन प्रकृति में विकास के सिद्धान्त पर आधारित है। इस सिद्धान्त को उन्होंने अपने यौगिक अनुभव से पता लगाया था । पाश्चात्य दार्शनिक हेगेल ने प्रकृति की विकासात्मक प्रक्रिया को द्वन्द्वात्मक प्रगति माना है क्योंकि वह आत्मा को विवेक मानता है। श्री अरविन्द ने प्रकृति की विकासवादी प्रक्रिया को योग में आत्मा की वर्तुलाकार प्रवृत्ति माना है । मार्क्स ने हेगेल को सिर से उल्टा करके सीधा करने का प्रयास किया । श्री अरविन्द ने बुद्धि और आत्मा में अन्तर दिखलाकर हेगेल की सीमाएँ दिखलाई । पश्चिम में हेगेल के बाद के दार्शनिकों के विरुद्ध श्री अरविन्द का दृष्टिकोण सर्वांग है क्योंकि उसमें हेगेल के निष्कर्षों के लिए भी उपयुक्त स्थान दिया गया है ।

प्रकृति में विकास की चार रेखाएँ

श्री अरविन्द के अनुसार, "चार रेखाएँ हैं, जिनमें प्रकृति ने आन्तरिक सत, धर्म, पराविद्या, आध्यात्मिक विचार और आन्तरिक आध्यात्मिक साक्षात्कार तथा अनुभव को उन्मुक्त करने के प्रयास में अनुगमन किया है । पहली तीन केवल पहुँचने के लिए हैं और अन्तिम निश्चित प्रवेश के लिए है ।"[21] इस प्रकार धर्म, पराविद्या, दर्शन और योग-प्रकृति में विकास की चार प्रणालियाँ हैं । इनमें से केवल योग ही वास्तविक प्रवेश की प्रणाली है । ये चारों प्रणालियाँ मनुष्य के आत्म-विस्तार की चार आवश्यकताओं के अनुरूप हैं । मनुष्य को स्वयं को और जगत् को जानना है । इसके लिए उसे अपने आन्तरिक, मानसिक, प्राणात्मक, भौतिक और चैत्य तत्त्व को, उसकी शक्तियों और गतियों तथा सार्वभौम नियमों और पराजीवन तथा मानस की प्रक्रियाओं को जानना चाहिए । यह पराविद्या की प्रणाली से प्राप्त होता है। मनुष्य को बाह्य घटनाओं के पीछे छिपी रहस्यमय शक्तियों को ही नहीं जानना है बल्कि उनसे सम्बन्ध भी स्थापित करना है और अपने को अपूर्णता से निकालकर उनके स्तर पर ले जाना है। यह कार्य धर्म पूरा करता है । रहस्यवादी ज्ञान पुनः, वस्तुओं के सिद्धान्तों और इस जगत् में दिखलाई पड़ने वाले सत्यों से सम्बन्धित होना चाहिए । अनुभव बुद्धिगम्य होने चाहिएँ । यह कार्य दर्शन करता है। परन्तु पराविद्या, धर्म और दर्शन द्वारा प्राप्त ज्ञान अनुभव में परिवर्तित होकर चेतना का अंग बनना चाहिए । इसके लिए योग अनिवार्य है।

सामाजिक विकास में धर्म का योगदान

समाज दर्शन धर्म से इतना अधिक सम्बन्धित नहीं है जितना कि सामाजिक विकास में, व्यष्टि और समष्टि की परिपूर्ति को प्राप्त करने में धर्म के योगदान से सम्बन्धित है । यह धर्म को ओर कुछ सिद्धान्तों के समग्र के रूप में नहीं देखता बल्कि एक गतिशील शक्ति के रूप में देखता है जिसका सामाजिक और मानव ८ क

मे सुनिश्चित योगदान है। इस प्रकार, धर्म के आध्यात्मशास्त्रीय और ईश्वर सम्बन्धी पहलुओं के विरुद्ध समाज दर्शन का उसके मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय और विकासवादी पहलुओं से सम्बन्ध है।

धर्म मनुष्य की सामान्य से निम्न और सामान्य से परे जाने की प्रवृत्तियों को अभिव्यक्त करता है। वह चरित्र का विकास करता है और इस प्रकार पतन का उपचार करता है। समाज में पुनर्निर्माण की प्रत्येक क्रिया शुभ में आस्था और मनुष्य की दैवी सम्भावनाओं पर आस्था में आधारित होनी चाहिए जिसके लिए धर्म से प्रेरणा मिलती है। धर्म की जड़ें मनुष्य की ऊपर की ओर देखने की प्रवृत्ति में होती हैं। अस्तु, यदि मनुष्य को आगे बढ़ना है तो धर्म रहना ही चाहिए। वह सामाजिक संस्थाओं में आत्मा को जीवित रखता है और प्रस्तरीकरण की प्रवृत्ति को पीछे हटाता है। वह प्रगति की ओर सामाजिक गतिशीलता बनाए रखता है। वह स्थिरता की ओर ले जाने वाले कारकों की रोकथाम करता है। उसकी आत्मा बहुधा अपर्याप्त और विकृत रूपों में बँध जाती है किन्तु वह बार-बार उन्हें तोड़ता है और फिर से पुनर्निर्माण करता है। धर्म के नाम में उत्पीड़न और हिंसा, धार्मिक युद्धों की पृष्ठभूमि, धर्म नहीं है बल्कि बुद्धि से निम्न प्रवृत्तियों के कठोरतापूर्वक दमन का परिणाम है, पुजारी और राजनीतिक नेता की साँठ-गाँठ का परिणाम है। धर्म बहुधा पलायनवाद का आधार बन जाता है किन्तु पलायनवाद के मूल कारण धार्मिक न होकर सामाजिक हो गए हैं। और यदि धर्म में कुछ समय के लिए पलायन के लिए शरण मिलती भी है तो भी वह विशुद्ध हृदयों में भावी पुनर्निर्माण की अग्नि को जलाए रखता है जिससे अन्त में दमनकारी प्रवृत्तियों के विरुद्ध विद्रोह होता है।

धर्म का सामाजिक आधार

धर्म अपने विशुद्ध रूप में बहुत ही कम दिखलाई पड़ता है। सब-कहीं वह सामाजिक और सांस्कृतिक आदर्शों से अति व्याप्त होता है। लौकिक और धार्मिक में विरोध करना कठिन है क्योंकि वास्तविक जीवन में लौकिक जीवन भी धार्मिक प्रवृत्तियाँ दिखलाता है। वास्तविक विरोध तो लौकिक और कर्मकाण्ड के धर्म मे है, कर्मकाण्ड धर्म का महत्त्वपूर्ण पहलू नहीं है। धर्म का सार तो आध्यात्मिकता है जोकि निरपेक्ष है और इसलिए सापेक्ष प्रत्ययों के आधीन नहीं हो सकती। धर्म का आधार निषेधात्मक अनुभूतियाँ जैसे भय, कमी, अपराधी चेतना और घृणा की अनुभूतियाँ नहीं होनी चाहिएँ, बल्कि जीवन में आनन्द और स्वतन्त्रता की विधायक अनुभूतियाँ होनी चाहिएँ। सामाजिक मूल्यों के गहरे होते जाने के साथ-साथ धार्मिक मूल्य भी गहरे होते गए है। सामाजिक आदर्शों के रूपान्तरण के साथ-साथ धर्म का भी रूपान्तरण हुआ है। यह मनुष्य की भविष्य की ओर अभीप्सा का सूचक है। यह एक ऐसी शक्ति है जिसका शुभ अथवा अशुभ दोनों के लिए प्रयोग किया जा सकता है। जितना ही यह आध्यात्मिकता की ओर जाती है उतना ही वह अपने सच्चे प्रयोजन को पूरा करती है क्योंकि

 ही उसकी चरम परिणति है ईश्वर का प्रत्यय भी गहन और व्यापक

होता रहता है। मनुष्य के मानसिक और आध्यात्मिक विकास के साथ उसकी ईश्वर की धारणा भी आगे बढ़ती है। समुदाय में सांस्कृतिक विकास के साथ-साथ धार्मिक विकास भी होता है। सामाजिक विकास के साथ-साथ धर्म भी आगे बढ़ता है क्योंकि विचार, संस्कृति और आध्यात्मिकता आगे बढ़ती हैं। यह प्रक्रिया जितनी ही अधिक व्यापक होती जाती है, व्यक्तियों और समुदायों में धार्मिक मतभेद उतने ही कम होते जाते हैं। इससे धर्म के सामाजिक आधार का पता चलता है।

धर्म का व्यक्तिगत पहलू

किन्तु इससे धर्म के व्यक्तिगत पहलू को छोटा नहीं मानना चाहिए क्योंकि वह और भी अधिक गहरा, केन्द्रित एवं सार के निकट है। व्यक्तियों के माध्यम से ही धर्म सामाजिक है, व्यक्तिगत धर्मों का जोड़ अथवा उनसे अलग कोई चीज समूह मन जैसी कोई समग्रता व्यक्तियों से अलग नहीं होती। धर्म इसलिए सामाजिक है क्योंकि व्यक्ति सामाजिक है। धर्म का सामाजिक पहलू उसका बाह्य और गौण यद्यपि आवश्यक पहलू है। प्राथमिक रूप से सभी धर्म निजी और व्यक्तिगत होता है। चर्चों, पुजारियों, कर्मकाण्डों और विधि-विधानों की सामाजिक-धार्मिक व्यवस्थाओं के द्वारा धर्म के इस व्यक्तिगत पहलू को कम किए जाने से धर्म में आध्यात्मिक तत्त्व समाप्त होता जाता है। प्रकृति में विकास के सभी प्रयास व्यष्टि से समष्टि की ओर चलते हैं। इस पाठ को भूल जाने के कारण बहुधा हम धर्म में पतन देखते हैं जोकि जीवन और आत्मा के विभाजन की ओर ले जाता है।

धार्मिक आन्दोलनों की असफलता

इस मौलिक दुर्बलता ने ही भूतकाल में मानव-प्रजाति को स्थायी रूप से ऊपर उठाने के महान् धर्मों के प्रयासों को असफल किया है। निःसंदेह उन्होंने मानव-जाति की बड़ी सेवा की है। पेगन धर्म ने मानव के जीवन में सौन्दर्य का प्रकाश, विस्तार और ऊँचाई बढ़ाई और एक बहु-आयामी पूर्णता की ओर लक्ष्य किया। ईसाइयत ने मानव-जाति को दैवी प्रेम और दान की झाँकी दिखाई। बौद्ध धर्म ने अधिक बुद्धिमत्ता, सज्जनता और शुद्धता का उत्कृष्ट मार्ग दिखलाया, यहूदी धर्म और इस्लाम ने ईश्वर के प्रति भक्ति और सांसारिक कर्मों में धार्मिक आस्था उत्पन्न की। किन्तु, हिन्दुत्व ने आध्यात्मिक सम्भावनाओं के व्यापकतम और अधिकतम समृद्ध मार्ग को उन्मुक्त किया।[22] इन सभी धर्मों ने असंख्य आत्माओं की रक्षा की है। आवश्यकता है आध्यात्मिक प्रयोजन की जोकि कोई सम्प्रदाय, मत अथवा विचार नहीं बल्कि एक निरन्तर और सतर्क आत्म-विकास का आध्यात्मिक प्रयास है। वास्तव में आध्यात्मिक लक्ष्य आत्मगत धर्मों मे देखा जा सकता है, किन्तु वह धार्मिक आन्दोलनों में प्राप्त नहीं किया जा सकता जोकि अधिक-से-अधिक आंशिक आध्यात्मिक, आंशिक नैतिक और आंशिक रूढ़िगत स्थिति तक ले जाते हैं। कुछ समय के लिए जबकि कोई बुद्ध अथवा कृष्ण मंच पर आता है तो उसके महान ८ व्यक्तित्व से धर्म की शक्ति प्रज्ज्वलित होती है परन्तु

क्रमशः यह प्रभाव घटता जाता है। चर्च, सिद्धान्त और मठ जोकि प्रारम्भ में साधकों को जोड़ने के लिए स्थापित किए गए थे, अन्त में आध्यात्मिकता को बौद्धिक विश्वास के आधीन, आन्तरिक आचरण को बाह्य कर्मकाण्ड के आधीन बनाने की ओर ले जाते हैं। इसके बाद बहुसंख्यक लोग क्रमशः नैतिक सिद्धान्तों को भी छोड़ देते हैं और जैसाकि जे० एच० ल्यूबा ने कहा है, धर्म "ईश्वर के प्रति एक व्यावहारिक सम्बन्ध" बन जाता है।

असफलताओं के कारण

महान् धार्मिक आन्दोलनों की यह असफलता आत्मा के एक अनिवार्य पहलू की अवहेलना के कारण थी, वह पहलू जोकि, "एक व्यापक आन्तरिक स्वतन्त्रता और एक व्यापक इकाई है जिसमें मनुष्य को स्वयं अपनी प्रवृत्ति के अनुसार विकसित होने की अनुमति दी जानी चाहिए।"[23] धर्म की असफलता का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण सभी धर्मों में अति-पार्थिव प्रवृत्ति है जिसमें इस भूलोक से बहुत दूर किसी स्वर्गलोक में ईश्वर के राज्य की खोज की जाती है। वैज्ञानिकों के धर्म के प्रति विद्रोह में यह एक प्रमुख कारण बना है।

सामाजिक विकास की प्रणाली के रूप में धर्म की सीमाएँ

धर्म प्रकृति और आत्मा में एक मध्यस्थ शक्ति रहा है। वह मनुष्य के मन और भौतिक अस्तित्व को आध्यात्मिक चेतना के अवतरण के लिए तैयार करता है। वह मनुष्य को एक ऐसे बिन्दु पर पहुँचा देता है जहाँ से आन्तरिक प्रकाश स्पष्ट होने लगता है। परन्तु वह पूर्ण साक्षात्कार नहीं कराता। धर्म ईश्वर-साक्षात्कार में आस्था है। किन्तु यह आस्था धर्म में पूर्ण नहीं होती क्योंकि उसमें चैत्यीकरण, रूपान्तरण और सकलन नहीं होता। जनसमुदाय में अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में धर्म के प्रयास में यह कठिनाई और भी अधिक स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ी है। धर्म आध्यात्मिक मानव के जन्म की ओर अथवा आध्यात्मिक प्रजाति के जन्म की ओर नहीं ले जा सकता। वह हमारा दैवी शक्तियों से सम्पर्क तो करा सकता है, किन्तु पूर्ण तादात्म्य नहीं करा सकता। रहस्यवादियों में भी जहाँ कि दैवी तत्त्व से तादात्म्य स्थापित होता है, वह चेतना के सम्पूर्ण रूपान्तरण तक नहीं ले जाता। जहाँ पर वह मोक्ष के निकट पहुँचता देखा भी जाता है वहाँ भी वह कभी भी विश्व-मोक्ष प्राप्त नहीं कराता। धर्म के व्यक्तिगत और सामाजिक पहलू बहुधा विभिन्न दिशाओं में आगे बढ़े हैं, जोकि एक-दूसरे के विरोधी है। धर्म के परम आदर्श में भी एक द्वैत रहता है, पुजारी और पूज्य का द्वैत, मनुष्य और ईश्वर का द्वैत, व्यष्टि और समष्टि, लोक और परलोक, शरीर और आत्मा, जड तत्त्व और आत्म तत्त्व का द्वैत। रहस्यवाद धर्म का सार अवश्य है परन्तु वह भी सम्पूर्ण मानव-चेतना का पूर्ण आध्यात्मीकरण सम्भव नहीं बनाता; और सामाजिक विकास की एक प्रणाली के रूप में तो वह अत्यधिक असफल रहा है क्योंकि उसने व्यक्तिगत मोक्ष से आगे बढ़कर कुछ नहीं सोचा धार्मिक सन्त भक्त साधु पैगम्बर और ईश्वर के सेवक,

सभी ने सम्पूर्ण सत के किसी एक अथवा दूसरे पहलू का आध्यात्मीकरण प्राप्त किया। उन्होंने मानव-जाति की वास्तविक सेवा की है, किन्तु वे उसे परिवर्तित और उसकी चेतना को रूपान्तरित नहीं कर सके हैं।

धर्म की योग में परिणति

इस प्रकार मानव-आत्मा की ओर विकास में धर्म एक अनिवार्य सोपान है परन्तु उसे एक जीवित साक्षात्कार बनाने के लिए योग अपरिहार्य है। जैसाकि श्री अरविन्द ने कहा है, "कृष्ण, ईसा या बुद्ध की बाहर से पूजा करना पर्याप्त नहीं है, यदि हमारे अन्दर बुद्ध, ईसा या कृष्ण की अभिव्यक्ति और निर्माण नहीं है।"[24] परम अनुभव मे इस प्रकार पहुँचने से धर्म, आत्महत्या नहीं कर लेता जैसाकि पाश्चात्य दार्शनिक फ्रांसिस हर्बर्ट ब्रैडले कहता है। योग में पहुँचकर धर्म की प्रवृत्तियों और कार्यों की चरम परिपूर्ति होती है। यही एक ऐसी अवस्था है जहाँ धर्म के समस्त द्वैत एक संकलित अद्वैत में पूर्ण हो जाते हैं।

13

सर्वांग योग

"यद्यपि मानव-सम्बन्ध जैसेकि वे मनुष्यों द्वारा व्यवहार किए जाते हैं अत्यधिक छोटेपन और भ्रष्टाचार तथा अज्ञान से पूर्ण हैं, फिर भी वे दैवी तत्त्व की अपूर्ण छायाएँ हैं और उनको दैवी तत्त्व की ओर मोड़ देने से मनुष्य उस दैवी तत्त्व को प्राप्त कर लेता है जिसकी कि वे छायाएँ हैं और उसको जीवन में अभिव्यक्त करने के लिए उतार लेता है।"[1]

—श्री अरविन्द

श्री अरविन्द के समाज दर्शन के अनुसार सामाजिक विकास की सर्वोत्तम प्रणाली योग है। श्री अरविन्द के चिन्तन में सामाजिक विकास का अर्थ समाजशास्त्रियों, राजनीतिज्ञों तथा अन्य विचारकों की धारणा से कुछ अधिक है। वह सर्वांग विकास है। सर्वांग विकास के दो रूप हैं, एक तो उसमें व्यष्टि और समष्टि दोनों का विकास शामिल है और दूसरे वह केवल भौतिक, प्राणात्मक अथवा मानसिक विकास नहीं है, केवल सामाजिक समन्वय मात्र का विकास नहीं है बल्कि व्यक्ति, राष्ट्र और मानव का आध्यात्मिक विकास, उनका आरोहण है।

क्या योग सामाजिक विकास की प्रणाली है ?

भारतवर्ष में योग को सदैव व्यक्तिगत विकास की प्रणाली माना गया है। इसे कभी भी सामाजिक विकास की प्रणाली नहीं माना गया क्योंकि योग के माध्यम से व्यक्तिगत मोक्ष प्राप्त करने का लक्ष्य था। किन्तु पश्चिम ने योग को सामाजिक विकास तो क्या, व्यक्तिगत विकास का साधन भी नहीं माना है। योग के प्रति पश्चिम की यह उदासीनता एक ओर उसकी भौतिकवादी प्रवृत्ति तथा एकांगिता और दूसरी ओर परम्परागत योग का अलौकिकतावादी तथा अपार्थिववादी होना है। पश्चिमी सुधारक सभ्यता के नियमों, नीति और धर्म, कला और साहित्य, दर्शन और विज्ञान तथा सबसे अधिक शिक्षा के द्वारा व्यक्तिगत और सामाजिक विकास प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। व्यक्ति और समाज के विकास के लिए इन सभी प्रणालियों का विश्व में विकसित देशों में प्रयोग किया जा चुका है। जहाँ तक भौतिक प्राणात्मक और मानसिक विकास का प्रश्न है इन विधियों से भारी मिली है किन्तु इनकी । दो प्रकार की

एक तो व्यक्ति और समाज मे सकलन के तत्त्व प्रदान करने मे ...., और दूसरे, मानव में आध्यात्मिक तत्त्व के विकास में असफलता । योग व्यक्तिगत विकास की उच्चतम और परम प्रणाली होने का दावा करता है। किन्तु, जैसाकि पश्चिम के विद्वानों ने देखा है और माना है, व्यक्तिगत विकास सामाजिक विकास के अभाव में कभी भी पूर्ण नहीं होता । यह एक ऐसा तथ्य है जिसे प्राचीन योगी भुलाए हुए थे। प्रकृति इस सृष्टि में विकास की दोहरी प्रणाली से चलती है, केन्द्रित और प्रसारित, व्यक्तिगत और सामाजिक। श्री अरविन्द का सर्वांग योग प्रकृति में विकास की प्रक्रिया का ही चेतन संस्करण है। अस्तु, योग सामाजिक विकास की एक प्रणाली है। वह अन्य प्रणालियों का उन्मूलन अथवा अतिक्रमण नहीं करता। वह उन्हें और भी अधिक पूर्ण और सर्वांग बनाता है। वह सामाजिक विकास की समस्या को सुलझाता है।

सर्वांग योग का लक्ष्य

श्री अरविन्द के सर्वांग योग का लक्ष्य व्यक्तिगत नहीं बल्कि सार्वभौम मोक्ष है। इस प्रयोजन को चेतन रूप से पूरा करने के लिए प्रकृति अब तक अचेतन रूप से आगे बढ़ती रही है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "जो योग हम करते हैं वह केवल हमारे लिए नहीं है, बल्कि दैवी शक्ति के लिए है, उसका लक्ष्य विश्व में दैवी संकल्प को कार्यरूप में परिणत करना, एक आध्यात्मिक रूपान्तर साधन करना और एक दैवी प्रकृति को नीचे उतारना तथा मानवता के जीवन में मानसिक, प्राणात्मक और भौतिक प्रकृति में, एक दैवी जीवन उत्पन्न करना है। उसका लक्ष्य भौतिक मुक्ति नहीं है, यद्यपि मुक्ति योग की एक अनिवार्य दशा है, बल्कि मानव-प्राणी का मोक्ष और रूपान्तर है।"[2] श्री अरविन्द का सर्वांग योग समस्त पार्थिव चेतना के रूपान्तर का लक्ष्य रखता है। वह सब प्रकार के पलायनवाद और पारलौकिकवाद के विरुद्ध है। वह विश्व-मोक्ष की खोज में है। श्री अरविन्द का लक्ष्य कोई नया धर्म, दर्शन अथवा योग स्थापित करना नहीं था। उनका लक्ष्य तो मानवता के आध्यात्मिक विकास के लिए आधार उत्पन्न करना और पृथ्वी पर अतिमानस के सत के साक्षात्कार के लिए एक सुनिश्चित प्रणाली विकसित करना था। इस प्रकार श्री अरविन्द का योग सामाजिक विकास के आदर्श को प्राप्त करने की सर्वोच्च प्रणाली है। इस दिशा में अन्य सभी प्रणालियाँ अस्थायी समझौते रही हैं जोकि पृथ्वी पर स्वर्ग का राज्य, दैवी जीवन स्थापित नहीं कर सकीं। यौगिक प्रणाली मनुष्य को आन्तरिक और बाह्य, व्यक्तिगत और सामाजिक प्राणी के रूप में रूपान्तरित करती है।

योग प्रणाली का औचित्य

सामाजिक विकास की कोई भी प्रणाली, जब तक कि उसकी लम्बे समय तक परीक्षा न की जा चुके, उसके चलाने वाले की बुद्धिमत्ता, प्रयास और सूक्ष्मता के औचित्य पर आधारित होती है। सर्वांग योग बिना किसी रहस्य के एक रहस्यवादी प्रणाली है वह एक वैज्ञानिक प्रणाली है जिसमें विज्ञानसुलभ सीमाएँ नहीं हैं। उसे

प्राचीन ऋषियों की अन्तर्दृष्टि के माध्यम से उत्पन्न किया गया है और वैज्ञानिक ज्ञान से परिपुष्ट किया गया है। श्री अरविन्द ने तीन दशकों तक अपने स्वयं के अनुभव मे निरन्तर खोज और आध्यात्मिक प्रयास के माध्यम से उसकी परीक्षा की है। वह स्पष्ट, सुनिश्चित और विधायक प्रणाली है। सामाजिक विकास की प्रणाली के रूप मे सर्वांग योग का औचित्य बड़े पैमाने पर उसको कार्यरूप में परिणत करने से ही परखा जा सकता है। इस अभ्यास से सीधी रेखा में प्रगति की आशा नहीं की जा सकती क्योंकि विकास सदैव वर्तुलाकर आगे बढ़ता है। इसका कारण यह है कि योग सामाजिक विकास की अन्य प्रणालियों से कहीं अधिक ऊँचा लक्ष्य खोजना है।

यदि मानव-प्राणी अपनी दुर्बलताओं के बावजूद सामाजिक विकास की प्रणाली के रूप में योग को अपनाए तो उसकी परीक्षा की जा सकती है, किन्तु योग केवल मानवीय प्रयास ही नहीं है। वह पृथ्वी पर मानव के विकास के लिए उच्चतर शक्तियो को उपयोग करने की प्रक्रिया है। और यदि एक बार इन शक्तियों को कुछ व्यक्तियो के द्वारा पकड़ लिया जाए तो वे निश्चित रूप से पृथ्वी पर उतरेंगी और उससे अधिक तीव्र परिवर्तन उत्पन्न करेंगी जैसाकि आज तक कम शक्तियों ने उत्पन्न किया है । क्योंकि योग उच्चतर शक्तियों पर पहुँचने का दावा करता है इसलिए अन्य प्रणालियों की तुलना मे उससे अधिक तीव्र और व्यापक परिणामों की आशा की जा सकती है। योग एक ऐसी प्रणाली है जिसके पीछे प्रकृति की समस्त शक्तियाँ हैं। अस्तु, अन्य प्रणालियों की तुलना मे उसका प्रभाव निश्चय ही अधिक चमत्कारिक होना चाहिए।

प्राथमिक रूप से योग एक आत्मगत प्रणाली है। अस्तु, उसकी जाँच भी आत्मगत और व्यक्तिगत होगी। किन्तु उसकी भौतिक रूप से ही जाँच हो सकती है क्योंकि आत्मगत परिवर्तन क्रमशः वस्तुगत परिवर्तन उत्पन्न करते हैं। व्यक्ति की पूर्णता अनिवार्य रूप से समाज की पूर्णता की ओर ले जाती है तथा कुछ सीमा तक आध्यात्मिक विकास अनिवार्य रूप से मानसिक, प्राणात्मक और भौतिक तत्व को भी रूपान्तरित करता है।

सैद्धान्तिक औचित्य

सामाजिक विकास की किसी भी प्रणाली की व्यावहारिक परीक्षा समाज दर्शन का कार्य नहीं है। वह तो समाज-दार्शनिक अथवा समाज के पुनर्निर्माण मे लगे लोगों का कार्य है। समाज दर्शन केवल इसी अर्थ में व्यावहारिक है कि वह समाज में काम करने वाले लोगों का निर्देशन करता है। उसका औचित्य मानव की भौतिक घटनाओं के क्रम के विषय में विवेक की भविष्यवाणी करने की सामर्थ्य मे आस्था पर आधारित है। यह आस्था ही सभी अवस्थाओं पर मानव-ज्ञान का आधार है। इस प्रकार समाज दर्शन में किसी भी परिकल्पना का सैद्धान्तिक औचित्य उसकी प्रामाणिकता का पर्याप्त प्रमाण है। विचार के क्षेत्र में ज्ञात से अज्ञात की ओर जाना उचित होता है। आगमनात्मक सिद्धान्त जीवन में काम करते हैं यद्यपि वे सदैव सम्भावित ही होते हैं अणु के विषय म जो सत्य है वह विभु के विषय मे भी सत्य होता

है भले ही वह उसी प्रकार से न हो। समाज में एक व्यक्ति जो कुछ पा सकता है वही पूरा समाज प्राप्त कर सकता है यद्यपि उसके लिए कहीं अधिक प्रयासों और काल की आवश्यकता पड़ेगी। यह सामाजिक विकास की प्रणाली के रूप में योग का सैद्धान्तिक औचित्य है।

विकासात्मक प्रमाण

किन्तु योग के पक्ष में एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रमाण वह है जिसे विकासात्मक प्रमाण कहा जा सकता है। यह प्रकृति में विकास के ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर आधारित है। विकास का सिद्धान्त श्री अरविन्द के समाज दर्शन तथा तत्त्वविद्या और योग का आधार है। प्रकृति में विकास का इतिहास यह दिखलाता है कि प्रकृति स्वयं एक प्रकार के योग में लगी है क्योंकि वह सदैव अपनी सम्भावनाओं को अधिकाधिक अभिव्यक्त करने, पूर्णता प्राप्त करने और अन्त में दैवी सद्वस्तु से तादात्म्य प्राप्त करने में लगी है। प्रकृति के इस आदर्श को प्राप्त करने के लिए ही उसकी भौतिक जीवन और मानस में अभिव्यक्ति हुई है। जड़तत्त्व से जीवतत्त्व और जीवतत्त्व से मानसतत्त्व की ओर विकास प्रकृति में आध्यात्मिक तत्त्व की अभिव्यक्ति के लिए अधिकाधिक श्रेष्ठ साधन की लगातार खोज दिखलाता है। ये सभी तत्त्व पहले व्यक्तियों में और फिर प्रजाति में विकसित हुए। जब कभी कोई प्रयोग असफल हुआ तो प्रकृति ने आगे अन्य प्रयोग किए। यही मानव-सभ्यता के वर्तमान संकट का रहस्य है। अब तक मानव के सामाजिक विकास के लिए प्रयुक्त प्रणालियों की सीमाएँ उन समस्याओं से स्पष्ट होती हैं जो सुलझाई नहीं जा सकी है। संकट तो अनिवार्य है क्योंकि प्रकृति अपनी विकासात्मक प्रवृत्ति को रोक नहीं सकती। इस संकट का एकमात्र उपचार प्रणाली में परिवर्तन है। अन्य सब प्रणालियों के संकलन और रूपान्तरण के आधार पर एक नवीन प्रणाली का विकास किया जाना चाहिए जो कि मानव में उस तत्त्व का साक्षात्कार करे जिसे प्रकृति की विकासवादी प्रवृत्ति खोज रही है। बर्ट्रेण्ड रसल जैसे समाज-दार्शनिक मानव के भविष्य के विषय में अस्पष्ट भाषा में बोलते हैं. उनका आशावाद इच्छापूर्ण चिन्तन से अधिक नहीं लगता। मो० क० गांधी, जो अत्यन्त आशावादी थे, सामाजिक विकास की कोई भी उपयुक्त प्रणाली विकसित नहीं कर सके। समाज दर्शन को केवल आदर्श ही नहीं बतलाना है बल्कि उसके साक्षात्कार का मार्ग भी सुझाना है। परम्परागत समाज-दार्शनिकों ने यह बात नहीं समझी है।

श्री अरविन्द को यह विश्वास था कि सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों ही प्रकार से मनुष्य प्रकृति में अन्तर्निहित लक्ष्यों को प्राप्त कर सकता है। उनके शब्दों में, "उसके चिन्तक मनुष्य में उसने पहली बार इस पृथ्वी पर आत्मचेतन साधनों और क्रियाओं के संकल्पात्मक प्रबन्ध को उत्पन्न किया है जिससे यह महान् प्रयोजन अधिक तेजी से और पूर्णतापूर्वक प्राप्त किया जा सके।"[3] इस आस्था को लेकर श्री अरविन्द ने योग के कठिन मार्ग पर चलना आरम्भ किया और तीन दशकों तक उसकी प्रणाली का

विकास किया। सर्वांग योग की प्रामाणिकता विकास के सिद्धान्त के सत्य पर आधारित है। प्रकृति में विकास के तत्त्व की सफलता ही सामाजिक विकास की प्रणाली के रूप में योग की सफलता का प्रदर्शन है क्योंकि योग प्रकृति में विकास का एक संक्षिप्त रूप है। यह विकासवादी प्रमाण इस प्रणाली को अपनाने के लिए मनुष्यों को सन्तुष्ट करने के लिए पर्याप्त सैद्धान्तिक तर्क है। यह सिद्धान्त रूप से उचित है। व्यक्तियों के जीवन में इसके परिणाम बड़े आशाजनक रहे हैं और सामाजिक विकास के क्षेत्र में इसके प्रयोजन के पूर्ण होने के विरुद्ध कोई भी कारण नहीं दिखलाई पड़ता।

सर्वांग योग क्या है ?

सर्वांग योग, "जीव में निहित सम्भावनाओं की अभिव्यक्ति के द्वारा आत्म-पूर्णता की ओर एक व्यवस्थित प्रयास और व्यक्ति का सार्वभौम तथा परात्पर अस्तित्व से एक मिलन है जिसकी कि हम मानव और सृष्टि में आंशिक अभिव्यक्ति देखते हैं।" यह एक ऐसी प्रणाली है जोकि उन आदर्शों को प्राप्त करती है जहाँ अन्य प्रणालियाँ असफल होती हैं। सभ्यता और संस्कृति, दर्शन और विज्ञान, कला और साहित्य, शिक्षा, नीति और धर्म की असफलताएँ दो प्रकार की हैं। एक तो, वे उनके मूलतत्त्व विवेक की लाक्षणिक सीमाओं से पीड़ित हैं, दूसरे उनमें प्रभावोत्पादकता के क्षेत्र और शक्ति के विषय में उनकी प्रकृति के अनुसार सीमाएँ हैं। अब यदि इनमें विवेक के स्थान पर आध्यात्मिक तत्त्व को रखा जा सके तो इनकी पहली सीमा समाप्त हो सकती है। सभ्यता और संस्कृति, दर्शन और विज्ञान, कला और साहित्य, शिक्षा, नीति और धर्म का आध्यात्मीकरण इनके प्रभाव को अधिकतम उठाएगा, उन्हें एक-दूसरे से संकलित करेगा और उन्हें पूर्ण बनाएगा। परन्तु यह पूर्णता भी उनकी सीमाओं के अन्तर्गत ही होगी क्योंकि इनमें से कोई भी मानव-प्राणी की सार्वभौमिकता और परात्परता की तो बात ही क्या, उसकी वैयक्तिकता में भी सम्पूर्ण सत्य से सम्बन्धित नहीं है। आध्यात्मिक होने के बाद वे मनुष्य को दैवी तत्त्व तक ले जाएँगी और किसी-न-किसी प्रकार से कुछ पूर्ण बनाएँगी। किन्तु दैवी तत्त्व में निश्चित रूप से प्रविष्ट होने के लिए, पृथ्वी पर दैवी तत्त्व को उतारने के लिए व्यक्ति और मानवता के चैत्यीकरण, संकलन और अतिमानसीकरण के लिए एक अधिक व्यापक प्रणाली की आवश्यकता है।

अन्य योगों से अन्तर

सर्वांग योग व्यक्तिगत और सामाजिक विकास की अन्य प्रणालियों से ही भिन्न नहीं है बल्कि वह सभी परम्परागत योगों से भी भिन्न है। जैसाकि श्री अरविन्द ने कहा है, "हमारा योग पिछले पथों का अनुगमन नहीं है बल्कि एक आध्यात्मिक खोज है।"[4] श्री अरविन्द के अनुसार, भूतकालीन आध्यात्मिक खोजें दो प्रकार से अत्यधिक सीमित दिखलाई पड़ती हैं—एक तो, मानस, संवेगों, क्रिया और भौतिक तत्त्व को आध्यात्मिक बनाने का कोई भी प्रयास नहीं किया गया। दूसरे, जब कभी कुछ महान् आत्माओं ने समाज के पुनर्निर्माण का प्रयास भी किया तो वे किसी-न किसी नैतिक अथवा धार्मिक

व्यवस्था मे ही बँधकर रह गए, आध्यात्मिक पर नही पहुचे। श्री अरविन्द के अनुसार, मानव-प्रकृति के लिए शारीरिक जीवन, मानसिक जीवन और आध्यात्मिक जीवन सभी आवश्यक हैं। इनमें से प्रत्येक पहले से ऊँचा है और उसकी पूर्णता की ओर ले जाता है। अस्तु, आध्यात्मिक जीवन के लिए मानसिक या भौतिक जीवन के निषेध की आवश्यकता नही होती। श्री अरविन्द के सर्वांग योग का लक्ष्य मानव, व्यक्ति और समष्टि के लिए एक आध्यात्मिक जीवन है, किन्तु इसमें एक रूपान्तरित मानसिक और भौतिक जीवन सम्मिलित हैं। सर्वांग योग का लक्ष्य कोई नीति या धर्म नहीं है बल्कि समस्त प्रजाति का आध्यात्मीकरण, दिव्य प्राणियों की प्रजाति का जन्म है। अशुभ से शुद्ध होकर और आत्मा मे दैवी सम्पर्क से रूपान्तरित होकर योगी विश्व में दैवी शक्ति के केन्द्र के रूप में कार्य करता है। इस प्रकार उसके चारों ओर सैकड़ों लोग दैवी प्रेरणा और शक्ति अनुभव कर सकते हैं तथा दैवी प्रकाश, शक्ति और आनन्द से परिपूर्ण हो सकते हैं। चूंकि यह सत्य वर्णों, संगठनों, धर्मों और दर्शनों द्वारा नहीं समझा गया इसीलिए वे मानव-जाति के पूर्ण विकास में असफल रहे। मानव-प्रजाति में आत्मा का पुनर्जागरण, सत्ययुग में प्रवेश केवल आन्तरिक आत्मा की ओर लौटने से ही सम्भव है। इसी अर्थ में ईसा ने मानव-जाति को शुद्धता और पूर्णता, मोहम्मद ने आत्मसमर्पण तथा चैतन्य ने दैवी प्रेम और आनन्द का सन्देश दिया।

भिन्न लक्ष्य

सर्वांग योग का लक्ष्य अन्य योगों से भिन्न है। हठयोग का लक्ष्य प्राण और शरीर की विजय है। राजयोग का लक्ष्य विचार और चेतना के सम्पूर्ण क्षेत्र को जीतकर तथा सवेगात्मक और संवेदनात्मक जीवन का नियन्त्रण करके मानसिक प्राणी का मोक्ष और पूर्णता प्राप्त करना है। ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग बुद्धि की पूर्णता और दैवी-करण तथा हृदय और संकल्प की पूर्णता का लक्ष्य लिए रहते है। सर्वांग योग का प्रयोजन अधिक विस्तृत और अधिक व्यापक है। इसका लक्ष्य पृथ्वी पर शरीर, प्राण और मानस मे दैवी चेतना का अवरोहण है ताकि वे दिव्य तत्त्व की अभिव्यक्ति के अधिक उपयुक्त साधन बन सकें। पार्थिव अस्तित्व के रूपान्तरण पर इस जोर के कारण ही श्री अरविन्द का सर्वांग योग अन्य सभी योगों से भिन्न हो जाता है। उनके अपने शब्दों में, "अन्य सब योग जीवन को एक भ्रम, एक अस्थायी स्थिति मानते हैं; अतिमानसिक (अर्थात् सर्वांग) योग ही एकमात्र ऐसा है जोकि उसे दिव्य तत्त्व द्वारा उत्पन्न मानता है और जीवन तथा शरीर में पूर्णता तथा दिव्य तत्त्व की अधिकाधिक अभिव्यक्ति अपना लक्ष्य मानता है।"[5] केवल एक ही योग ऐसा है जो सर्वांग योग के निकट पहुँचता है और यह है तन्त्रयोग। किन्तु यहाँ भी, जैसाकि श्री अरविन्द ने संकेत किया है, आत्मा की दिव्य सम्भावनाओं पर बहुत कम जोर दिया गया है और "अतिचेतना मे पलायन पर अधिक जोर दिया गया है।"[6]

विभिन्न प्रणालियां

ज्यों-ज्यों लक्ष्य बदलते हैं त्यों-त्यों उन्हें प्राप्त करने की प्रणालियाँ भी बदलती जाती हैं। आसन और प्राणायाम हठयोग के प्रमुख साधन हैं। ये शरीर की पूर्णता, प्राणों की मुक्ति और कुण्डलिनी शक्ति के जागरण से उच्चतर चेतनाओं की ओर जागृति पर ले जाते हैं। राजयोग की प्रणाली चित्त को शुद्ध करना है। वह प्रारम्भ मे आत्मानुशासन पर जोर देता है। उसमें सदाचरण, अहंकार का निराकरण, अहिंसा, शुद्धता, सतत चिन्तन और आत्माभिमुखता जरूरी होती है। वह आसन और प्राणायाम को स्वीकार करता है, किन्तु हठयोग की अन्य कठिन प्रक्रियाओं को छोड़ देता है। मानस, शरीर और प्राण के नियन्त्रण के पश्चात् वह चित्तवृत्ति निरोध के रूप में समाधि पर ले जाता है। समाधि पर अत्यधिक जोर देने से राजयोग की प्रणाली सीमित हो जाती है। वह नियन्त्रण करता है और शान्ति उपलब्ध करता है, किन्तु मानस, प्राण और शरीर को रूपान्तरित नहीं करता। ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग की प्रणालियाँ क्रमशः बुद्धि, हृदय और संकल्प पर केन्द्रित होती है तथा मानव के अन्य पहलुओं को छोड़ देती हैं। ज्ञानयोग आत्मा की प्रकृति और अनात्मा से उसके भेद में बौद्धिक जिज्ञासा से आरम्भ होता है। वह साधारणतया वस्तुजगत् को असत्य मानता है और शुद्ध तथा एकमात्र आत्मतत्त्व में एकाकार हो जाता है। स्वयं में आत्मा के साक्षात्कार के पश्चात् सबमें आत्मा का साक्षात्कार बुद्धि के आध्यात्मीकरण की ओर ले जाता है। इस प्रकार ज्ञानयोग की प्रणाली पर्याप्त रूप से प्रभावशाली तो होती है, किन्तु वह सर्वांग आदर्श को प्राप्त नहीं करती। भक्तियोग की प्रणाली संवेग के प्रवेश वाले सभी मानव-सम्बन्धों का उपयोग करना और इन सम्बन्धों को पूर्ण प्रेमी परमात्मा के आनन्द की ओर मोड़ना है। यह जगत् से परे भक्त और भगवान् के मिलन की ओर ले जाता है। किन्तु समस्त मानव-संवेगों के आध्यात्मीकरण के लिए वह पर्याप्त रूप से विकसित नहीं होता। कर्मयोग की प्रणाली कर्म में सभी प्रकार के अहंकार को त्यागकर बुद्धि और संकल्प को शुद्ध करना है। इसमें सभी कर्मों और उनके परिणामों को परम संकल्प और विश्व-शक्ति के प्रति समर्पित कर दिया जाता है। यह मानव-संकल्प और क्रिया के आध्यात्मीकरण की ओर ले जा सकता है। तन्त्र उपरोक्त सभी योगों को संकलित करके शक्ति के संकल्प से जोड़ता है। इन आध्यात्मिक प्रक्रियाओं के आंशिक ज्ञान से भयंकर खतरे उत्पन्न होते हैं। यही कारण है कि तन्त्र की प्रणाली को प्रबुद्ध व्यक्तियों ने स्वीकार नहीं किया है। श्री अरविन्द के अनुसार प्राचीन योगों के लक्ष्य और प्रणालियाँ पृथ्वी पर मानव के विकास और आध्यात्मिक चेतना के अवतरण के लिए पर्याप्त नहीं हैं। इस प्रकार श्री अरविन्द के अनुसार प्राचीन योग के लक्ष्य और प्रणालियाँ पृथ्वी पर मानव की आध्यात्मिक चेतना के विकास के लिए पर्याप्त नहीं थे। अस्तु, उन्होंने कई दशकों के निरन्तर प्रयास से प्राचीन काल के ज्ञान और आधुनिक विज्ञान का समन्वय करते हुए योग की एक नवीन प्रणाली विकसित की।

सर्वांग योग की प्रणाली

अन्य योगों का समन्वय

इस प्रकार सर्वांग योग की प्रणाली अन्य योगों की प्रणालियों से भिन्न है। वह इन सब प्रणालियों का समन्वय है। इस समन्वय में वह विभिन्न योगों मे मौलिक गतिशील शक्ति, सामान्य केन्द्रीय तत्त्व का समन्वय करता है। श्री अरविन्द के अनुसार, यह तत्त्व अतिमानस है जोकि दिव्य तत्त्व का स्वयं अपना ज्ञान और कार्य करने की अपनी शक्ति है। इसका साक्षात्कार करने का प्रयास करने में अतिमानस और उसको पृथ्वी पर उतार लाने के लिए सर्वांग योग अन्य सभी योगों के लक्ष्यों और उपयोगों का समन्वय करता है। इस प्रकार सर्वांग योग का लक्ष्य, "एक मुक्त और पूर्ण मानव-जीवन मे ईश्वर और प्रकृति का पुनर्मिलन है।" इसकी प्रणाली है, "हमारी आन्तरिक और बाह्य क्रियाओं के समन्वय तथा दोनों के दैवी चरम परिणति में अनुभव को न केवल अनुमति देना बल्कि समर्थन करना।"[8]

ज्ञान, प्रेम और कर्म का समन्वय

सर्वांग योग गीता में अभिव्यक्त त्रिविध योग, ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग का समन्वय है। सर्वांग योग एक विधायक योग है। यह सर्वांग ज्ञान, सर्वांग प्रेम और सर्वांग कर्म, मानव-व्यक्तित्व के ज्ञानात्मक, भावात्मक और संकल्पात्मक पहलुओं का सर्वांग समन्वय है। इस प्रकार यह व्यक्तित्व के पूर्ण संकलन की ओर ले जाता है। फिर भी वह केवल समन्वय पर ही नहीं रुक जाता, यह तो आरोहण का प्रारम्भ है। वह पूर्ण ज्ञान, प्रेम और संकल्प खोजता है। ज्ञान के बिना प्रेम बन्धन है, प्रेम के बिना ज्ञान शुष्क और रंगविहीन है और ज्ञान तथा प्रेम कर्म के बिना असहाय हैं। अस्तु, सर्वांग योग में प्रत्येक दूसरे के लिए आवश्यक है।

समर्पण

श्री अरविन्द के अनुसार, "माँगना और प्राप्त करना नहीं, बल्कि स्वयं को देना ही साधना का रहस्य है।"[9] इस प्रकार सर्वांग योग में केन्द्रीय प्रक्रिया अथवा प्रथम सिद्धान्त दिव्य तत्त्व के प्रति निरपेक्ष समर्पण है। गीता के समान श्री अरविन्द ने भी त्रिविध आध्यात्मिक प्रगति बतलाई है: पहले, आत्मसमर्पण, दूसरे, ईश्वर के हाथों में यन्त्र बनना तथा तीसरे, प्रत्येक वस्तु को ईश्वर में देखना। उनके अपने शब्दों में, "एक पूर्ण समर्पण का अर्थ सत्य के प्रत्येक भाग में अहंकार की गाँठ को काट देना और उस दिव्य तत्त्व के प्रति स्वतन्त्र और पूर्ण समर्पण करना है। मानस, प्राण, भौतिक चेतना (और इन सभी के अंश अपनी सभी गतियों में) एक के बाद एक पृथक् रूप से समर्पित होते हैं। उनको अपने मार्ग को छोड़ना और दिव्य तत्त्व के मार्ग को ग्रहण करना है।"[10] वास्तव में यह सब-कुछ एकसाथ होना सम्भव नहीं है परन्तु इसे सतत प्रयास से

क्रमश: प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिए आत्मविश्वासपूर्वक प्रयास तथा ईश्वर की अनुकम्पा में आस्था दोनों ही जरूरी हैं।

शान्ति

समर्पण में शान्ति निहित है। दिव्य प्रकाश को ग्रहण करने के लिए और कठिनाइयों का सामना करने के लिए यह एक अनिवार्य दशा है। श्री अरविन्द के शब्दो मे, "शान्ति और स्थिरता उसके साथ विस्तार पहली वस्तुएँ हैं और शान्ति में तुम, जो कुछ प्रेम अथवा आनन्द आता है, जो कुछ शक्ति आती है अथवा जो कुछ ज्ञान आता है, उसे ग्रहण कर सकते हो।"[11] इस शान्ति को न केवल मस्तिष्क में बल्कि जीवन और शरीर तथा बाह्य दशाओं में भी प्राप्त किया जाना चाहिए। स्पष्ट है कि यह क्रमशः होगा और अनेक कठिनाइयों के बगैर नहीं होगा। निस्तब्धता शान्ति से ऊँचा सोपान है। शान्ति का अर्थ तटस्थता है। प्रारम्भ में वह अस्थायी होती है परन्तु क्रमशः वह स्थायी और सतत हो जानी चाहिए। वह समानता है और समत्व है।

चैत्यीकरण

यह सब प्रयास चैत्य आत्मा को, जोकि हृदय में स्थित है, उन्मुक्त होने में सहायक होता है। चैत्य तत्त्व के जागरूक होने से सम्पूर्ण सत्व का आकस्मिक और सच्चा समर्पण सम्भव होता है। इसके लिए श्री अरविन्द ने हृदय में ध्यान लगाने का परामर्श दिया है। इसमें भक्ति, नम्रता, समर्पण और निर्भरता से भी सहायता मिलती है। इस प्रकार चैत्य पुरुष, अन्तरंग पुरुष अथवा आन्तरिक चेतना से भी भिन्न है। श्री अरविन्द के शब्दो मे, "आन्तरिक चेतना का अर्थ है आन्तरिक मानस, आन्तरिक प्राण, आन्तरिक भौतिक तत्त्व और उनके पीछे चैत्य पुरुष जोकि उनका सबसे अधिक अन्तरंग सत्व है।"[12]

त्रिविध रूपान्तर

श्री अरविन्द ने यौगिक अवधारणाओं की स्पष्ट व्याख्या की है। रूपान्तरण के विषय में वे कहते हैं, "मैं रूपान्तरण को एक विशेष अर्थ में इस्तेमाल करता हूँ, चेतना का दूरगामी और एक विशिष्ट प्रकार का पूर्ण परिवर्तन।" "एक आंशिक साक्षात्कार, कुछ स्थिर और अपूर्ण जीवन और योग में मेरी माँगों के लिए पर्याप्त नहीं है।"[13] यह रूपान्तर त्रिविध है अर्थात् चैत्य, आध्यात्मिक और अतिमानसिक। चैत्यीकरण केवल प्रारम्भिक है, आध्यात्मीकरण और उच्चतर चेतना का अवरोहण मध्य है, जबकि परम सम्प्राप्ति के लिए अतिमानसिक चेतना और शक्ति की क्रिया की आवश्यकता है।

आरोहण और अवरोहण

"सर्वांग योग केवल आरोहण से पूर्ण नहीं होता। वह केवल व्यक्तिगत मोक्ष से सम्बन्धित नहीं है। वह केवल व्यक्तिगत विकास का मार्ग नहीं है बल्कि सामाजिक विकास की प्रणाली भी है उसका लक्ष्य पृथ्वी पर शक्तियों के के द्वारा सम्पूर्ण

पार्थिव चेतना में एक निश्चित परिवर्तन है। अस्तु, यह अवरोहण सर्वांग योग में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। यह आध्यात्मिक और अतिमानसिक रूपान्तरण की कुँजी है। इस प्रकार सर्वांग योग आरोहण और अवरोहण की दुहरी प्रणाली से चलता है। प्रेम, ज्ञान और कर्म का त्याग इस त्रिविध आरोहण का मार्ग है। निरपेक्ष समर्पण से अवरोहण होता है। यह अवरोहण साक्षात्कार नहीं है क्योंकि श्री अरविन्द के अनुसार, "साक्षात्कार स्वयं अनिवार्य रूप से सम्पूर्ण सत्य का रूपान्तर नहीं करता, वह केवल एक उन्मुक्तता अथवा गहनता अथवा चेतना के विस्तार को ला सकता है।"[14]

सामाजिक विकास की प्रणाली के रूप में सर्वांग योग का महत्त्व श्री अरविन्द के गीता के कर्मयोग के विश्लेषण में बहुत स्पष्ट हुआ है। श्री अरविन्द के अनुसार सामाजिक जीवन की सभी समस्याओं का सुलझाव, केवल मानव-जीवन के पूर्ण आध्यात्मीकरण में सम्भव है। इस प्रयोजन के लिए उनका योग एक अतिश्रेष्ठ प्रणाली है। गीता के संदेश की उनकी व्याख्या के अनुसार मानव को सम्पूर्ण सत्य की पूर्णता के लिए सर्वांग योग की आवश्यकता है। गीता एक त्रिविध योग, कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग का उपदेश देती है। इस त्रिविध सर्वांग योग में, समाज दर्शन के दृष्टिकोण से कर्मयोग सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। यही गीता के उपदेश का सार है। वास्तव में ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग को अधिक पूर्ण बनाता है। राजनीति से संन्यास लेने में श्री अरविन्द का लक्ष्य मानव-प्रजाति के पुनर्निर्माण के लिए एक आध्यात्मिक प्रणाली का विकास करना था अन्यथा वे महान् कर्मयोगी थे और योगसाधना से पूर्व उन्होंने राजनीति के क्षेत्र में अत्यधिक सक्रिय रूप से भाग लिया।

अस्तु, सर्वांग योग का वास्तविक प्रयोजन कार्य की एक नवीन शक्ति को पता लगाना और स्थापित करना है। यह सम्पूर्ण जगत् के मोक्ष से सम्बन्धित है। यह पलायनवाद, कठोरतावाद तथा अन्य निषेधात्मक तत्त्वों को ज्ञान और प्रेम के योग से निराकरण करता है। कर्म उसके लिए आवश्यक है। किन्तु यह कर्म सही दृष्टिकोण और सही चेतना से किया जाना चाहिए ताकि वह किसी भी सफल ध्यान के बराबर हो। कर्म के वास्तविक अर्थ की व्याख्या करते हुए श्री अरविन्द ने कहा है, "कर्म से मेरा तात्पर्य दिव्य शक्ति के लिए क्रिया और दिव्य तत्त्व से अधिकाधिक एकता है क्योंकि दैवी शक्ति ही एकमात्र सत्य है और उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है।"[15] यह कर्म सभी प्रकार की स्वार्थी वासनाओं से स्वतन्त्र होता है और यह मनुष्य को जगत् से नहीं बाँधता। वह उसको जगत् में दैवी शक्ति का सफल यन्त्र बनाता है। कर्म की ओर इस रचनात्मक दृष्टिकोण के लिए सूक्ष्मतम विस्तार में निरपेक्ष पूर्णता चाहिए। वह एक अधिक संगठित, स्वतन्त्र समाज की स्थापना करता है जिसकी किसी भी अर्थशास्त्री अथवा समाजशास्त्री ने कल्पना भी नहीं की है। यहाँ पर कर्म ईश्वर के प्रति एक त्याग है, एक अर्चना है जोकि पूरी सच्चाई से और पूर्णता से होनी चाहिए। अस्तु, सभी कर्म दिव्य शक्ति के लिए हैं जैसेकि सभी योग ईश्वर के लिए हैं। मानव की पूर्णता में सन्तुलन बनाए रखने के लिए कर्म आवश्यक है।

मनन और ध्यान

मनन और ध्यान का सभी प्रकार के योगों में अत्यधिक महत्त्व माना गया है इनमें अन्तर करते हुए श्री अरविन्द ने लिखा है, "ध्यान का अर्थ चेतना को एक स्थान पर अथवा एक वस्तु पर और एक अकेली दशा में केन्द्रित करना है। मनन विस्तृत भी हो सकता है अर्थात् दिव्य शक्ति के विषय में चिन्तन संस्कार ग्रहण करना और विवेक करना, प्रकृति में जो कुछ हो रहा है उसका निरीक्षण और उस पर कार्य करना है।[16] ध्यान मनन का एक स्वाभाविक अंग है। यह शान्त, सहज और स्वाभाविक होना चाहिए। मनन स्वयं लक्ष्य नहीं है, वह सच्ची चेतना को उतारने के लिए एक साधन मात्र है और कुछ दशाओं में आवश्यक भी नहीं है। श्री अरविन्द ने मनन और ध्यान के विषय में अनेक बातों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है जोकि सामाजिक विकास की एक प्रणाली के रूप में योग के हमारे विवेचन में प्रासंगिक नहीं है।

सार्वभौम प्रणाली

योग की प्रणाली सार्वभौम है। वह सब-कहीं प्राप्त हो सकती है और जो कोई भी उसका कष्ट सहने को तैयार है उसके लिए उस पर चलना सम्भव है। मूल बात यह है कि हिन्दू अथवा पाश्चात्य दृष्टिकोण नहीं बल्कि योग के लिए एक चैत्य उन्मुखता और आध्यात्मिक प्रवृत्ति की आवश्यकता होती है जोकि सब-कहीं एक-सी होती हैं। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों, जैसे सिगमंड फ्रायड और जे० एच० ल्यूबा इत्यादि के योग विषयक विचार उसकी प्रकृति और प्रणाली के विषय में अज्ञान पर आधारित हैं। इस पथ के अनुयायियों को पूर्व और पश्चिम में जो ज्ञान मिला है उसमें सर्वोत्तम की आवश्यकता होती है। श्री अरविन्द के शब्दों में "वे पूर्व का आन्तरिक दृष्टिकोण उसके सच्चे अर्थों में ग्रहण करेंगे जोकि मनुष्य को उसके अदृष्ट का रहस्य और आन्तरिक मुक्ति प्राप्त करने के लिए प्रेरित करता है; किन्तु साथ ही वे, यद्यपि एक भिन्न अर्थ में, पश्चिम के द्वारा जीवन को दिया जाने वाला सही महत्त्व भी ग्रहण करेंगे और उसे सर्वोत्तम बनाने तथा समस्त जीवन के सामान्य नियम को ग्रहण करने का प्रयास करेंगे।"[17] इस प्रकार सर्वांग योग का लक्ष्य मानवता का आध्यात्मिकता के युग में आरोहण है।

व्यापक परिवर्तन नहीं

किन्तु, योग के माध्यम से यह परिवर्तन समस्त मानवता में एकसाथ नहीं हो सकता। प्रकृति ने सदैव मन्द और सीमित प्रयोगों के द्वारा प्रगति की है। प्रत्येक परिवर्तन को समष्टि में प्रभावशाली होने के पहले व्यक्ति में साक्षात्कार किया जाना चाहिए। व्यक्तिगत मानस के द्वारा ही समष्टि स्पष्ट रूप से कुछ जान सकती है क्योंकि सामूहिक मानस वस्तुओं को अधिचेतन रूप में पकड़ता है। श्री अरविन्द ने व्यक्ति को अत्यधिक महत्त्व दिया है और इतिहास, राजनीति, समाजशास्त्र अथवा दर्शन की उन सब व्याख्याओं का विरोध किया है जोकि व्यक्ति को समष्टि का एक अंग मात्र बनाना चाहती हैं। मानव-पूर्व विकास अचेतन रहा है और इसलिए अणु अथवा पशु में चेतन । के अय में

वैयक्तिकता नहीं होती परन्तु मनुष्य चेतन रूप से स्वतन्त्र है। उसके पास वैयक्तिकता है। अस्तु, वह प्रकृति को उसके विकास के प्रयास में चेतन रूप से सहायता दे सकता है। जब श्री अरविन्द यह मानते हैं कि विश्व में प्रत्येक वस्तु दैवी तत्त्व से निर्धारित अथवा विश्वात्मा से निर्णीत है तो उनका अर्थ वैयक्तिकता का निषेध नहीं बल्कि उसकी स्थापना है क्योंकि सार्वभौम आत्मा ही मानव-व्यक्ति का आन्तरिक रहस्य है। मनुष्य दैवी संकल्प की अभिव्यक्ति का यन्त्र है, किन्तु उसके साक्षात्कार में वह एक अपरिहार्य साधन है। प्रकृति सदैव मानव-व्यक्ति अथवा कुछ थोड़ी-सी संख्या में मनुष्यों के माध्यम से परिवर्तन लाती है यदि यह सत्य नहीं होता तो मानव-इतिहास में जनसमुदाय मे तुरन्त परिवर्तन होता। परन्तु क्योंकि यह सत्य है इसलिए यौगिक प्रणाली से परिवर्तन भी सबन पहले व्यक्तियों में लाया जाएगा और क्रमशः जनसमुदाय में सम्भव होगा।

साक्षात्कार की दो दशाएँ

इस प्रकार योग के प्रभाव का साक्षात्कार करने के लिए दो दशाएँ अवश्य पूर्ण की जानी चाहिएँ। एक तो, ऐसे व्यक्ति अथवा अनेक व्यक्ति होने चाहिएँ जोकि आध्यात्मिकता का साक्षात्कार करें और उसे जनसमुदाय में प्रसारित करें। दूसरे, एक ऐसा समाज अथवा समूह होना चाहिए जोकि इस प्रकाश और शक्ति को ग्रहण करने और आत्मसात् करने के लिए तैयार हो। क्योंकि यह इतिहास में कभी नहीं हुआ इसलिए मानव-जाति के पुनर्निर्माण के प्रयास लगातार असफल होते रहे। किन्तु, इतिहास घटनाओं की पुनरावृत्ति मात्र नहीं है। विकास केवल परिणामजनित ही नहीं होता बल्कि नवीन भी होता है। कोई भी इन दोनों दशाओं के साक्षात्कार के क्षण को निश्चित नहीं कर सकता और इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि उसे प्राप्त करने के लिए कितने प्रयास की आवश्यकता होगी। व्यक्तियों में अथवा जनसमूहों में किसी भी दोष से सम्पूर्ण प्रयास असफल हो सकता है, किन्तु लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है क्योंकि उसकी अनिवार्यता स्वयं विकास के तत्त्व पर आधारित है। श्री अरविन्द का समाज दर्शन विकास के सिद्धान्त के साथ उठता और गिरता है। यदि मानव-इतिहास एक दायरे में चक्कर खाना मात्र नहीं है, यदि प्रकृति में कोई प्रयोजन है, यदि उसकी प्रक्रिया विकासात्मक है, तो आध्यात्मिक युग का आविर्भाव एक ऐसा निश्चित तथ्य है जिसका निराकरण सम्भव नहीं है, भले ही वास्तविक परिस्थितियाँ कितनी भी भयंकर क्यों न हों। इसमें एक ही बात ध्यान रखने की है कि क्या आवश्यक लक्षण वर्तमान में दिखलाई पड़ रहे हैं अथवा क्या मनुष्य को अनेक युगों तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी और इसमें मनुष्य को केवल निष्क्रिय द्रष्टा मात्र नहीं रहना चाहिए। प्रकृति के प्रयास में अपने चेतन प्रयासों को जोड़कर वह आध्यात्मिक युग के लक्ष्य को निकट ला सकता है। श्री अरविन्द के समाज दर्शन में यौगिक प्रणाली से यही करने का लक्ष्य है।

आध्यात्मिक युग के लक्षण

८ युग के साक्षात्कार के लिए कौनसे लक्षण है? पहला

लक्षण है सामान्य मानस की तैयारी। इसका अनिवार्य चिह्न है, "जीवन के अन्तर्गत विचार की प्रगति, आत्मा के विचार, आन्तरिक सत्य, उसकी शक्तियाँ, उसकी सम्भावनाएँ उसकी वृद्धि, उसकी अभिव्यक्ति और एक सत्य व सुन्दर तथा सहायक परिवेश की सृष्टि जोकि उसके लिए पहले और अन्तिम महत्त्व की बात है।"[18] ये विचार दर्शन, मनोविज्ञान, कला, काव्य, चित्रकला, मूर्तिकला, संगीतकला, नीति, समाजशास्त्र और राजनीति तथा अर्थशास्त्र में भी अभिव्यक्त होंगे। विज्ञान और अनुसन्धान अप्रत्याशित नवीन दिशाओं में जाएँगे। ऐसी खोजें की जाएँगी जोकि जड़तत्त्व एवं आत्मतत्त्व के मध्य की दीवार को तोड़ देंगी। मनोवैज्ञानिक और चैत्य क्षेत्रों में यथार्थ ज्ञान के विस्तार के लिए अनुसन्धान होंगे। धर्म कर्मकाण्ड के भूतकालीन भारी बोझ को फेंक देगा और आध्यात्मिक रूपान्तर के द्वारा अपनी शक्ति पुनर्जाग्रत करेगा। यह चिह्न, आधुनिक युग में ये लक्षण, परामनोविज्ञान के विकास, आधुनिक भौतिकशास्त्र में, कला और साहित्य तथा दर्शन में आत्मनिष्ठ प्रवृत्तियों में देखे जा सकते हैं, किन्तु आत्मगत प्रवृत्ति केवल पहली दशा मात्र है। वह न तो आध्यात्मिकता में प्रवेश है और न उसका साक्षात्कार है और जो कुछ अब तक दिखलाई पड़ा है वह केवल प्राणात्मक अथवा मानसिक आत्मनिष्ठता है। इसके स्थान पर चैत्य तत्त्व की स्थापना आवश्यक है जोकि समस्त विज्ञानों, कलाओं तथा अन्य वस्तुओं को अभूतपूर्व स्तर पर ले जाएँगी। इसके भारी खतरे होंगे किन्तु मानव-प्रजाति के विकास के लिए यह सब प्रक्रिया आवश्यक है।

चमत्कार नहीं

सर्वांग योग का अनुयायी चमत्कारों में विश्वास नहीं करता। सर्वांग योग एक मन्द और क्रमिक प्रक्रिया है जोकि मनुष्य को सामान्य जीवन से उठाकर प्राणात्मक, मानसिक और चैत्य आत्मनिष्ठता से होते हुए अनेक मध्यवर्ती सोपानों से गुजरकर, जिन सबको जानना सम्भव नहीं है, आध्यात्मिकता पर पहुँचती है। एक स्थायी और सर्वांग आध्यात्मीकरण के लिए आरोहण, रूपान्तरण और संकलन अनिवार्य आवश्यकताएँ हैं। पिछले प्रयास असफल रहे हैं क्योंकि उन्होंने मनुष्य को अकस्मात् परिवर्तित करने का प्रयास किया। श्री अरविन्द का समाज दर्शन ठोस तथ्यों पर आधारित है। प्रत्येक खेल के अपने नियम होते हैं। जो खेलना चाहता है उसे नियमों का पालन करना चाहिए अथवा खेल छोड़ देना चाहिए। "यदि मानव-जाति को आध्यात्मिक बनना है तो उसे पहले भौतिक अथवा प्राणात्मक होना छोड़ देना चाहिए और चैत्य अथवा सच्चा मानसिक सत बनना चाहिए। यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या इस प्रकार की व्यापक प्रगति अथवा परिवर्तन सम्भव है; किन्तु यदि वह सम्भव नहीं है तब तो मानव-प्रजाति का आध्यात्मीकरण पूर्णरूप से एक मृगतृष्णा ही है।"[19] मानव-प्रजाति में आध्यात्मिक प्रयोजन का तीव्र साक्षात्कार केवल उसी सीमा तक सच्ची आध्यात्मिकता के आदर्श को नीचे ले जाने की कीमत पर सम्भव है। मानव-प्रजाति में सच्ची आध्यात्मिकता का क्या अर्थ है इसकी व्याख्या प्रस्तुत पुस्तक के अगले अध्याय में की जाएगी।

14

मानव-जाति का भविष्य

"हमारे अस्तित्व का यहाँ पर महत्त्व हमारे अदृष्ट को निर्धारित करता है, वह अदृष्ट ऐसा है जो एक आवश्यकता और सम्भावना के रूप में हमारे अन्दर पहले से ही वर्तमान है, हमारे सबके रहस्य की आवश्यकता है और ऊर्ध्वगामी सत्य है, एक ऐसा सत्य जो कार्यरूप में परिणत होने वाली सम्भावनाओं में निहित है; दोनों ही यद्यपि अभी प्राप्त नहीं किए जा सके हैं, तो भी जो कुछ अभिव्यक्त हो चुका है उसमें निहित हैं।"[1] —श्री अरविन्द

विकास की अवधारणा श्री अरविन्द की तत्त्व-विद्या और उनके समाज दर्शन को समझने की कुँजी है। वही मानव-जाति के भविष्य के विषय में उनकी परिकल्पनाओं का आधार है। इन परिकल्पनाओं की प्रामाणिकता श्री अरविन्द के इतिहास दर्शन और सामाजिक विकास के मनोविज्ञान का सत्य है जोकि सर्वांग योग में उनके अनुभव पर आधारित है। मानव-जाति का भविष्य सामाजिक विकास की एक प्रणाली के रूप में योग की सफलता पर निर्भर है क्योंकि अन्य सभी प्रणालियाँ केवल एक आंशिक प्रगति के लिए उपयोगी रही हैं। योग के माध्यम से मानव-जाति वर्तमान संकट का अतिक्रमण करेगी। वह मानव-प्रजाति को एक नवीन युग में पदार्पण कराएगा जिसे श्री अरविन्द ने अपनी यौगिक दृष्टि से देखा है। जहाँ तक श्री अरविन्द के व्यक्तिगत अनुभवों का प्रश्न है, इन परिकल्पनाओं को चुनौती नहीं दी जा सकती। फिर भी, मानव-प्रजाति के द्वारा उस सोपान का साक्षात्कार बहुत-कुछ ऐतिहासिक घटनाओं पर निर्भर होगा। समाज-दार्शनिक इतिहास और सामाजिक विकास के मनोविज्ञान का विश्लेषण करता है, उसके आदर्श की कल्पना करता है, उसे प्राप्त करने की विभिन्न प्रणालियों का मूल्यांकन करता है, सर्वोत्तम प्रणाली दिखलाता है और उस प्रणाली के अपनाए जाने के परिणामस्वरूप मानव-प्रजाति के भविष्य के विषय में परिकल्पनाएँ प्रस्तुत करता है। यही समाज दर्शन का एकमात्र लक्ष्य है। इसमें सफलता स्वयं मानव-जाति पर आधारित है। समाज-दार्शनिक युग की जिन प्रवृत्तियों को देखता है वे अन्त में अवश्य प्राप्त होंगी, शीघ्र ही यदि मनुष्यों ने सहयोग दिया तो, और यदि नहीं तो देर से। किन्तु इस नकार से भावी घटनाओं में कितना अधिक परिवर्तन होगा इसे समय से पूर्व जानने का कोई भी समाज-दार्शनिक दावा नहीं कर सकता विकास के वर्तुल को समझने में य

गतिशील चेतना मानव-प्रजाति के भविष्य के विषय में श्री अरविन्द की परिकल्पनाओं को समझने के लिए आवश्यक भूमिका है।

भविष्यवाणियों की सीमाएँ

भाषा को अपना प्रमुख साधन बनाए रखते हुए समाज दर्शन मानव की अतिमानसिक स्थिति का वर्णन नहीं कर सकता। मानसिक प्रत्यक्षीकरण और ज्ञान, अपनी स्वाभाविक सीमाओं के कारण अतिमानसिक चेतना की क्रियाओं को नहीं समझ सकते। यह पहले से ही कहा जा सकता है कि अतिमानसिक प्रकृति में पार्थिव प्रकृति सम्मिलित होगी यद्यपि उसका रूप आध्यात्मिक और रूपान्तरित होगा। यह संकलन विकास का नियम है। किन्तु अब तक प्रकृति ने जो विकास किया है उसके ज्ञान से एक सामान्य धारणा मात्र बनाई जा सकती है। उससे परिवर्तन का स्पष्ट मानसिक विवरण प्राप्त नहीं हो सकता। सीमित मानस अतिमानसिक प्रकृति को नहीं जान सकता जोकि मूल रूप से असीम की चेतना और शक्ति है। द्वैत मानस का लक्षण है जबकि अद्वैत अतिमानसिक प्रकृति का लक्षण है। बौद्धिक विवेक मानसिक और प्राणात्मक प्रवृत्तियों से निर्देशित होता है, अतिमानसिक प्रकृति आन्तरिक आध्यात्मिक दृष्टि से परिचालित होती है। अस्तु, समाज दर्शन अतिमानसिक अवस्था की कल्पना नहीं कर सकता, किन्तु मानस और अतिमानस का विरोध एक अस्पष्ट और सामान्य विचार के रूप में अतिमानसिक चेतना के प्रथम अस्तित्व का आभास करा सकता है। श्री अरविन्द के समाज दर्शन में मानव-जाति के भविष्य के विषय में परिकल्पनाओं की यही प्रामाणिकता है और यही सीमा है।

दिव्य चेतना का अवरोहण

मानसिक चेतना के समान, दिव्य चेतना भी आध्यात्मिक दिव्य प्राणियों की प्रजाति निर्माण करेगी जिसमें जो कुछ रूपान्तरित हो सकता है उस सबको शामिल कर लिया जाएगा। भूतकालीन विकास के समान यह अतिमानसिक विकास भी अतिमानसिक अवरोहण के साथ होगा। ज्ञान की प्रक्रिया के रूप में यह अवरोहण निम्न स्तरों पर अवरोहण के विरुद्ध, अंशों, या सतह पर सीमित नहीं रहेगा, बल्कि निश्चेतना के अन्तर्ध्यान की ओर ले जाते हुए सभी को शामिल करेगा। वह न केवल अतिमानसिक प्राणी, प्रकृति और जीवन उत्पन्न करेगा बल्कि अधिमानसिक, सम्बोधिमय मानसिक और उच्चतर मानसिक प्राणी, प्रकृति और जीवन भी अभिव्यक्त करेगा क्योंकि पृथ्वी पर दिव्य प्रकाश और शक्ति के अवरोहण में ये क्रमिक दशाएँ हैं। वह अज्ञान के जीवन को प्रभावित करके उसे समन्वित बनाएगा। वह बोध, सहानुभूति और मानव-जीवन की समझ में अधिक स्वतन्त्रता उत्पन्न करेगा। निम्नतर और उच्चतर प्रकृति में संघर्ष के स्थान पर न्यून और अधिक प्रकाश के सोपान दिखलाई पड़ेंगे। प्रत्येक स्तर पर चेतन प्राणी अपनी सार्वभौम प्रकृति के नियम को उच्चतर सम्भावनाओं की ओर फैलाएँगे।

८ प्रगति रुकेगी नहीं बल्कि समन्वित और सतत हो जाएगी

अतिमानसिक और अधिमानसिक प्राणियों में अन्तर

अतिमानसिक और अधिमानसिक तत्त्वों की प्रकृति के अनुसार अतिमानसिक और अधिमानसिक प्राणियों में अन्तर दिखलाई पड़ेगा। अज्ञानमय जगत् से पृथक् अधिमानसिक प्राणी स्वयं अपनी रेखाओं पर कार्य करेगा। दूसरी ओर, अतिमानसिक प्राणी न केवल अपनी प्रकृति के अनुरूप कार्य करेगा बल्कि शेष मानसिक जगत् से भी जुड़ेगा, चाहे वह कितना ही अज्ञानी क्यों न हो। इसका कारण यह है कि अतिमानसिक चेतना सर्वांग होती है। उसका आविर्भाव समस्त विश्व को रूपान्तरित करेगा और इस प्रकार पृथ्वी पर एक अधिक समन्वित विकासात्मक व्यवस्था स्थापित करने के लिए मार्ग बनाएगा।

विविधता के माध्यम से एकता

क्योंकि अतिमानस का नियम विविधता में परिपूर्ण एकता है इसलिए उसकी अभिव्यक्ति में एक आन्तरिक एकता पर आधारित असीम विविधता होगी। न केवल मानस से अतिमानस में चेतना के सोपानों में बल्कि अतिमानसिक प्राणियों में भी चेतना का अन्तर दिखलाई पड़ेगा। श्री अरविन्द के समाज दर्शन में व्यक्ति सदैव अनोखा है और उसका अनोखापन अतिमानसिक स्तर पर भी समाप्त नहीं होगा।

दिव्य प्राणी

दिव्य प्राणी अपने भौतिक, प्राणात्मक और मानसिक अस्तित्व के तथा क्रिया के प्रत्येक भाग में सार्वभौम आत्मा का अनुभव करेगा। वह जीवन और कर्म में, "एक पूर्णतया परात्पर स्वतन्त्रता, आत्मा का एक पूर्ण आनन्द, विश्वात्मा से पूर्ण अद्वैत तथा समस्त विश्व से स्वाभाविक सहानुभूति दिखलाएगा।"[2] वह न केवल लौकिक और व्यक्ति होगा बल्कि स्वतन्त्र और अद्वैत भी होगा। उसकी वैयक्तिकता सार्वभौम और परात्पर होगी। वह व्यष्टि, समष्टि और परात्पर तत्त्व का समन्वित समग्र होगा। यही वह लक्ष्य है जो मनुष्य सदैव खोजता रहा है।

अतिमानसिक चेतना पूर्ण आत्मज्ञान और उसके साथ पूर्ण आत्मानुशासन देती है। निम्न स्तर के दिव्य प्राणियों में यह भूमिका सीमित होगी, किन्तु अतिमानसिक प्राणियों में पूर्ण विविधता के साथ-साथ पूर्णता भी असीम होगी क्योंकि प्रत्येक प्राणी एक नवीन समग्र होगा। किसी भी क्षण उसकी क्रिया की सीमा शक्ति के अभाव से नहीं बल्कि पहले गतिशील आत्मसंकल्प, आनन्द तथा आत्मा के सत्य से और दूसरे, जो कर्म किया जाना है उस वस्तु के सत्य से निर्धारित होगी जिसमें समग्र से समन्वय होगा। अतिमानसिक प्राणी का ज्ञानात्मक और भावात्मक पहलू सार्वभौम और परात्पर आत्मा से पूर्ण रूप से समन्वित होगा। अस्तु, वह सामाजिक विकास में उन बाधाओं को दूर करेगा, जिनका अतिक्रमण मानस नहीं कर सका है। श्री अरविन्द के अनुसार, सामाजिक विकास का आदर्श, जिसका वर्णन पीछे सातवें अध्याय में किया जा चुका है केवल अतिमानसिक स्तर पर ही पूर्णतया प्राप्त किया जा सकता है मनुष्य अपनी

सभ्यता में बारम्बार संकटों का सामना करेगा जब तक कि वह मानसिक अज्ञान का अतिक्रमण नहीं करता। सतत प्रगति के लिए दिव्य अवस्था में प्रवेश ही एकमात्र सुलझाव है। इससे न्यून उपचार अस्थायी और असफल होने वाले हैं। श्री अरविन्द के समाज दर्शन के अनुसार व्यष्टि अथवा समष्टि एक अथवा दूसरे के आधीन बनकर अथवा शक्ति के सन्तुलन से समन्वित नहीं हो सकते, उसके लिए तो अतिमानसिक स्तर पर पहुँचना आवश्यक है जहाँ ये दोनों ही परात्पर सत्य की सत्यचेतना के नियमों से कार्य करते हैं।

अतिमानसिक प्राणी

अतिमानसिक प्राणी आत्मा के सत, चित और आनन्द को न केवल व्यक्ति में बल्कि दूसरों से उसके सम्बन्धों में भी अभिव्यक्त करता है। श्री अरविन्द के अनुसार, अतिमानसिक प्राणी सर्वोच्च दिव्य प्राणी है। वह आध्यात्मिक मानव से अधिक है। आध्यात्मिक मानव दूसरों के सुख-दुःख को समा लेता है, अतिमानसिक प्राणी उन्हें समाते हुए भी उनसे ऊपर उठ जाता है। उसका परोपकार आत्मत्याग से नहीं बल्कि आत्मपूर्ति से होता है। वह परिणामों के लिए नहीं बल्कि आत्मा के शुद्ध आनन्द के लिए कार्य करता है। वह आध्यात्मिक समग्रता में रहता है और उसी से कार्य करता है। उसका ज्ञान विचारात्मक ही नहीं होता बल्कि अतिमानस का सत्य-विचार होता है। आध्यात्मिक मानव अन्धकार की बाह्य शक्तियों से अपने आन्तरिक आध्यात्मिक प्राणी की निरन्तर रक्षा करता है। दिव्य प्राणी के आन्तरिक जीवन में अन्तरंग और बाह्य आत्मा एवं जगत् का अन्तर समाप्त हो जाएगा। उसे कोई भी चीज नीचे नहीं खींच सकेगी। उसकी आन्तरिक शान्ति, प्रेम और आनन्द में समस्त विश्व समा जाएगा। वह अपनी आत्मा को सबमें और सबसे परे भी देखेगा। अज्ञान के जगत् का उसका आलिंगन उसकी प्रकृति को प्रदूषित नहीं करेगा। उसका अन्य आत्माओं से अन्तरंग सम्पर्क रहेगा। उसका बाह्य कर्म उसके आन्तरिक कर्म की सीमा मात्र होगा जिसमें आध्यात्मिक अतिमानसिक विचार-शक्ति जगत् में अभिव्यक्त होगी। उसका सार्वभौम आन्तरिक जीवन केवल भौतिक अथवा पार्थिव सृष्टि तक ही सीमित नहीं होगा बल्कि भौतिक स्तर के पीछे छिपे अन्य सभी स्तरों के ज्ञान तक विस्तृत होगा। उसे उन सब पर पूर्ण सत्ता प्राप्त होगी और वह पार्थिव अस्तित्व की पूर्णता के लिए उनका उपयोग करेगा। इस प्रकार उसे अपने समस्त परिवेश पर असीम सत्ता प्राप्त होगी। सत और सम्भूति अतिमानसिक स्तर पर समान रूप से सत, चित और आनन्द का लक्ष्य लेकर चलेंगे। अतिमानसिक प्राणी सच्चिदानन्द की चेतना के विकास के चिह्न के रूप में अज्ञान से अभिव्यक्त होगा। वह उस समस्त अभीप्सा की चरम पूर्ति होगा जोकि आज मनुष्य अपूर्ण रूप से अज्ञान में खोज रहा है। वह समस्त ज्ञान, सत्य और आनन्द को आत्मा की ओर मोड़ देगा।

शरीर, जीवन और मानस की परिपूर्ति

शरीर, जीवन और मानस का दमन अथवा उन्मूलन नहीं होगा बल्कि उनकी परिपूर्ति होगी और उन्हें पूर्णता प्राप्त होगी। वे रूपान्तरित किए जाएँगे क्योंकि, "तभी आत्मा में आत्मा के द्वारा आत्मा की प्राप्ति होगी।"[3] इसका कारण यह है कि मनुष्य अहंकार नहीं बल्कि आत्मा है। यहाँ पर ज्ञान परोक्ष नहीं बल्कि प्रत्यक्ष होगा। उसमें सारतत्त्व और विस्तार, साध्य और साधन, सत्य और प्रक्रियाएँ सभी का ज्ञान होगा। यह ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय के अद्वैत में आधारित होगा क्योंकि उसमें प्रत्येक वस्तु ज्ञाता विश्व-चेतना के अंश के रूप में जानी जाती है। वह सापेक्ष सत्यों को विरोधियों के रूप मे नहीं बल्कि एक निरपेक्ष सत्य के परस्पर पूरक अंशों के रूप में देखेगा। जीवन की खोज, वृद्धि, शक्ति, विजय, अधिकार, सन्तोष, सृष्टि, आनन्द, प्रेम और सौन्दर्य इत्यादि की उसकी प्रवृत्तियाँ दिव्य विकास में पूर्णतम और उच्चतम अभिव्यक्ति प्राप्त करेंगी। किन्तु दिव्य जीवन अहंकार के लिए नहीं होगा बल्कि व्यष्टि और समष्टि में ईश्वर के लिए होगा। उसकी समस्त प्रवृत्तियाँ आध्यात्मिक और दिव्य होंगी। आत्मा और मानस, जीवन और जड़ का यह नवीन सम्बन्ध शरीर और आत्मा के सम्बन्धों को उलट देगा। दिव्य जीवन में आत्मा का संकल्प प्रत्यक्ष रूप से शरीर के नियमों का नियन्त्रण करेगा और अधिचेतना तथा निश्चेतना का भी रूपान्तरण होगा। उच्चतर मानस, बोधमय मानस और अधिमानस प्राणी में शरीर, विचार और संकल्पशक्ति का पर्याप्त रूप से चेतन साधन होता है, "परन्तु अतिमानसिक प्राणी में सत-विचार की चेतना ही सभी-कुछ पर शासन करेगी।"[4] शरीर, "आत्मा का एक पूर्णतया अनुक्रियात्मक यन्त्र बन जाएगा।"[5] अन्त में जड़तत्त्व स्वयं भी ब्रह्म है। दिव्य प्राणी भौतिक जगत् से वास्तविक समन्वय और सौन्दर्य में अपने शरीर के पूर्ण और भ्रांतिहीन प्रयोग के लिए कार्य करेगा। श्री अरविन्द के अनुसार शरीर की माँगें, स्वास्थ्य, शक्ति, भौतिक पूर्णता, शारीरिक आनन्द, आराम और दुःख से मुक्ति, निम्न, त्याज्य या अवैध नहीं हैं क्योंकि वास्तव में ये जड़ तत्त्व में आत्मा की ही मागें हैं। अस्तु, इन माँगों को दिव्य प्राणियों में पूर्णतया प्राप्त किया जाएगा जिससे विश्वप्राणशक्ति से एकाकार होकर शरीर में उच्चतर आध्यात्मिक शक्ति और उच्चतर प्राणशक्ति उत्पन्न होगी। विकास में आगे बढ़ने के साथ-साथ मनुष्य मानस, प्राण और शरीर में अधिक संवेदनशील होता जाता है क्योंकि शक्ति में वृद्धि चेतना मे वृद्धि के साथ नहीं होती। दिव्य अवस्था में आध्यात्मिक शक्ति सम्पूर्ण प्राणी को चेतना-शक्ति के परम स्रोत से भर देगी जोकि शरीर पर काम करने वाली अस्तित्व की सभी शक्तियों से समन्वय करके दुःख और कष्ट पर विजय प्राप्त करेगी। मनुष्य का सम्पूर्ण सत अस्तित्व का पूर्ण आनन्द खोजता है। आनन्द अस्तित्व का सार और उसका आधार है। श्री अरविन्द के अनुसार, "यह आनन्द एक सार्वभौम आनन्द के रूप में दिव्य चेतना में अन्तर्निहित होगा और दिव्य प्रकृति के विकास के साथ विकसित होगा।"[6] आध्यात्मिक मानसिक स्तर पर आनन्द शान्ति से निम्न है परन्तु दिव्य स्तर पर शान्ति से एकाकार है।

दिव्य प्राणी का व्यक्तित्व

अब यदि दिव्य प्राणी विश्व-चेतना के माध्यम से कर्म करता है तो उसमें व्यक्तित्व कैसे हो सकता है। और यदि उसमें कोई व्यक्तित्व नहीं है तो उसका कोई उत्तरदायित्व नहीं है और इसलिए कोई नैतिक बाध्यता नहीं है। यह आक्षेप यद्यपि मानस के लिए उचित है, यह अतिमानसिक स्तर पर लागू नहीं होता, क्योंकि वहाँ पर व्यक्तित्व और निर्व्यक्तित्व विरोधी नहीं हैं बल्कि एक ही सद्वस्तु के अपृथक् पहलू हैं। जिस प्रकार ईश्वर में वैसे ही दिव्य प्राणी में सच्चा पुरुष निर्व्यक्तिक है परन्तु उसके गतिशील सत्य में वह स्वयं को सदैव विशिष्ट रूपों में अभिव्यक्त करता है जोकि व्यक्तित्व बनाते हैं। किन्तु, अतिमानसिक दिव्य व्यक्ति एक निश्चित प्रतिमान के अर्थ में व्यक्तित्व नहीं होगा बल्कि एक आध्यात्मिक व्यक्ति होगा।

परानैतिक अवस्था

दिव्य प्राणी के जीवन और कर्म का नियम उसके दिव्य व्यक्तित्व से निकलेगा। अस्तु, शुभ और अशुभ में संघर्ष नहीं होगा। मानसिक अज्ञान और पृथक्तावादी अहंकार के उन्मूलन से नैतिक समस्याओं के साथ-साथ सभी समस्याएँ समाप्त हो जाएँगी। भारतीय दार्शनिकों के अनुसार यही मुक्त मानव की धारणा रही है। नैतिक स्तर पर बाधित सर्वोच्च सद्गुण, प्रेम, सत्य और शुभ, दिव्य स्तर पर स्वाभाविक हो जाते हैं। इस प्रकार वर्तमान जीवन और दिव्य स्तर के जीवन में भारी अन्तर होता है। दिव्य जीवन मानव के द्वारा रचित समस्त नियमों और उसकी समस्त अभीप्साओं की पूर्ति होगा। दिव्य प्राणी में, व्यक्तित्व सार्वभौमिकता अथवा परात्परता का विरोधी नहीं होगा। मनुष्य विश्व से पूर्ण समन्वय रखेगा परन्तु उसके आधीन नहीं होगा क्योंकि वह उसका अतिक्रमण भी करेगा। उसे आत्मा की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होगी क्योंकि उसकी आत्मा परम शक्ति से स्वभावतया एकाकार होगी। अतिमानसिक स्तर पर मानव और प्रकृति का विरोध समाप्त हो जाएगा। नियम मानस का तरीका है जबकि आत्मा का सिद्धान्त स्वतन्त्रता है। दिव्य प्राणी आत्म-निर्धारित अथवा ईश्वर-निर्धारित अथवा आत्म-ज्ञान के अनुसार स्वतन्त्र होगा। उसकी दैवी एकता ही उसकी स्वतन्त्रता का आधार होगी। उसमें ज्ञान और संकल्प में समन्वय होगा क्योंकि आत्मा अपने सभी साधनों का समन्वय करती है। मानसिक स्तर पर परस्पर विरोधी स्वतन्त्रता और व्यवस्था दिव्य स्थिति में परस्पर पूरक होंगे। दिव्य स्तर पर व्यष्टि के विभिन्न पहलुओं और समष्टि के विभिन्न पहलुओं में स्वभावतया समन्वय होगा। दिव्य चेतना में अहंकार और परम अहम्, स्वार्थ और परार्थ में कोई संघर्ष नहीं होगा क्योंकि उसका आन्तरिक सत्य यह है जोकि इन दोनों की पूर्ति करता है और इनका अतिक्रमण करता है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "वहाँ स्वार्थ और परार्थ, स्वयं और अन्य का कोई प्रश्न नहीं होगा क्योंकि सभी को एक ही आत्मा के रूप में देखा और अनुभव किया जाएगा और जो कुछ परम सत्य और शुभ निश्चित करता है वही होगा।"[7] अतिमानसिक प्राणी में

सभी शक्तियाँ एक-दूसरे से घनिष्ठ होती हैं और एक होकर काम करती हैं। इसीलिए उसमें ज्ञान, अनुभूति और संकल्प में संघर्ष नहीं होता।

साधन का अन्तर

अतिमानसिक जीवन का साधन दिव्य जीवन के अन्य रूपों से भिन्न होगा। उच्चतर मानसिक पुरुष सत्य विचार के माध्यम से काम करेगा, प्रकाशित दिव्य प्राणी सत्य दृष्टि से कार्य करेगा, बोधमय दिव्य प्राणी सत्य संवेदना के माध्यम से काम करेगा और अधिमानसिक प्राणी वस्तुओं के सत्य को तुरन्त पकड़कर उनके प्रकाश में कार्य करेगा। परन्तु अतिमानसिक चेतना में ये सब साधन अपने स्रोत को लौट जाएँगे और ज्ञान के अकेले आकार के रूप में काम करेंगे जोकि सत्य चेतना का साधन है। यह सत्य चेतना दो प्रकार की है, "एक आन्तरिक आत्मज्ञान की चेतना और, आत्मा एवं जगत् से तादात्म्य के द्वारा, विश्व ज्ञान की आन्तरिक चेतना।"[8]

दिव्य समष्टि

दिव्य विकास में विविधता होगी, किन्तु उसका सदैव एक सामान्य आधार होगा क्योंकि दिव्य व्यक्ति समष्टि की आत्मशक्ति का एक व्यक्ति होगा इसलिए दिव्य समष्टि सत्य चेतना की सामूहिक आत्मशक्ति होगी। वह यन्त्रवत् नहीं बल्कि एक आध्यात्मिक केन्द्र के रूप में काम करेगी। व्यक्ति और समाज दोनों का जीवन और कर्म का एक ही सकलन, चेतना, एकता, स्वाभाविकता, सत्य दृष्टि, सत्य संवेदना, तथा प्रत्येक से प्रत्येक और सभी से सभी के सम्बन्ध में सत्य क्रम होगा। अतिमानसिकसमाज, "एकता की आत्माभिव्यक्ति में विविधता की अधिकतम समृद्धि" "दिव्य आत्माओं में असीम की विविध क्रीड़ा की स्वतन्त्रता," "आत्मा की चेतन एकता की एक व्यवस्था" होगी। अनुकूलन स्वाभाविक होगा, "एक बहुआयामी समृद्धि समष्टि रूप में ज्ञान तथा जीवन में व्यवहार की प्रणाली होगी।" श्री अरविन्द के शब्दों में, "समष्टिगत दिव्य जीवन में संकलन कार्य, सत्य दिव्य प्रकृति की एकता, स्वयं के अन्तर्गत उसकी अपनी समृद्धि के रूप में सभी विविधताओं को लिए रहेगी और विविध विचार, कर्म, अनुभूति को एक प्रकाशित पूर्ण जीवन की इकाई में बाँध लेगी।"[9] इस प्रकार सामूहिक दिव्य जीवन स्वभावतया व्यक्तिगत दिव्य जीवन के सिद्धान्तों पर आधारित होगा।

मानव-प्रजाति पर दिव्य प्रभाव

विकास के तथ्य से ही यह सिद्ध होता है कि दिव्य अभिव्यक्ति सम्पूर्ण में एक परिस्थिति होगी जबकि चेतना और जीवन के निम्न स्तर भी बने रहेंगे किन्तु दिव्य जीवन सम्पूर्ण पर शासन करेगा। उच्चतर मानसिक, प्रकाशित, बोधमय और अधिमानसिक प्राणी अपने समस्त प्रकाश और शक्ति अतिमानसिक अभिव्यक्ति से ग्रहण करेंगे और उनके सम्पर्क में जो कुछ अज्ञानमय जीवन आएगा उसे प्रकाशित करेंगे। उनके सम्पर्क से अज्ञानमय प्राणी अधिकाधिक चेतन और अनुक्रियात्मक होंगे। मानवता के अरूपान्तरित

भाग में इस सम्पर्क से बढ़ती हुई वृद्धि, आंशिक बोध, अंशत: प्रमाणित प्राप्त होगी। तथा उच्च स्तर के मानसिक मानव-प्राणी, "उच्चतर विचार में प्रत्यक्ष और आंशिक सम्पर्क स्थापित करेंगे।"[10] इस प्रकार एक उच्चतर मानवता की सम्पूर्ण प्रजाति का विकास होगा। उच्चतर की इस चरम परिणति में निम्नतर की भी चरम परिणति होगी।

निश्चेतना का उन्मूलन नहीं

दिव्य विकास निश्चेतना के पूर्ण उन्मूलन की ओर नहीं ले जाएगा क्योंकि, श्री अरविन्द के अनुसार, अतिचेतन और निश्चेतन के मध्य में गति कोई स्थायी परिस्थिति नहीं है बल्कि भौतिक अभिव्यक्ति का एक स्थायी नियम है। यह भौतिक जगत् में निश्चेतना की व्यापकता और स्थायित्व की भारी शक्ति में स्पष्ट है। पृथ्वी पर अतिमानसिक चेतना की अभिव्यक्ति पार्थिव प्रकृति के वक्ष को पूरा कर देगी, परन्तु उसका ऐसा व्यापक प्रभाव नहीं हो सकता कि जड़तत्व पूर्णतया समाप्त हो जाए। समाज दर्शन केवल पृथ्वी पर मानवता के भविष्य से सम्बन्धित है। अस्तु, हमारे प्रयोजन के लिए, यह याद रखना पर्याप्त है कि दिव्य प्राणी के आविर्भाव से पार्थिव प्रकृति में परिवर्तन होगा जोकि सच्चिदानन्द की एक परम अभिव्यक्ति से अतिमानसिक विकास की पूर्णता की ओर ले जाएगा।

विश्व-मोक्ष

आध्यात्मिक साक्षात्कार व्यक्ति के मोक्ष की ओर ले जाता है परन्तु वह परिवेशगत अस्तित्व को परिवर्तित नहीं करता। दिव्य अभिव्यक्ति पृथ्वी पर जीवन और कर्म के समस्त साधनों को परिवर्तित करेगी। श्री अरविन्द के अनुसार, "केवल स्वयं में दिव्य शक्ति को देखना और पाना ही नहीं, बल्कि सभी में दिव्य शक्ति को देखना और पाना, न केवल अपना व्यक्तिगत मोक्ष और पूर्णता खोजना बल्कि दूसरों का मोक्ष और पूर्णता भी खोजना आध्यात्मिक प्राणी का पूर्ण नियम है।"[11] गेटे का ओलम्पियन अहम् अथवा नीत्शे का शैतानी अहम् नहीं बल्कि व्यक्ति और समाज में एक और दोनों के परे भी, एक दिव्य आत्मा दिव्य जीवन का तत्त्व है।

सम्पूर्ण प्राणी की एकता

दिव्य प्राणी में अन्य लोगों से पूर्ण एकता, उनके मस्तिष्क, जीवन और शरीर की वैसी ही चेतना पाई जाएगी जैसी कि अपने मानस, जीवन और शरीर की होती है। यह घनिष्ठ एकता प्रेम, सहानुभूति और भ्रातृत्व के गुणों का वास्तविक स्थानापन्न होगी। दिव्य प्राणी न केवल अपनी परिपूर्ति खोजेगा बल्कि दूसरों की परिपूर्ति भी खोजेगा। वह व्यक्तिगत अहंकार अथवा समष्टिगत अहंकार में नहीं बल्कि सभी प्राणियों में दिव्य चेतना में स्थिर होगा।

दिव्य जीवन

यह पृथ्वी पर दिव्य जीवन का साक्षात्कार है। व्यक्ति की आध्यात्मिक पूर्णता नि सन्देह उसकी पहली अवस्था है। उसकी दूसरी शर्त पृथ्वी पर समस्त जीवन से व्यक्ति का पूर्ण तादात्म्य है। इन दोनों ही शर्तों पर भूतकालीन भारतीय दार्शनिकों ने जोर दिया है। श्री अरविन्द ने एक तीसरी अनिवार्य दशा बतलाई है अर्थात् मानवता के समस्त जीवन का अतिमानसिक रूपान्तरण, इसके लिए न केवल दिव्य व्यक्ति बल्कि दिव्य समष्टियों की भी आवश्यकता है जोकि एक सामान्य सत्य चेतना पर आत्म-निर्धारित कानून और व्यवस्था से आधारित हों। दिव्य व्यक्तियों के समान दिव्य समुदाय भी व्यापक स्वतन्त्र विविधता अभिव्यक्त करेंगे। इस विविधता से विरोध नही उत्पन्न होगा बल्कि परस्पर पूरकता बढ़ेगी क्योंकि स्वार्थों का टकराव नहीं होगा। दिव्य प्राणी सत्ता और आधीनता दोनों में ही समान रूप से आनन्दित होंगे क्योंकि आत्मा की स्वतन्त्रता का दोनों में अनुभव किया जा सकता है। श्री अरविन्द के शब्दो मे, "इस प्रकार समाज में उसका कार्यभाग और स्थिति सत्य मे आत्मव्यवस्था मे निर्धारित होंगे। अस्तु एकता, पारस्परिकता और समन्वय एक सामान्य और समष्टिगत दिव्य जीवन का अनिवार्य नियम होने चाहिएँ।"[12] सामाजिक विकास के इस आदर्श के व्यावहारिक साक्षात्कार में भूतकालीन असफलताएँ एक द्वैतवादी अज्ञानमय चेतना पर आधारित होने के कारण रही हैं। दिव्य चेतना मानवता के सामाजिक आदर्श के अधिक पूर्ण साक्षात्कार की ओर ले जाएगी। इस परिवर्तन की सम्भावना पर ही मानव-प्रजाति का अदृष्ट आधारित है। यदि परिवर्तन सम्भव नहीं है तो मानव का भविष्य निराशामय है। परन्तु विकास का तथ्य दूसरे विकल्प को अधिक सम्भावित बना देता है। जैसाकि श्री अरविन्द ने लिखा है, "पराप्रकृति को अभिव्यक्त करना और वही बनना हमारा आध्यात्मिक अदृष्ट है, क्योंकि वह हमारी सच्ची आत्मा की प्रकृति है, हमारा रहस्य है जोकि अभी अविकसित है।"[13] वास्तविकता यह है कि समस्त भूतकालीन विकास इस परिवर्तन की तैयारी रहा है। वह मानव-इतिहास में प्रत्येक संकट के द्वारा और भी निकट आता रहा है। इस परिवर्तन की ओर एक प्रवृत्ति, उसकी सम्भावना की अनुभूति, एक नवीन दृष्टि, एक तीव्र आवश्यकता कम-से-कम कुछ व्यक्तियों में अवश्य दिखलाई पड़ती है। यह प्रवृत्ति मानव-इतिहास में संकट का तनाव बढ़ने के साथ-साथ एक वास्तविक आवश्यकता बनती जा रही है। मानव-प्राणियों में इस माँग का दैवी शक्ति और प्रकृति में उत्तर है। यह उत्तर पृथ्वी पर दिव्य चेतना का आविर्भाव है।

संस्तरण काल की समस्याएँ

दिव्य चेतना का आविर्भाव सबसे पहले व्यक्ति में होगा। बाद में, ये आध्यात्मिक व्यक्ति, आध्यात्मिक सिद्धान्तों के आधार पर एक समूह बना सकते हैं। ये समूह सबसे पहले शेष समाज से अलग होंगे जैसे कि भूतकालीन मठवादी सम्प्रदाय होते थे। भूतकाल में ये मठ सदैव अपने चारों ओर की अज्ञान की शक्ति से पराभूत होते रहे क्योंकि अपूर्ण आध्यात्मिक अभीप्सा से इस अज्ञान को जीतना सम्भव नहीं

था। दिव्य परिवर्तन अज्ञान को ज्ञान में रूपान्तरित कर देगा। पृथक् आध्यात्मिक समुदाय दो प्रकार के प्रयोजनों पर आधारित होंगे, पहले वे व्यक्ति के जीवन के लिए एक सुरक्षित परिवेश और स्थान प्रदान करेंगे जिसमें कि वह अपने विकास पर केन्द्रित हो सके और समस्त शक्तियों को इसी दिशा में लगा सके, दूसरे वे उन परिस्थितियों में नवीन जीवन के जन्म और विकास में सहायता करेंगे जहाँ सब कुछ तैयार है। आध्यात्मिक व्यक्तियों का यह समुदाय बाधक शक्तियों के केन्द्रीकरण की ओर भी ले जा सकता है क्योंकि सभी लोगों की कठिनाइयाँ एकसाथ जुड़ जाएँगी। भूतकाल में यह कठिनाई अदम्य हो गई थी। परन्तु अब उसे जीता जा सकता है क्योंकि प्रकृति विकासात्मक परिवर्तन के लिए तैयार है और क्योंकि नवीन प्रकाश अपने साथ नवीन शक्ति लाएगा। यह शक्ति दिव्य समष्टि की न केवल निम्न शक्तियों के विरुद्ध रक्षा करेगी, बल्कि वह जीवन के निम्न रूपों के समन्वय की ओर भी ले जाएगी। ये सब अस्पष्ट सम्भावनाएँ हैं क्योंकि समाज दर्शन केवल उन्हीं तक पहुँच सकता है। यथार्थ में क्या होगा यह तो स्वयं अतिमानसिक तत्त्व की गतिशीलता पर निर्भर होगा जोकि मानस के नियमों और मानदण्डों से बँधी हुई नहीं है।

अतिमानसिक महामानवता

दिव्य प्राणी के जीवन को एक आध्यात्मिक अथवा अतिमानसिक महामानवता कहा जा सकता है। श्री अरविन्द के समाज दर्शन में यह महामानव भूतकाल में अन्य दार्शनिकों के द्वारा कल्पित महामानव से भिन्न है। नीत्शे के महामानव के विरुद्ध, श्री अरविन्द का महामानव एक अतिमानसिक महामानव है। पृथ्वी पर उसके आविर्भाव से अज्ञान की समस्त प्रक्रिया उलट जाएगी।

कुछ कठिनाइयाँ

मानव-जाति के भविष्य के विषय में श्री अरविन्द की उपर्युक्त परिकल्पनाओं में अनेक सन्देह उत्पन्न होते हैं जिनका श्री अरविन्द ने निराकरण किया है। इनमें प्रमुख कठिनाइयाँ निम्नलिखित हैं—

1. मानववादी कठिनाई—श्री अरविन्द की तत्त्वविद्या और समाज दर्शन विकास की अवधारणा पर आधारित हैं, किन्तु अपर्याप्त कारणों के आधार पर विकास के सिद्धान्त को चुनौती दी जा सकती है। प्रश्न यह उठता है कि क्या मनुष्य में एक अधिक विकसित प्राणी बन जाने की सामर्थ्य है? वर्तमान मानव-प्रकृति को देखते हुए अतिमानसिक चेतना के विकास पर विश्वास करना कठिन है। पुनः विकास मनुष्य पर ही क्यों नहीं रुक सकता? वास्तव में यह अनेक पाश्चात्य विचारकों का मत है जिनमें मानववादी, फलवादी, साधनवादी तथा भाववादी विचारक सम्मिलित हैं। मानववादी दर्शन न केवल वर्तमान में बल्कि भूतकाल में भी पाया जाता रहा है। "मनुष्य सभी वस्तुओं की कसौटी है" यह एक प्राचीन सिद्धान्त है जिसे मानव इतिहास में बार-बार दोहराया गया है मनुष्य के

लक्ष्य मानवता को प्राप्त करना है। वह अतिमानव या ईश्वर नहीं हो सकता। यदि अतिमानव का जन्म भी होगा तो भी वह एक भिन्न प्रजाति होगी, मानव का विकास नही होगा।

2. तत्त्वविद्या सम्बन्धी कठिनाई—यदि सृष्टि और पुनर्जन्म के विषय मे श्री अरविन्द के तत्त्वविद्या सम्बन्धी विचार मान भी लिए जाएँ तो भी मानव का विकास अनिवार्य रूप से सिद्ध नहीं होता। परम्परागत रूप में, अद्वैत वेदान्त ने मानव के आध्यात्मिक सार का भिन्न अर्थ लिया है। मनुष्य पहले ही ब्रह्म है, अस्तु, परिवर्तन अथवा विकास की कोई आवश्यकता नहीं है। निरपेक्षवादियों के अनुसार, निरपेक्ष पूर्ण और इसलिए गतिहीन है। अस्तु, अभिव्यक्ति का कोई प्रयोजन, कोई लक्ष्य नही है। विकास का सिद्धान्त विज्ञान के द्वारा पर्याप्त और अन्तिम रूप से स्थापित नहीं किया जा सकता है और इसलिए उसे तत्त्वविद्या में नहीं उठाया जाना चाहिए।

3. निरीक्षणात्मक कठिनाई—विकास निरीक्षण से सिद्ध नहीं होता। सृष्टि के सिद्धान्त स्थायी और अपरिवर्तनीय प्रतीत होते है। विभिन्न प्रकार की सृष्टि उत्पन्न हुई है और समाप्त हुई है, किन्तु किसी एक प्रकार का दूसरे में विकास नहीं हुआ। चार्ल्स डार्विन भी अपने विकासवादी सिद्धान्त में खोई हुई कड़ियों को जोड़ नहीं सके। जीवन और मानस का विकास भी अतिमानस का विकास सिद्ध नहीं करता क्योंकि मानस और अतिमानस के स्तर पूर्णतया भिन्न हैं। आनुवांशिकता की प्रकृति विकास की ओर नही बल्कि निरन्तरता को बनाए रखने की ओर है। प्रजातियों में पीढ़ियाँ तो दिखलाई पड़ती है किन्तु विकास नहीं दिखलाई पड़ता। आजतक किसी भी मानव-प्रजाति में अतिमानसिक प्रकृति के लक्षण दिखलाई नहीं पड़े। अस्तु, अधिकतम सम्भावना सम्पूर्ण प्रजाति के विकास की नहीं बलिक कुछ व्यक्तियों के विकास की हो सकती है।

4. धार्मिक कठिनाई—भूतकाल में धर्मों ने साधारणतया यह माना है कि पृथ्वी अज्ञान का लोक है और उसका उद्देश्य इससे अधिक कुछ होना नही है। उच्चतर शक्तियाँ अपार्थिव स्तरों पर होती हैं। मनुष्य का एकमात्र लक्ष्य जगत् के कष्टों, माया से बचाव है। मनुष्य ईश्वर की सर्वोच्च सृष्टि है। ईश्वर तक पहुँचने का एकमात्र मार्ग इस पृथ्वी से पलायन है। यह अधिकतर भारतीय दार्शनिकों की मोक्ष की धारणा रही है। जब कभी सदेह मोक्ष की सम्भावना मानी भी गई है तो भी अन्तिम मोक्ष जन्म-मरण के चक्र से छूटना अथवा जगत् की माया से छूटना माना गया है। कर्म का प्राचीन सिद्धान्त और जन्म-जन्मान्तर सम्बन्धी अवधारणाएँ मानव के विकास के विचार का समर्थन नहीं करतीं। पार्थिव जगत् से छुटकारा ही मानव-चक्र की चरम परिणति माना जाता रहा है।

5. मानव-प्रकृति में सन्देह—मानव-प्रकृति के विचार में भी सन्देह किया जाता रहा है। मनोविश्लेषणवादियों, विशेषतया सिगमंड फ्रायड की मानव-प्रकृति के विषय में खोजों से यह सिद्ध हुआ है कि जहाँ तक प्रेरणाओं और प्रवृत्तियों का प्रश्न है मनुष्य पशु से बहुत आगे बढ़ा है। जोकुछ प्रकृति मानव ने प्राप्त की है वह चैत्य जगत्, विज्ञान के क्षेत्र और परिवेश के नियन्त्रण के क्षेत्र मे है वह आदिम बर्बर मनुष्य से बेहतर नहीं है मानव की प्रकृति

एक दायरे में घूमती रही है। वह बदला नहीं है बल्कि केवल कुछ अंशों में अधिक व्यापक हुआ है। वह आज भी अज्ञान में चल रहा है और यह आशा करने का कोई कारण नहीं दिखलाई पड़ता कि वह कभी भी अज्ञान से निकल जाएगा। राजनीतिक, अन्तर्राष्ट्रीय, साहित्यिक, कलात्मक, नैतिक अथवा किसी भी अन्य मानव-उपलब्धि में भविष्य में आध्यात्मिक परिवर्तन की सम्भावना दिखलाई नहीं पड़ती।

उपरोक्त कठिनाइयों का श्री अरविन्द का उत्तर

श्री अरविन्द की परिकल्पनाओं के विरुद्ध उपरोक्त कठिनाइयों का उन्हें आभास था और इसलिए उन्होंने गहरे व्यक्तिगत अनुभव पर आधारित सिद्धान्तों, एक विविध सक्रिय जीवन, एक व्यापक अध्ययन और सर्वोपरि एक नवीन दृष्टिकोण वाले समाज-दार्शनिक के समान इन चुनौतियों का उत्तर दिया है। उनके विभिन्न उत्तर निम्नलिखित है—

1. विकास के प्रयोजन के विरुद्ध तर्कों का खण्डन— विकास में प्रयोजन की परिकल्पना दो आधारों पर खण्डित की गई है, वैज्ञानिक और दार्शनिक। वैज्ञानिक तर्क जगत् की प्रकृति के विषय में भौतिकशास्त्र की यान्त्रिक व्याख्या पर आधारित है जिसके अनुसार भौतिक जगत् देश-काल है। दार्शनिक तर्क इस दावे पर आधारित है कि निरपेक्ष पूर्ण है और इसलिए उसे कोई भी प्रयोजन प्राप्त नहीं करना है। पहले तर्क का खण्डन करते हुए श्री अरविन्द ने भौतिकशास्त्र में आत्मनिष्ठ प्रवृत्ति की ओर संकेत किया है जिससे यान्त्रिक सिद्धान्त का खण्डन हुआ है। आधुनिक विज्ञान जगत् में आध्यात्मिक शक्तियों की क्रीड़ा की परिकल्पना के विरुद्ध कोई भी तर्क उपस्थित नहीं करता। श्री अरविन्द ने विज्ञान की उन बातों को माना है जो सिद्ध हो चुकी हैं, किन्तु जहाँ वैज्ञानिक विधियाँ असफल हुई हैं वहाँ उन्होंने यौगिक विधियों का सहारा लिया है। यह सत्य है कि जड़तत्त्व की निश्चेतनशक्ति के पीछे छिपी हुई चेतना और संकल्प शक्ति की उनकी परिकल्पना वैज्ञानिक साधनों से प्रामाणिक सिद्ध नहीं की जा सकती, किन्तु कोई भी वैज्ञानिक सिद्धान्त इस परिकल्पना का खण्डन नहीं करता। फिर, यह कोई वैचारिक परिकल्पना मात्र नहीं है बल्कि एक व्यक्तिगत अनुभव है जोकि आवश्यक साधना वाले सभी लोगों के लिए सुलभ है। और यदि वैज्ञानिक उसकी आलोचना करता है तो उसे खण्डित करने का उत्तरदायित्व भी वैज्ञानिक पर ही है, जोकि एक ऐसा भार है जिसे वह अपने अपर्याप्त साधनों की सहायता से नहीं उठा सकता।

श्री अरविन्द का विकास का सिद्धान्त उनके अपने गहन व्यक्तिगत यौगिक अनुभव पर आधारित है। व्यक्तिगत अनुभव भिन्न होते हैं, इसके आधार पर उन्हें अप्रमाणित नहीं कहा जा सकता क्योंकि पर्याप्त प्रशिक्षण और आत्मविश्लेषण से अनुभव की प्रामाणिकता स्थापित हो सकती है। और जहाँ वैज्ञानिक प्रणालियाँ असफल होती हैं, वहाँ अन्य प्रणालियों को अपनाया जा सकता है चाहे वे कितनी भी अजनतन्त्रीय क्यों न हों एक जन तन्त्रीय एक सार्वभौम सन्देशवहन विज्ञान में प्रामाणिकता के लिए होता

है। किन्तु यह उन क्षेत्रों में सिद्धान्त नही बन सकता जहाँ विज्ञान असफल हुआ है। यदि कुछ क्षेत्रों में अब तक विज्ञान को असफलता मिली है तो असीम काल तक भावी वैज्ञानिको के द्वारा उस गांठ को खोले जाने अथवा उस क्षेत्र में सन्देहवाद अपनाने को बुद्धिमत्ता नही कहा जा सकता। योगज, धार्मिक, गुह्य तथा अन्य व्यक्तिगत अनुभवों से मिलकर विज्ञान मानव-जाति का अधिक कल्याण कर सकता है। श्री अरविन्द का सर्वांग योग एक गहरा व्यक्तिगत अनुभव है जिसको उन्होंने एक महान् वैज्ञानिक की सच्चाई और सूक्ष्मता के साथ निरन्तर विकसित किया है। और जैसे महान् वैज्ञानिक अपने क्षेत्रों में ज्ञाता होते है वैसे ही श्री अरविन्द अपने योग के क्षेत्र में विशेषज्ञ हैं। उनके विकास के सिद्धान्त का सत्य उनके यौगिक अनुभव पर आधारित है जोकि इस बात से पुष्ट होता है कि उन्होने कभी भी विज्ञान का विरोध नहीं किया वल्कि केवल वर्तमान वैज्ञानिक खोजों की सीमा दिखलाई है और अपनी दार्शनिक योजना में वैज्ञानिक सत्यो को उपयुक्त स्थान प्रदान किया है। सर्वांग सिद्धान्त अन्य सिद्धान्तो को पुष्ट करता है और उन पर विकास करता है। श्री अरविन्द का विश्व, प्रकृति और विकास का सिद्धान्त ऐसा ही है। इसलिए मानव-प्रजाति के भविष्य के विषय में उनकी परिकल्पनाओं और उनके समाज दर्शन का औचित्य उनके सिद्धान्त की सर्वांगता पर आधारित है।

2. **दार्शनिक तर्क का खण्डन**—श्री अरविन्द के विकास के सिद्धान्त के विरुद्ध निरपेक्षवादियों और अद्वैत-वेदान्तियों का दार्शनिक तर्क अधिक गम्भीर है। निरपेक्षवादियों के साथ श्री अरविन्द ने यह स्वीकार किया है कि निरपेक्ष में कोई भी प्रयोजन अपूर्ण नही हो सकता। वे यह मानते हैं कि समस्त सृष्टि में कोई विकास सम्भव नहीं है। परन्तु पृथ्वी पर, जैसाकि विज्ञान ने स्वीकार किया है, विकास सम्भव है, यद्यपि वह सृष्टि का एक अत्यन्त लघु अंश है। पृथ्वी पर विकास में अविकसित तत्त्वों की अभिव्यक्ति हुई है और उच्चतर शक्तियों का अवरोहण हुआ है। यह विचार पूर्णता के आदर्श के अनुकूल है। इसी प्रकार विकास का प्रयोजन महान् शक्तियों की अभिव्यक्ति के रूप में माना जा सकता है जोकि निरपेक्ष के प्रयोजनहीन पूर्ण प्रकृति के प्रतिकूल नहीं हैं क्योंकि, "वह समग्र के केवल एक अंश के साक्षात्कार का प्रस्ताव रखता है।"[14] वेदान्तियो के साथ श्री अरविन्द ने यह स्वीकार किया है कि विश्व एक नाटक, एक क्रीड़ा, एक लीला है परन्तु यह खेल भी कुछ लक्ष्य रखता है। आनन्द समस्त सत का प्रयोजन है। परन्तु उसमें आत्मसाक्षात्कार का आनन्द सम्मिलित है। संक्षेप में, श्री अरविन्द के शब्दो मे, "विश्वगत समग्रता के आंशिक पक्ष मे प्रयोजनात्मक कारक की मान्यता पर कोई आक्षेप नहीं हो सकता, यदि प्रयोजन, मानव-अर्थों में प्रयोजन नहीं बल्कि आन्तरिक सत्य चेतना है जोकि अन्तरंग आत्मा का संकल्प है, उसकी प्रवृत्ति के रूप में, समग्र प्रक्रिया मे अन्तर्निहित सम्भावनाओं को पूर्णतया अभिव्यक्त करना है।"[15]

विकास का प्रमाण

विकास की प्रक्रिया निरीक्षण और बोध दोनों से ही सिद्ध होती है। विकास का वैज्ञानिक सिद्धान्त स्वय आध्यात्मिक विकास के पक्ष मे एक तर्क है वह को

अपरिहार्य प्रमाण नहीं है क्योंकि इन दोनों की प्रकृति में अन्तर है, पहला बाह्य और दूसरा आन्तरिक प्रवृत्ति पर आधारित है। क्रमिक प्रक्रिया का तथ्य स्वयं-सिद्ध है। इसका प्रमाण विज्ञान में और साथ-ही-साथ पुराणों में पाया जाता है। जड़तत्त्व, जीवन तत्त्व, और मानस तत्त्व के क्रमिक विकास का आधुनिक सिद्धान्त प्राचीन और मध्य-कालीन भारतीय चिन्तन, उपनिषदों, पुराणों और तन्त्रग्रन्थों में स्वीकार किया गया है। निम्न स्तर के प्राणियों से मानव के विकास की परिकल्पना समझना कोई कठिन बात नहीं है। विज्ञान ने स्वयं प्रजाति के विषय में भारी प्रगति का प्रदर्शन किया है और यह सोचा जा सकता है कि प्रकृति की चेतन शक्ति के द्वारा अधिक व्यापक परिवर्तन सम्भव है। विकास की इस प्रक्रिया में निम्न स्तर आधार प्रदान करता है जिस पर उच्चतर स्तरों का आविर्भाव प्रकृति में तीव्र रूपान्तरण और चेतना के विकास के द्वारा सम्भव होता है। यह परिवर्तन नवीन है या परिणाम जनित है—यह परिवर्तन की प्रणाली के विषय में एक प्रश्न है, किन्तु दोनों ही दशाओं में विकास की प्रक्रिया का सत्य बना रहता है। यहाँ पर श्री अरविन्द ने एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया है। क्या यह सम्भव है कि मानव-शरीर की जटिल रचना सामान्य जड़शक्ति की अभिव्यक्ति में एक आकस्मिक उत्पादन हो? स्पष्ट है कि यह किसी ऐसी भौतिक शक्ति के हस्तक्षेप के बिना सम्भव नहीं है। प्राण से मानस और जड़तत्त्व से प्राण के आश्चर्यजनक आविर्भाव के लिए यह क्रिया आवश्यक है और इस क्रिया के लिए नीचे से तैयारी होनी चाहिए। इस प्रकार नीचे से आरोहण और ऊपर से अवरोहण दोनों ही विकासात्मक प्रक्रिया में नवीन स्तरों के आविर्भाव की अनिवार्य दशाएँ हैं।

प्रकृति का निश्चय

मानव का भावी विकास स्वयं उसके प्रकार में निहित है क्योंकि आत्मा से आगे बढ़ने की प्रवृत्ति उसका मौलिक तत्त्व है। इस प्रकार स्वयं अपने प्रकार के प्रति प्रामाणिक रहकर ही मनुष्य को अतिक्रमण करना है। पूर्णतया मनुष्य होने के लिए उसे एक दिव्य प्राणी, एक महामानव बनना है। श्री अरविन्द के अनुसार मानव-प्रगति से इनकार नहीं किया जा सकता। उनके अपने शब्दों में, "बाद के विकास में एक बढ़ती हुई सूक्ष्मता, जटिलता, ज्ञान का विविध विकास और राजनीति, समाज, जीवन, विज्ञान, तत्त्वविद्या, सब प्रकार के ज्ञान, कला, साहित्य में भी मानव की सम्प्राप्तियाँ, उसके आध्यात्मिक प्रयास में, प्राचीन लोगों की तुलना में आश्चर्यजनक ऊँची और अधिक सूक्ष्म आध्यात्मिकता की शक्ति में सूक्ष्मता, नमनीयता, गहराई और खोज का विस्तार बढ़ते गए हैं।"[16] इस समस्त विकास में प्रकृति नीचे से तैयारी रही है। श्री अरविन्द के अनुसार मानव-प्रजाति में आध्यात्मिक व्यक्तियों का आविर्भाव, दिव्य प्राणी की अभिव्यक्ति का वैसा ही निश्चित चिह्न है जैसाकि मानव-विकास में वनमानुष के आकार के जीव के आविर्भाव का था। निःसन्देह यह लक्षण सम्पूर्ण मानव-प्रजाति के अतिमानसिक स्तर पर विकास की सम्भावना नहीं दिखलाता यह तो उस अवस्था तक मानव के विकास की सामर्थ्य दिखलाता है विकास की इस प्रक्रिया में शरीर के परिवर्तन के पूर्व चेतना का परिवर्तन होगा सच तो

यह है कि दूसरा पहले के बाद आएगा। इस प्रकार विकास में मानव-क्रम बने रहेंगे परन्तु मानसिक स्थिति, "आध्यात्मिक और अतिमानसिक स्थिति की ओर बढ़ने का एक खुला सोपान बना रहेगा।"[17]

मानव के आविर्भाव का महत्त्व

पृथ्वी पर मानव के आविर्भाव ने निश्चित रूप से विकास की प्रक्रिया का मार्ग बदल दिया है। अब तक विकास प्रकृति की स्वाभाविक प्रक्रिया के माध्यम से होता था। मनुष्य ने अधिचेतन विकास को चेतन विकास बना दिया है। मानव-पूर्व अवस्थाओं में चेतना की शक्ति शरीर के कौशल से निर्धारित होती थी। मनुष्य में यह व्यवस्था उलट गई है क्योंकि विकास अब आन्तरिक और आध्यात्मिक है। मानव ने प्रकृति की विभिन्न प्रकार से सहायता की है। उदाहरण के लिए अपनी मानसिक और अन्य सामर्थ्यों में परिवर्तन के द्वारा, अपने परिवेश में और यहाँ तक कि पशु-साम्राज्य में और वनस्पति जगत् में नए प्रकार उत्पन्न करके परिवर्तन किए हैं। अस्तु, वह प्रकृति को अपने भौतिक और आध्यात्मिक विकास में भी सहायता कर सकता है। यह भौतिक और आध्यात्मिक विकास के निरीक्षण से सिद्ध हो चुका है। पुनर्जन्म की घटनाएँ भी यही सिद्ध करती हैं। मानव के रूप में भी चैत्य तत्त्व को प्रभावशाली बनने और अपनी सम्भावनाओं को अभिव्यक्त करने का अवसर मिला है। इस प्रकार श्री अरविन्द के तत्त्व दर्शन में ज्ञान और अज्ञान के बीच कोई निरपेक्ष खाई नहीं है। अस्तु, उनके अनुसार, विश्व-प्रकृति केवल उसके विशिष्ट पहलू में ही अज्ञानमय है। अस्तित्व का वास्तविक आधार चेतना है जोकि ज्ञान को अभिव्यक्त करने के लिए ही संघर्ष कर रही है। मनुष्य में यह चेतना ही उसे अतिमानसिक ज्ञान और सत पर ले जाएगी और मनुष्य में यह आध्यात्मिक प्रवृत्ति न केवल उसके अपने सत के आध्यात्मीकरण बल्कि प्रकृति की आध्यात्मिक विजय और मानव-समष्टि में एक दैवी अवरोहण की ओर प्रेरित रही है। यदि मनुष्य यह परिवर्तन करने में असमर्थ होता तो उसकी मृत्यु होकर महामानव का अवतरण होता। परन्तु यदि मनुष्य स्वयं अपने से आगे बढ़ सकता है तो वह महामानव पर पहुँच सकता है। यह प्रकृति में दोहरे विकास, चैत्य और मानसिक से सिद्ध हुआ है। यदि विश्व का प्रयोजन केवल दूसरे जगत् में पलायन होता तो इस मानसिक विकास का कोई अर्थ नहीं था। मानस के विकास का तथ्य यह दिखलाता है कि प्रकृति का प्रयोजन सत के एक व्यापक परिवर्तन में है। यह व्यापक प्रयोजन आध्यात्मिक विकास को और भी कठिन बना देता है क्योंकि उसमें मानस, प्राण और शरीर की गतिहीनता के कारण सभी सम्भव कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यह बाधा बहुधा अनुल्लंघनीय लगती है और आध्यात्मिक धैर्यहीनता, कठोरतावाद, मायावाद और परलोकवाद की ओर ले जाती है। यह प्रवृत्ति आत्मा की पूर्ण विजय के लिए आवश्यक है। जब तक आध्यात्मिक चेतना पूर्णतया स्थापित नहीं हो जाती, प्रकृति के अन्य क्षेत्रों में उसका विस्तार अपूर्ण ही रहता है।

त्रिविध सत्य का साक्षात्कार

आध्यात्मिक मानव-समाज अस्तित्व के तीन मूल तत्वों का साक्षात्कार करेगा, ईश्वर, स्वतन्त्रता और एकता, जोकि एक ही सत्य के तीन पहलू हैं। इनमें से किसी को भी अन्य दो का साक्षात्कार किए बगैर प्राप्त करना सम्भव नहीं है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "जब मनुष्य ईश्वर को देख पाता है और उसे पकड़ पाता है, तब वह जानेगा कि वास्तविक स्वतन्त्रता क्या है और वास्तविक एकता पर पहुँचेगा, कभी भी अन्य प्रकार से नहीं।"[18] आध्यात्मिक समाज एक सामूहिक अहम् के रूप में नहीं बल्कि एक समष्टिगत आत्मा के रूप में जीवन बिताएगा। वह हमारे अन्दर और इस पृथ्वी पर ईश्वर के साक्षात्कार का परिणाम होगा। हमारी समस्त सामाजिक क्रियाएँ, शिक्षा, विज्ञान, नीति, कला, आर्थिक और राजनीतिक संरचना, मानव में दिव्य आत्मा के साक्षात्कार का लक्ष्य रखेगी। विज्ञान जनसमुदाय में आत्मा की प्रक्रिया का पता लगाएगा। नैतिकता मनुष्य में एक दिव्य प्रकृति का विकास करेगी। कला उस सत्य और सौन्दर्य को अभिव्यक्त करेगी जो वस्तुओं में दिखलाई पड़ता है। शिक्षा न केवल बुनियादी कौशल सिखाने का लक्ष्य रखेगी, बल्कि मनुष्य में आत्मा के विकास और साक्षात्कार को लक्ष्य बनाएगी। समाजशास्त्र एक विकासमान आत्मा के रूप में मनुष्य पर विचार करेगा। अर्थशास्त्र सब मनुष्यों को, "कर्म में आनन्द देगा और उनकी अपनी प्रकृति के अनुसार तथा मुक्त रूप से आन्तरिक विकास, और सभी के लिए एक सरल रूप से समृद्ध व सुन्दर जीवन प्रदान करेगा।"[19] राजनीति राष्ट्रों को, "समूह आत्मा मानेगी जोकि व्यक्तियों की तरह अपनी प्रकृति के अनुसार विकसित होने के लिए है, और विकास में एक-दूसरे की सहायता करने के लिए, समस्त प्रजाति को मानवता के सामान्य कार्य के लिए सहायता करने के लिए है।"[20] श्री अरविन्द के अनुसार यह कार्य, "व्यक्ति और समष्टि में दिव्यात्मा को प्राप्त करना होगा और आध्यात्मिक रूप से, मानसिक रूप से, प्राणात्मक रूप से, पार्थिव रूप से सभी में आन्तरिक जीवन का महानतम, व्यापकतम, समृद्धतम और गहनतम सम्भावनाओं का साक्षात्कार और उनके बाहरी कर्म और प्रकृति में होगा।"[21] जैसे-जैसे व्यक्तियों में आन्तरिक दिव्य बाध्यता बढ़ती जाएगी समाज बाह्य बाध्यता को उठा लेगा। एक पूर्णतया स्वतन्त्र समाज में सभी पूर्णतया स्वतन्त्र होंगे। यह पूर्ण स्वतन्त्रता बिना पूर्ण एकता के पूरी नहीं होगी क्योंकि व्यक्ति के पूर्णता के लिए सार्वभौमिकता अनिवार्य है। मानव का भविष्य पूर्व की आध्यात्मिकता और पश्चिम के इहलोकवाद के समन्वय पर आधारित है। यह रूपान्तरण क्रमशः होगा और इसमें बार-बार असफलताएँ आएँगी, किन्तु एक बार नींव बन जाएगी तो प्रगति आसान हो जाएगी। जैसे-जैसे जगत् में आध्यात्मिक मनुष्यों की संख्या बढ़ती जाएगी, दिव्य योग का आविर्भाव निकट आता जाएगा। इस विकास में भी एक क्रम होगा, किन्तु वह एक समस्तरण होगा जोकि सभी अंगों में एकसाथ आगे बढ़ता जाएगा। निम्न तत्त्व को उच्च तत्त्व के द्वारा उठाया जाएगा और निर्देशित किया जाएगा ताकि वह भी निम्नतर के साथ यही व्यवहार करे। इस प्रकार मानवता एक नवीन आध्यात्मिक युग में पदार्पण करेगी, सामाजिक विकास के चक्र में एक नवीन अवस्था पर आएगी जोकि प्रकाश, ज्ञान एकता स्वतन्त्रता [illegible] पृथ्वी पर दिव्य जीवन की अवस्था होगी।

15

निष्कर्ष : समीक्षात्मक और तुलनात्मक मूल्यांकन

श्री अरविन्द ने मानव-प्रकृति की एक सर्वांग झांकी, एक सर्वांग इतिहास, सर्वांग दर्शन, तथा सामाजिक और व्यक्तिगत विकास की एक सर्वांग प्रणाली प्रस्तुत की है। यह सब एक सर्वांग समाज-दर्शन बनाते हैं जिसमें सामाजिक विकास के मनोविज्ञान के आन्तरिक विश्लेषण के आधार पर सामाजिक विकास के एक सर्वांग आदर्श पर जोर दिया गया है। यही मानव के भविष्य के विषय में श्री अरविन्द की परिकल्पनाओं का आधार है।

वर्तमान संकट का अर्थ

मानव-सभ्यता में वर्तमान संकट की श्री अरविन्द की व्याख्या नैतिकतावादियों, वैज्ञानिकों, अर्थशास्त्रियों, राजशास्त्रियों, दार्शनिकों, मनोवैज्ञानिकों और इतिहासकारों से अधिक सर्वांग और सूक्ष्म है, क्योंकि यौगिक दृष्टिकोण एक अधिक सर्वांग, गहन और व्यापक दृष्टिकोण होता है। श्री अरविन्द ने वर्तमान समस्याओं को केवल उनके मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक अर्थों में ही नहीं बल्कि प्रकृति के आन्तरिक प्रयोजन के परिप्रेक्ष्य में, उसकी विकासात्मक प्रक्रिया की आन्तरिक प्रवृत्ति की पृष्ठभूमि में देखा है।

विधायक समाज दर्शन

श्री अरविन्द की तत्त्वविद्या में आध्यात्मिक तत्त्व समस्त मानव का रूपान्तरण करता है और उसके मानस, प्राण और जीवन पर शासन करता है। उच्चतर का अवरोहण और निम्नतर का आरोहण निषेधात्मक परिणाम नहीं देता बल्कि निम्नतर की परिपूर्ति करता है। श्री अरविन्द के समाज दर्शन में इस सिद्धान्त का बड़ा महत्त्व है। उन्होंने एक अस्तिवादी अथवा विधायक समाज दर्शन दिया है। उनका समाज दर्शन अस्त्यात्मक है। आत्मा का जीवन भौतिक, प्राणात्मक अथवा मानसिक निराशाओं, अभावों और सामर्थ्यहीनता का जीवन नहीं होगा बल्कि अधिकाधिक आनन्द, शरीर की वृद्धि और क्रिया तथा प्राणतत्त्व और मानस के विकास का जीवन होगा। जबकि इन सबकी वर्तमान प्रवृत्तियाँ अँधी, अज्ञानमय और मानसिक स्तर पर संघर्षमय हैं, आध्यात्मिक स्तर पर वे समन्वित शुद्ध प्रकाशित और सहज हो जाएँगी।

अपरिहार्य समाज दर्शन

श्री अरविन्द का समाज दर्शन चाहे कितना भी ऊँचा दिखलाई पड़ता हो, उसका आध्यात्मिक आदर्श एक ऐसा आदर्श है जिसको प्रत्येक मानव-प्राणी अपने जीवन में खोजता है, चाहे वह अज्ञानी रूप से हो और गलत प्रणालियों से हो। यह प्रस्तावना सभी को स्वीकार करनी पड़ेगी कि यदि मनुष्य को जीवित रहना है तो उसे अधिकाधिक पूर्ण जीवन बिताना चाहिए और यही वास्तव में हम सब अपने-अपने तरीके से खोज रहे हैं। परन्तु बहुत कम लोग यह जानते हैं कि अधिक पूर्णतया जीवन बिताने का क्या अर्थ होता है और यही कारण है कि मनुष्य पूर्ण जीवन बिताने में असफल होते रहे हैं। अब यदि मनुष्य को अपनी भूतकालीन असफलताओं से कुछ सीखना है तो उसे यह समझना पड़ेगा कि पूर्ण जीवन का अर्थ पूर्ण विकास है और, जैसाकि श्री अरविन्द ने बार-बार दोहराया है, पूर्ण विकास का अर्थ सार्वभौम होना और अन्त में दिव्य जीवन है। अस्तु, शरीर, प्राण और मानस के अस्तित्व, वृद्धि और आनन्द के लिए भी मनुष्य को क्रमश: और सतत आरोहण के द्वारा आत्मा के स्तर पर आरोहण करने की आवश्यकता है।

आध्यात्मिकता की प्रकृति

साधारणतया अन्य समाज-दार्शनिक आध्यात्मिकता की प्रकृति को नहीं समझ सके हैं। उसे बहुधा उच्च बौद्धिकता, आदर्शवाद, कठोरतावाद, धर्मवाद अथवा भावात्मक प्रवृत्ति समझा गया है। यह इनमें से कुछ भी नहीं है और न इनका समग्र है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "सार रूप में आध्यात्मिकता हमारे सत की आन्तरिक सद्वस्तु की ओर, आत्म अहम् की ओर जागृति है जोकि मानस, प्राण और शरीर से भिन्न है, जोकि जानने, अनुभव करने, बनने, की एक आन्तरिक अभीप्सा है, महानतम सद्वस्तु से सम्पर्क में आने और विश्व में व्यापक होने तथा उस सत्ता से सम्पर्क करने की प्रवृत्ति है जोकि हमारे अपने सत में निवास करती है, उससे सम्पर्क बनाना और उससे एक हो जाना, उसकी ओर मुड़ना, एक रूपान्तरण है जोकि समस्त जीव का है तथा जोकि अभीप्सा, सम्पर्क, एकता, वृद्धि तथा एक नए मन के जागृत होने, एक नवीन आत्मा और एक नवीन प्रकृति की वृद्धि है।"[1]

प्रतिक्रियावादी या रूढ़िवादी नहीं

श्री अरविन्द न तो प्रतिक्रियावादी हैं और न रूढ़िवादी हैं। अपने यौगिक दृष्टिकोण से उन्होंने वर्तमान सभ्यता की सीमाओं और असफलताओं को देखा है तथा उसके भूतकालीन विकास में दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक अर्थ निकाले हैं, उसके रोगों का निदान किया है, भावी सम्भावनाएँ देखी हैं और ठीक समय पर यह चेतावनी दी है कि यदि मनुष्य वर्तमान संकट को सफलतापूर्वक पार नहीं करता और पृथ्वी पर प्रकृति के प्रयोजन को पूर्ण नहीं करता तो प्रकृति नया प्रयोग करेगी।

मानव-प्रकृति का यौगिक विश्लेषण

यौगिक प्रणाली के आधार पर मानव-प्रकृति का सूक्ष्म विश्लेषण मानव-ज्ञान में श्री अरविन्द का महत्त्वपूर्ण योगदान है। यह एक ऐसा आधार है जिस पर भविष्य मे मनोविज्ञान को आधारित होना पड़ेगा, यदि उसे मानव-विकास में अपना योगदान देना है। यह व्यक्तिगत और सामाजिक मनोविज्ञान को एक सर्वांग समाज-मनोविज्ञान का आधार प्रदान करेगा।

सर्वांग सामाजिक आदर्श

श्री अरविन्द का समाज दर्शन एक ऐसा आदर्श प्रस्तुत करता है जोकि मानव के समस्त सत, उसके अन्तर्गत और उसके साथियों से पूर्ण समन्वय पर आधारित है। यह केवल अस्तित्व का सिद्धान्त नहीं है बल्कि विकास का भी सन्देश है और सर्वोपरि आनन्द का सन्देश है जोकि अत्यधिक भौतिकवादी और स्वार्थी मनुष्य का भी होता है, भले ही यह गलत प्रणालियों से हो। श्री अरविन्द के समाज दर्शन में आदर्श यथार्थ की व्याख्या करता है, अन्त आरम्भ को बतलाता है, और वर्तमान भूत का अर्थ समझाता है। सर्वांग परिप्रेक्ष्य में उच्चतर निम्नतर की व्याख्या करता है जिसको वह संकलित करता और अतिक्रमण करता है।

यथार्थ आदर्शवाद

श्री अरविन्द का आदर्शवाद यथार्थवादी है यद्यपि उनका यथार्थवाद कभी भी आध्यात्मिक दृष्टिकोण नहीं छोड़ता। इतिहास-दार्शनिक के रूप में वे अत्यधिक आदर्शवादी हैं, यद्यपि उनका आदर्शवाद कठोर यथार्थवाद पर आधारित है। मानव-इतिहास की विभिन्न गतिविधियों में उन्होंने अपनी दृष्टि सदैव उसके पीछे काम करने वाले प्रकृति के केन्द्रीय प्रयोजन पर जमाए रखी है। उन्होंने स्वयं कहा है, "हमारा आदर्शवाद हमारे लिए सबसे अधिक सही मानव-वस्तु है, परन्तु एक मानसिक आदर्शवाद के रूप में वह प्रभावहीन वस्तु है। प्रभावशाली होने के लिए उसे एक आध्यात्मिक यथार्थ-वाद में बदलना पड़ेगा जोकि आत्मा की उच्चतर सद्वस्तु पर हाथ रखेगा और हमारी सवेदनात्मक, प्राणात्मक और भौतिक प्रकृति की निम्न सद्वस्तु को ऊपर उठाएगा।"[2] इस प्रकार फलवादियों, मानवसत्तावादियों, वैज्ञानिकों, भाववादियों, यथार्थवादियो और भौतिकवादियों तक से श्री अरविन्द के समाज दर्शन का अन्तर जीवन की धारणा को लेकर है जोकि श्री अरविन्द के दर्शन में अधिक व्यापक, गहन, जटिल और सर्वोपरि जीवन के पीछे छिपे प्रकृति के आन्तरिक प्रयोजन में मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक अन्तर्दृष्टि पर आधारित है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "व्यापकतम अर्थ में जीवन हमारे आन्तरिक और बाहरी कर्म की महान् व्यवस्था है, शक्ति की क्रीड़ा, कर्म की क्रीड़ा, धर्म और दर्शन, चिन्तन और विज्ञान, काव्य और कला, नाटक और गीत, नृत्य और क्रीडा, राजनीति और समाज, उद्योग, वाणिज्य और व्यापार, नई-नई खोजें और यात्राएँ, युद्ध और शान्ति, संघर्ष और एकता, विजय और हार, अभीप्साएँ और मानसिक संघर्ष,

विचार, संवेग, शब्द, कार्य, आनन्द और दुःख, मानव के अस्तित्व को बनाते हैं।[1] इस प्रकार जीवन जो कुछ वह बाहर से दिखलाई पड़ता है केवल वही नहीं है बल्कि वह भी है जोकि वह इन बाहरी रूपों में छिपे तौर से खोजता है।

अदम्य आशावाद

समाज-दार्शनिक के रूप में श्री अरविन्द सब प्रकार के निराशावाद के विरुद्ध हैं। उनका समाज दर्शन एक अदम्य आशावाद पर आधारित है जोकि एक सर्वांग तत्त्व-विद्या पर टिका है जिसकी जड़ें उनके दिव्य तत्त्व के यथार्थ अनुभव में हैं। वे कहते हैं, "सभी निराशावाद आत्मा की पूर्णता और शक्ति का निषेध है, जगत् में ईश्वर के तरीकों के प्रति धैर्यहीनता, दैवी ज्ञान और संकल्प में आस्था का अभाव है जोकि जगत् को बनाता है और उसे सदैव निर्देशित करता है।"[1]

श्री अरविन्द उपयोगितावादी समझौतों, अपूर्ण निदानों तथा प्रगति और अवनति के चक्र से सन्तुष्ट नहीं हैं। किसी भी अन्य चिन्तक की तुलना में उन्होंने वर्तमान मानव-जाति के सामने उपस्थित संकट को अधिक गम्भीरता से समझा है। इस संकट की व्याख्या करने में उन्होंने उसके बाह्य लक्षणों से अधिक मानव के पीछे और समस्त विश्व में कार्य करने वाली प्रकृति की शक्तियों के प्रसंग में उसके अर्थों के रूप में समझा है। उन्होंने यह अनुभव किया है कि मानव-इतिहास में वर्तमान स्थिति अत्यधिक निराशाजनक है। किन्तु फिर फलवादियों अथवा विज्ञान के समर्थक दार्शनिकों से भी अधिक आशावाद के साथ वे मानव के भविष्य के बारे में बतलाते हैं। यह अदम्य आशावाद किसी धार्मिक व्यक्ति का आदर्शवाद नहीं है। यह समस्या के व्यावहारिक सुलझाव पर आधारित है तथा तत्त्वविद्या पर आधारित होने के कारण उसका उपचार अन्य सुलझावों से अधिक निश्चित और व्यापक है।

सर्वांग नीति दर्शन

श्री अरविन्द के सर्वांग नीति दर्शन में किसी भी सिद्धान्त का निराकरण नहीं किया गया है। किसी भी सिद्धान्त की आलोचना करते समय उनका प्रयोजन उसका निराकरण करना नहीं बल्कि उसकी सीमाएँ दिखलाना रहा है। श्री अरविन्द के समाज दर्शन में आलोचना सदैव रचनात्मक होती है; और आलोचना से पहले वह सदैव सिद्धान्त के गुणों का बखान करते हैं क्योंकि उनके अनुसार प्रत्येक भूल की भ्रामक रचना के पीछे कोई-न-कोई सत्य छिपा रहता है। अपने आध्यात्मिक दृष्टिकोण में श्री अरविन्द ने सभी नैतिक सिद्धान्तों को नैतिक सत की प्रगति में विभिन्न अवस्थाओं के रूप में देखा है जोकि आत्मा के नैतिक विकास में उपयोगी और आवश्यक हैं यद्यपि सीमित हैं और इसलिए उनका अतिक्रमण करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार उन्होंने नैतिकता की एक आध्यात्मिक अवधारणा, एक सर्वांग नीतिशास्त्र उपस्थित किया है जोकि अपने विकासात्मक दृष्टिकोण में सभी सिद्धान्तों को समा लेता है और मानव के सर्वांग विकास पर जोर देते हुए उन सबका अतिक्रमण करता है। श्री अरविन्द का

पूर्णतावाद दो अर्थों में सर्वांग है। एक तो उसमें सम्पूर्ण मनुष्य की पूर्णता आवश्यक मानी गई है और दूसरे वह समस्त पार्थिव प्रवृत्ति का रूपान्तरण खोजता है। जर्मन दार्शनिक इमैनुएल काण्ट यह सोचता था कि मनुष्य दूसरे मनुष्यों को पूर्ण नहीं बना सकता और इसलिए उसने यह परामर्श दिया कि हमें अपने लिए पूर्णता और दूसरों के लिए आनन्द की खोज करनी चाहिए। अपनी यौगिक अन्तर्दृष्टि और ज्ञान के आधार पर श्री अरविन्द यह दिखलाते हैं कि पृथ्वी पर अतिमानसिक शक्तियों को उतारकर मनुष्य कैसे सम्पूर्ण मानवता को पूर्ण बनाने में योगदान दे सकता है। श्री अरविन्द के नीति दर्शन में पूर्णता और परोपकार केवल आत्मनिष्ठ आदर्श नही है बल्कि वस्तुगत सम्भावनाएँ हैं। यह सर्वांग पूर्णतावाद स्वार्थवाद और परार्थवाद का समन्वय करता है, किन्तु वह अरस्तू के स्वर्णिम मध्य मार्ग का सिद्धान्त नहीं है क्योंकि श्री अरविन्द के अनुसार समझौते से केवल कठिनाई टल जाती है और वह समस्या की जटिलता को और भी बढ़ा देता है।

सामाजिक विकास की सर्वांग प्रणाली

अन्य सभी सिद्धान्तों की तरह, श्री अरविन्द के समाज दर्शन में सामाजिक विकास का सिद्धान्त भी व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों पहलुओं में समझा जाना चाहिए जोकि प्रकृति के विकासवादी सिद्धान्त का गहन और विस्तृत पहलू है। सामाजिक विकास की प्रणालियाँ, जिनका विवेचन पीछे किया गया है, इस दोहरे प्रयोजन से विवेचित की गई हैं। श्री अरविन्द के अनुसार आध्यात्मिक विकास, व्यष्टि और समष्टि दोनों का ही लक्ष्य है। समाज दर्शन सामाजिक विकास की एक ऐसी प्रणाली खोजता है जोकि व्यक्ति और समाज में आध्यात्मिक विकास के लक्ष्य को प्राप्त कर सके। श्री अरविन्द के समाज दर्शन में, अन्य सभी समस्याओं के समान, प्रणाली का सूत्र भी प्रकृति में विकासवादी तत्त्व पर आधारित है क्योंकि अन्त में मनुष्य उस समस्त को साक्षात्कार करने का साधन है जिसे प्रकृति जड़तत्त्व और प्राणतत्त्व के माध्यम से अपूर्ण रूप से खोजती रही है।

समाज दर्शन में अतिमानसिक दृष्टिकोण

श्री अरविन्द के अनुसार मनुष्य वर्तमान संकट का सामना कर सकता है और पृथ्वी पर प्रकृति के प्रयोजन को पूरा करने का आदर्श प्राप्त कर सकता है। उनके भविष्य के दृष्टिकोण सभी कालों में मानव-जाति की वास्तविक आकांक्षाओं के अनुरूप है। मनुष्य अपने ज्ञान की अपूर्णता और आत्मसाक्षात्कार की कमी से इन आदर्शों को प्राप्त करने मे बारम्बार असफल हुआ है। मानस और अतिमानस का विरोध, अतिमानस की ओर आन्तरिक प्रवृत्ति और अतिमानस में मानस की परिपूर्ति, श्री अरविन्द द्वारा प्रस्तुत मानव की सभ्यता के वर्तमान रोगों का निदान और उपचार है। मनुष्य की समस्त वर्तमान कठिनाइयाँ मानव-जीवन की बढ़ती हुई जटिलताओं के नियन्त्रण और समन्वय मे मानस की के कारण हैं यह असफलता एक संकट की चुनौती देती है जोकि मनुष्य को एक विकासात्मक स्थिति के रूप में असफल बना देगी इस समस्या क

सुलभाव मानव और प्रकृति में अन्तर्निहित प्रेरणा की पूर्ति है। इसका अर्थ है अतिमानसिक स्तर पर आरोहण। इस अतिमानसिक स्तर में अन्तर्दृष्टि मानवता के भविष्य के विषय में श्री अरविन्द की परिकल्पनाओं का आधार है। विकासात्मक प्रक्रिया के बुद्धि से निम्न और बौद्धिक सोपानों का उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण श्री अरविन्द के इतिहास-दर्शन और सामाजिक विकास के मनोविज्ञान का आधार है। उनके अनुसार, सामाजिक विकास का आदर्श व्यक्ति और समाज में अन्तर्निहित भौतिक, प्राणात्मक, मानसिक और चैत्य पहलुओं की समन्वित परिपूर्ति है। यह बौद्धिक स्तर पर सम्भव नहीं है क्योंकि बुद्धि इनके समन्वय करने में असमर्थ रहती है। अतः, सामाजिक विकास की प्रणाली को मनुष्य और मानवता को आध्यात्मिक स्तर पर पहुँचाने में सहायता करनी चाहिए। सभ्यता और संस्कृति, शिक्षा, नीति और धर्म को मानव, व्यक्ति और समाज को आध्यात्मिक स्तर पर पहुचने में सहायता करनी चाहिए, किन्तु ये सभी इस प्रयोजन को पूरा करने में असमर्थ रहे हैं। अस्तु, श्री अरविन्द के अनुसार सर्वांग योग ही एक ऐसी प्रणाली है जोकि इस स्तर पर निश्चित रूप से प्रवेश करा सकती है।

व्यवस्था निर्माण नहीं

श्री अरविन्द का समाज दर्शन व्यवस्था निर्माण से नहीं बना है। वे चिन्तन और व्यावहारिक जीवन में किसी भी प्रकार की व्यवस्था बनाने के विरुद्ध हैं। भूतकाल में व्यवस्था निर्माण ही समाज-दार्शनिकों की सबसे बड़ी भूल रही है क्योंकि सामाजिक संरचना के अन्तर्गत निरपेक्ष अथवा असीम तत्त्व पर सीमित बुद्धि कभी भी शासन नहीं कर सकती। यही कारण था कि शाश्वत मूल्य के एक महान् आदर्शवादी समाज दर्शन के बावजूद प्लेटो की जनतन्त्र की धारणा पूर्णतया असफल रही। वास्तव में व्यवस्था बनाना चिन्तन में एक आन्तरिक दोष है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "अपने आदर्श को व्यवस्था में घटाइए और वह एकदम असफल होने लगता है, अपने सामान्य नियमों और निश्चित विचारों को व्यवस्थापूर्वक सिद्धान्तवादी की तरह लागू कीजिए और जीवन बहुत शीघ्र आपकी पकड़ से निकल जाता है अथवा आपकी व्यवस्था को बदल देता है, यदि वह थोड़ा भी मौजूद है तो उसे ऐसा रूप दे देता है जिसे उसका जन्मदाता पहचानेगा भी नहीं और शायद उसका खण्डन करेगा, शायद वह जो सिद्धान्त प्रसारित करना चाहता था उसका यह पूर्ण विरोध हो।"[5] यह कठिनाई इस तथ्य के कारण है कि इस पृथ्वी पर प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक वर्ग, प्रकार और प्रवृत्ति, असीम निरपेक्ष में अपनी खोज कर रही है जोकि बुद्धि की पकड़ में नहीं आता। यह कठिनाई प्रत्येक व्यक्ति मे उपस्थित आन्तरिक सम्भाव्यता और परिवर्तन के सिद्धान्त से और भी बढ़ जाती है। विकास के नेता मानव में यह कठिनाई सर्वोच्च शिखर पर पहुँच जाती है। मानव-प्रजाति मे असीम सम्भावनाएँ हैं और उसकी सभी शक्तियाँ और प्रवृत्तियाँ अपने-अपने ढंग से निरपेक्ष को खोज रही हैं। इन शक्तियों के अंश, प्रणालियाँ और योग प्रत्येक व्यक्ति के साथ बदलते रहते हैं क्योंकि मानव केवल व्यक्ति ही नहीं है बल्कि असीम भी है यही कारण है कि मनुष्य आत्मा और प्रकृति पर अधिकार और की प्रवृत्तियों को

पूर्ण नहीं कर सका। इसी कारण से मनुष्य को बुद्धि से अधिक व्यापक और सर्वांग शक्ति की खोज करनी है। इसका अर्थ यह नहीं है कि समाज दर्शन में व्यवस्था का पूर्णतया निषेध किया जाए क्योंकि जीवन, चाहे वह व्यक्ति में हो या समाज में, किसी-न-किसी प्रकार की व्यवस्था के बिना असम्भव है। सांस्कृतिक आदर्शों की सम्भावनाएँ केवल सामाजिक नियमों के द्वारा यथार्थ बनाई जा सकती हैं। व्यवस्था निर्माण आत्मा को अवरुद्ध करता है, सार के रूपों को प्रस्तरित करता है, फिर भी आत्मा अनेक रूपों में अभिव्यक्त होती है। सामाजिक और सांस्कृतिक नियम, व्यवस्थाएँ, संस्थाएँ और संरचनाएँ, एकसाथ ही आत्मा की अभिव्यक्तियाँ और सीमाएँ हैं। श्री अरविन्द के शब्दों में, "जो कुछ आवश्यक है वह यह है कि निर्धारित रेखाएँ व्यापक और प्रशस्त हैं, उनमें विकास हो सके, ताकि आत्मा आगे बढ़ सके और जीवन में नमनीयता और कठोरता में अभिव्यक्त हो सके, ताकि वह नवीन सामग्री को समा सके और समन्वय कर सके, और अपनी एकता को खोए बगैर विविधता और समृद्धि को बढ़ा सके।"[6]

समीक्षात्मक और तुलनात्मक विवेचन

पिछले विवेचन में श्री अरविन्द के समाज दर्शन के विभिन्न पहलुओं को यथा-सम्भव स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। लेखक का यह विश्वास है कि किसी भी दार्शनिक को समझने के लिए सबसे पहले उसके ग्रन्थों पर सहानुभूतिपूर्वक मनन किया जाना चाहिए और सभी वस्तुओं को उसके विशिष्ट दृष्टिकोण से देखा जाना चाहिए। इससे ही किसी दर्शन के प्रति न्याय होना सम्भव है। किन्तु फिर विभिन्न दार्शनिकों ने सामाजिक सद्वस्तु पर विभिन्न दृष्टिकोणों से चिन्तन किया है और इसलिए किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए विभिन्न समस्याओं के विषय में विभिन्न दृष्टिकोणों का तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक है। किसी विशिष्ट दर्शन के समीक्षात्मक विवेचन से यह पता चलता है कि वास्तविक समस्या के सुलझाव में वह कहाँ तक सहायक हो सकता है। यहाँ पर हम श्री अरविन्द के समाज दर्शन के समीक्षात्मक विवेचन के द्वारा कुछ ऐसी कठिनाइयों को उठाएँगे जो उनके समाज दर्शन में मिलती है।

मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं पर जोर

एक योगी दार्शनिक के रूप में श्री अरविन्द ने मानव-इतिहास की प्रक्रियाओं की पृष्ठभूमि में आन्तरिक शक्तियों पर दृष्टि रखी है। इसलिए वे इस प्रक्रिया में भी मनोवैज्ञानिक अवस्थाएँ दिखलाते हैं। उनके लिए बाह्य वस्तु आन्तरिक की अभिव्यक्ति है। उन्होंने सब-कहीं बाह्य घटनाओं के आन्तरिक अर्थों की खोज की है। इस आन्तरिक और वस्तुनिष्ठ तत्त्व पर जोर देने के कारण वे बहुधा बाह्य और वस्तुनिष्ठ शक्तियों का पर्याप्त अनुमान नहीं कर पाते जोकि इस जगत् में कार्य करती हैं। इतिहास की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते समय उन्होंने आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा अन्य शक्तियों के कार्यभाग की अवहेलना की है इस प्रकार यदि मार्क्स की इतिहास की व्याख्या में आर्थिक शक्तियों पर

अत्यधिक जोर दिया गया है जो श्री अरविन्द ने मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया पर अत्यधिक जोर दिया है। निःसन्देह मानव-घटनाओं को रूप देने में आन्तरिक शक्तियाँ महत्त्वपूर्ण कार्य-भाग अदा करती है, परन्तु मानव-इतिहास के निर्माण में भौतिक, भौगोलिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शक्तियों ने भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। निःसन्देह मनुष्य एक मनोवैज्ञानिक प्राणी है परन्तु वह एक भौतिक, जैवकीय, सामाजिक और राजनीतिक प्राणी भी है। मनुष्य पर भौगोलिक, जैवकीय और आर्थिक शक्तियों के प्रभाव से कौन इनकार कर सकता है? इस प्रकार मनोवैज्ञानिक शक्तियों पर अत्यधिक जोर देना श्री अरविन्द के दर्शन के सर्वांग दृष्टिकोण के विरुद्ध है।

आत्मनिष्ठ राष्ट्रवाद

इसी मनोवैज्ञानिक पूर्वाग्रह के कारण श्री अरविन्द ने आत्मनिष्ठ प्रवृत्तियों पर इतना अधिक जोर दिया है। जब देश में राष्ट्रवाद तेजी से उठ रहा था तो श्री अरविन्द ने राष्ट्रीयता के राजनीतिक आदर्श को अत्यधिक रहस्यवादी रूप में उपस्थित किया। राष्ट्र निःसन्देह देश-भक्ति की भावनाओं से आगे बढ़ते हैं और आत्मनिष्ठ राष्ट्रवाद का अपना महत्त्व है, किन्तु राष्ट्रों के विकास में विज्ञान के माध्यम से प्रकृति के रहस्यों पर अधिकार और आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी समष्टि के रूप में उनके अस्तित्व के लिए आवश्यक होती है। यदि एक राष्ट्र दूसरे पर आक्रमण नहीं करता तो इसका कारण सदैव पवित्र भावनाएँ ही नहीं होतीं बल्कि हार का भय भी होता है। आज विश्व में जो राष्ट्र महान् माने जाते हैं वे वे नहीं हैं जिन्होंने आत्मनिष्ठ या आध्यात्मिक अर्थ में राष्ट्रीय आत्माओं का साक्षात्कार किया है, बल्कि वे हैं जोकि विज्ञान, अस्त्र-शस्त्र और आर्थिक शक्ति में आगे बढ़े हैं। यदि इस जगत् में पैगम्बरों और सन्तों ने कुछ महान् कार्य किए हैं तो राजनीतिज्ञों, अर्थशास्त्रियों, राजनयिकों और वैज्ञानिकों ने भी अपने देशों की प्रगति में कम महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया है। अस्तु, मानव-इतिहास की प्रक्रिया और राष्ट्रवाद के विश्लेषण में श्री अरविन्द ने निश्चय ही कुछ नवीन सत्यों को स्पष्ट किया है, किन्तु यौगिक अभ्यासों में अत्यधिक लगे रहने और प्रत्यक्ष राजनीति से अलग रहने के कारण उन्होंने आत्मनिष्ठ और मनोवैज्ञानिक कारकों पर अत्यधिक जोर दिया है।

इतिहास की आन्तरिक व्याख्या

मानव के ऐतिहासिक विकास में विभिन्न सोपानों के श्री अरविन्द के वर्गीकरण में भी यही एकांगिता दिखाई पड़ती है। उनका वर्गीकरण मनोवैज्ञानिक है और यही उसका गुण और दोष है। अन्य विचारकों ने मानव-इतिहास के आर्थिक सोपान दिखलाए हैं। कुछ अन्य विचारक सांस्कृतिक वर्गीकरण उपस्थित करते हैं। आर्थर ओसबार्न, बर्दाइयेव, टायनबी, हर्बर्ट स्पेन्सर तथा अन्य इतिहास-दार्शनिकों ने ऐतिहासिक प्रक्रिया में भिन्न-भिन्न योजनाएँ दिखलाई हैं। ये सभी किसी विशिष्ट तत्त्व का अनावरण करने में महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई हैं और उसी के आधार पर इन्होंने वर्गीकरण किया है। यही महत्त्व श्री अरविन्द के वर्गीकरण का है वह सामाजिक विकास के मनोविज्ञान में हमें अन्तर्दृष्टि

प्रदान करता है। वह मानव-इतिहास की प्रक्रिया में विभिन्न सोपानों के मनोवैज्ञानिक अर्थ स्पष्ट करता है। किन्तु इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि मानव-इतिहास की व्याख्या का वह एकमात्र अथवा सर्वोत्तम प्रयास है। वास्तव में मानव-इतिहास की व्यापक और जटिल प्रक्रिया को किसी भी स्पष्ट योजना के सुनिश्चित प्रतिमानों में नहीं बाँधा जा सकता, चाहे वह योजना कार्ल मार्क्स की हो या श्री अरविन्द की हो। इतिहास की विभिन्न व्याख्याएँ हमें मानव-इतिहास के किसी एक अथवा दूसरे पहलू में अन्तर्दृष्टि प्रदान करने का महत्त्वपूर्ण कार्य करती हैं, परन्तु फिर कोई भी व्याख्या अन्तिम नहीं हो सकती। यदि यह हेगेल और मार्क्स की आलोचना की जाती है तो यही इतिहास की श्री अरविन्द की व्याख्या पर भी लागू होती है। मानव की इतिहास की व्याख्या एक निरन्तर प्रक्रिया है। उससे उसे बराबर नई और गहरी अन्तर्दृष्टि मिलती रहेगी। किन्तु वह कभी भी अन्तिम नहीं होगी। श्री अरविन्द के दावों का मूल्यांकन करते समय इस तथ्य को याद रखना चाहिए।

व्यक्ति और राष्ट्र में अन्तर की अवहेलना

सामाजिक विकास के मनोविज्ञान के अपने विवेचन में श्री अरविन्द ने व्यक्ति और राष्ट्र की रचनाओं में कुछ समानताओं की ओर सही संकेत किया है। प्राचीन काल से दार्शनिकों ने अणु और विभु में समानताएँ दिखलाई हैं, किन्तु समानताओं को देखने के अत्यधिक उत्साह में वे बहुधा भेदों को कम समझ बैठे हैं। हम श्री अरविन्द के साथ यह स्वीकार भी करें कि व्यक्ति राष्ट्र अथवा समाज—सभी में एक शरीर, मानस और एक आत्मा होती है तो भी हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि जबकि मानव-शरीर, मानस और आत्मा स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखते, राष्ट्र अथवा समाज के घटक सदस्य व्यक्तियों के रूप में स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। और इस अन्तर से व्यक्ति और राष्ट्र की समानताओं की परिकल्पना के आधार पर किए गए निगमनों की सम्भावनाएँ अत्यधिक सीमित हो जाती है। राष्ट्रपूजक श्री अरविन्द राष्ट्र आत्मा के प्रति अपने अत्यधिक उत्साह में बहुधा राष्ट्र के विभिन्न व्यक्तियों के परस्पर और राष्ट्र से अन्तर को भूल जाते हैं। जब वे यह कहते हैं कि राष्ट्र मानव-प्राणियों की सबसे बड़ी इकाई है तो वे यह भी मानते है कि यह इकाई अभी पूर्णतया संगठित नहीं हुई है। तब फिर इस तरह की असंगठित इकाई में आत्मा कैसे हो सकती है? श्री अरविन्द की राष्ट्र आत्मा की अवधारणा इस तथ्य के सामने खण्डित हो जाती है कि भारत राष्ट्र में से पाकिस्तान राष्ट्र का जन्म हुआ और फिर पाकिस्तान राष्ट्र में से बांगला देश राष्ट्र बना और इसी प्रकार आगे भी अन्य छोटे-छोटे राष्ट्र पख्तूनिस्तान अथवा सिंध के अलग हो जाने की सम्भावना हो सकती है।

यही एकांगी दृष्टिकोण श्री अरविन्द के व्यक्ति और समाज के विकास में समान्तरता दिखलाने में दिखलाई पड़ता है। उन्होंने मानव के विकास को बुद्धि से निम्न स्तरों से बौद्धिक और अतिबौद्धिक सोपानों तक दिखलाया और समान्तरता में आस्था के आधार पर समस्त मानव-समाज के विकास में तीन मनोवैज्ञानिक अवस्थाएँ मानदे

हुए मानव के लिए अतिबौद्धिक भविष्य की परिकल्पना उपस्थित की। इस योजना के अपने गुण हैं, किन्तु इसमें भी वही दोष है जोकि हेगेल ने अपनी द्वन्द्वात्मक योजना में व्यावहारिक सामग्री को भरने का प्रयास करके किया था। जबकि हेगेल की योजना बौद्धिक अथवा मानसिक है, श्री अरविन्द की योजना चैत्य अथवा मनोवैज्ञानिक है और इस प्रकार हेगेल की योजना से अधिक गहन और जटिल है। तो भी वह एक योजना अवश्य है और चाहे उसकी पकड़ कितनी भी व्यापक क्यों न हो, वह मानव-इतिहास के सोपानों के वर्गीकरण के लिए पूर्णतया यथोचित नहीं कही जा सकती। मानव-इतिहास को समझने के लिए समाज-दार्शनिक को तथ्यों के सम्मुख बालक के समान बैठना चाहिए और तथ्यों को स्वयं निष्कर्षों तक ले जाने का अवसर देना चाहिए। उसे कभी भी अपनी पूर्व-नियोजित योजना में तोड़-मरोड़कर तथ्यों को भरने का प्रयास नहीं करना चाहिए, चाहे वह योजना उसे अपने व्यक्तिगत अनुभव में कितनी भी यथार्थ क्यों न प्रतीत होती हो। सामाजिक विकास के मनोविज्ञान की श्री अरविन्द की व्याख्या इस क्षेत्र में हमारी समझ को आगे बढ़ाने का गुण रखती है, परन्तु मानव-समाज की प्रकृति का विभिन्न सोपानों में वर्गीकरण कभी भी शाब्दिक अर्थों में स्थिर और निश्चित नहीं माना जा सकता।

सामाजिक आदर्श में पूर्णतावादी पक्षपात

यदि हम श्री अरविन्द के साथ यह मान भी लें कि मानव-समाज की वर्तमान समस्या प्रमुख रूप से मनोवैज्ञानिक है, तो भी यह कहना कि आध्यात्मिक स्वतन्त्रता ही पूर्ण मानव-व्यवस्था उत्पन्न कर सकती है, एक ओर आध्यात्मिक कारक पर अत्यधिक जोर देना है और दूसरी ओर आर्थिक, भौतिक, राजनीतिक, तथा अन्य कारणों की अवहेलना करना है। वास्तव में श्री अरविन्द ने जो सामाजिक विकास का आदर्श दिखलाया है वह पूर्णता के प्रति निरन्तर अभीप्सा है। उन्होंने एक पूर्ण मानव-व्यवस्था स्थापित करने का प्रयास किया। यथार्थवादी, फलवादी अथवा मानववादी दृष्टिकोण से इस प्रकार का सामाजिक आदर्श अत्यधिक काल्पनिक है। हम निश्चित रूप से अपनी दुनिया को अधिक-से-अधिक मानवीय बनाने की आकांक्षा रख सकते हैं, परन्तु शायद पूर्णता का आग्रह मानवीय सम्पर्क को कम कर देता है और अतिमानस की खोज में मानवीय मूल्यों की अवहेलना हो जाती है। जिस आत्मनिष्ठ प्रेरणा की श्री अरविन्द बार-बार बात करते हैं वह वैज्ञानिक प्रगति के कारण उत्पन्न हुई अत्यधिक वस्तुनिष्ठता की प्रतिक्रिया हो सकती है और सन्तुलन बनाए रखने के लिए उसका अपना महत्त्व हो सकता है, परन्तु उसे वस्तुनिष्ठ अवस्था से ऊँची अवस्था मानना आवश्यक नहीं है।

श्री अरविन्द ने मानव-संकट के अपने निदान के अन्तिम होने पर इतना अधिक जोर दिया है कि वह कभी-कभी उनके दर्शन में सब-कहीं व्याप्त सामान्य सहिष्णुता की प्रवृत्ति से समीचीन नहीं लगता। ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मा के क्षेत्र में अपने निजी विकास और उसके [illegible] मिले हुए प्रकाश से वह अपने [illegible] के विषय में इतने अधिक [illegible] हो जाते हैं कि उसे एकमात्र [illegible] मानने लगते हैं किन्तु चाहे

हम अपने तर्कों और अनुभवों के विषय में कितने भी सुनिश्चित क्यों न हों, हमें कभी भी अपने निदान को एकमात्र निदान मानने का अधिकार नहीं है। वास्तव में इस प्रकार के दावे अपने सिद्धान्त के प्रति अत्यधिक आग्रह और दूसरों के सिद्धान्त की अवहेलना दिखलाते हैं।

मानवता के भविष्य सम्बन्धी विचारों में दोष

पीछे मानव के भविष्य सम्बन्धी अध्याय में यह दिखलाया गया है कि भाषा के माध्यम से और बुद्धि के साधन से समाज दर्शन अतिमानसिक अवस्था की पूर्ण कल्पना नहीं कर सकता और यही मानव के भविष्य के विषय में श्री अरविन्द की परिकल्पनाओं की सीमा है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित कठिनाइयाँ उठती हैं—

1. इतिहास से समर्थन नहीं—अतिमानसिक स्तर का श्री अरविन्द का वर्णन उनके अपने व्यक्तिगत अनुभव पर आधारित है। उन्होंने जोर देकर कहा है कि उन्हें चेतना के विभिन्न स्तरों का अनुभव हुआ है। कवियों, रहस्यवादियों और सन्तों के द्वारा इस प्रकार के विवरण विश्व की महान् संस्कृतियों में अति प्राचीनकाल से देखे जाते रहे है। ईसा, बुद्ध, मोहम्मद और गांधी जैसे मानवों ने मानसिक चेतना के ऊपर के स्तरों पर स्थान बनाया है, परन्तु यह अतिक्रमण स्थायी नहीं था और न यह समूह के लिए सम्भव था। यदि कभी कोई संस्कृति संकट की किसी अवस्था से गुजरती है तो सन्तुलन बनाए रखने के लिए महापुरुष अवतार लेते हैं, किन्तु उनके आविर्भाव से कभी भी महापुरुषों के समूह अथवा प्रजाति का जन्म नहीं हुआ। अस्तु, दिव्य प्राणियों की प्रजाति के आविर्भाव के विषय में श्री अरविन्द की भविष्यवाणी का इतिहास से समर्थन नहीं होता। किसी महापुरुष का आविर्भाव किसी नवीन प्रजाति के जन्म का लक्षण नहीं है, उसका प्रयोजन तो सन्तुलन को बनाए रखना है, किसी कठिन समस्या को सुलझाना है अथवा किसी संकट का अतिक्रमण करना है। यह तथ्य श्रीकृष्ण के द्वारा 'गीता' में निम्नलिखित श्लोक में स्पष्ट किया गया है :

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमि धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।"

उपरोक्त शब्दों ने भारतीय इतिहास में संकट के काल में आस्था को बनाए रखा है। श्रीकृष्ण अथवा गांधी किसी भी महापुरुष ने किसी नवीन प्रजाति के आविर्भाव का वायदा नहीं किया। श्री अरविन्द की भविष्यवाणी गीता के सन्देश से समीचीन नहीं है जिसको श्री अरविन्द ने स्वयं इतना अधिक महत्त्वपूर्ण माना है।

2. सामाजिक विकास व्यक्तिगत विकास का अनुगमन नहीं करता—श्री अरविन्द ने अतिमानसिक स्तर के स्वयं अपने अनुभव के आधार पर मानव के भविष्य के विषय में अपनी परिकल्पनाओं का समर्थन किया है। उन्होंने ब्रह्म चेतना पर तीन दिनों में पहुँचने का दावा किया था और यह कहा था कि उसके पश्चात् अगले तीन दशकों तक वे चेतना के उच्चतर स्तरों पर आरोहण करते रहे हैं। इस प्रकार उन्होंने
मानस मानस बोधमय मानस और घतनाओं के स्तरों

में अन्तर किया था। उन्होंने उन महापुरुषों में [illegible] है जो [illegible] में एक अथवा दूसरी चेतना की दशा पर पहुँचे थे। अब, चेतना के इन उच्चतर स्तरों पर पहुँचने के श्री अरविन्द के दावे को मानने में कोई कठिनाई नहीं है क्योंकि यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि प्रत्येक देश-काल में महापुरुषों ने सामान्य जनों से उच्चतर चेतना का स्तर दिखाया है। परन्तु व्यक्तिगत विकास से सामाजिक विकास पर पहुँचना न तो तर्क से प्रमाणित है और न मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सम्भव है। गांधी और श्री अरविन्द जैसे महापुरुष बहुधा यह सोचने की भूल करते रहे हैं कि जो कुछ वे प्राप्त कर सकते हैं वही अन्य पुरुषों के द्वारा प्राप्त किया जाना सम्भव है। गांधीजी की यह आदत थी कि वे अपने व्यक्तिगत जीवन में सत्य के प्रयोग करते थे और फिर जनसमूह के जीवन में बड़े पैमाने पर उन अनुभवों को लागू करने की चेष्टा करते थे। उदाहरण के लिए, उन्होंने सोचा कि बेसिक स्कूलों में बालकों के द्वारा बनाई गई वस्तुओं के बाजार में ऊँचे दाम उठेंगे क्योंकि लोग ऊँचे दाम देकर बालकों को प्रोत्साहित करेंगे। अब, गांधी जैसा कोई मनुष्य और उन जैसे कुछ अन्य लोग निश्चय ही ऐसा ही करेंगे, किन्तु यह आशा करना कि यही सामान्य जन की अभिवृत्ति बन जायगी, जनमनोविज्ञान के अज्ञान पर आधारित है। मानव-समस्याओं के प्रति श्री अरविन्द का दृष्टिकोण गांधीजी से अधिक यथार्थवादी था। उदाहरण के लिए, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में गांधीजी के अहिंसा के सिद्धान्त के विरुद्ध श्री अरविन्द ने यह दिखलाया कि प्रेम केवल व्यक्तियों में सम्भव है, राष्ट्रों में नहीं। किन्तु दिव्य प्राणियों की प्रजाति के आविर्भाव के विषय में भविष्यवाणी करते हुए श्री अरविन्द ने वही भूल की है जो गांधीजी तथा अनेक अन्य महापुरुष करते रहे हैं। यह भूल समस्त मानव-जाति के विकास को चेतना में विकास के अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर होने की आशा करना है। और जबकि उनके अपने विषय में यह आरोहण योग के अभ्यास का परिणाम था, उन्होंने यह आशा की कि मानव-प्रजाति का विकास प्रत्येक व्यक्ति स्त्री और पुरुष के द्वारा योग के अभ्यास से नहीं बल्कि पृथ्वी पर नवीन चेतना लाने के श्री अरविन्द के प्रयास मात्र से सम्भव होगा।

3\. **संकट के काल में दिव्य प्राणियों का आदर्श** – श्री अरविन्द ने अपने देशवासियों के सामने दिव्य प्राणियों की भावी प्रजाति का आदर्श क्यों उपस्थित किया? इसका कारण तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों में पाया जा सकता है। अनेक इतिहास-दार्शनिकों ने यह दिखलाया है कि जब कभी कोई राष्ट्र संकट के काल से गुजरता है तो स्वर्णिम भविष्य की कल्पनाएँ की जाती हैं जिनका लाभ यह होता है कि जनता में भविष्य में आस्था बनी रहती है। हमारे युग के भारतीय महापुरुषों, गांधी, रवीन्द्रनाथ और श्री अरविन्द ने मानव-समाज के भविष्य का ऐसा ही उज्ज्वल चित्र खींचा है। उन्होंने विचार और कर्म में एक व्यापक आन्दोलन किया जोकि देश की स्वतन्त्रता तथा सामाजिक सुधारों की ओर ले गया। इस प्रकार महापुरुषों के अवतार में प्राचीन भारतीय आस्था फिर से स्थापित हुई. किन्तु जनचेतना में चमत्कारिक परिवर्तन करने की आशा व्यर्थ रही

4. विकासात्मक तर्क के दोष---मानव के भविष्य के विषय में अपनी परिकल्पनाओं के समर्थन में श्री अरविन्द ने विकासवादी तर्क दिया है। उनके अनुसार, चूँकि मनुष्य बुद्धि से निम्न स्तर से बौद्धिक स्तर पर आया है इसलिए यह मानने का कारण बनता है कि इस बौद्धिक स्तर से विकसित होकर वह अतिमानसिक स्तर पर पहुँचेगा। यह एक ऐसी बात है जोकि एक ऐसी परिकल्पना पर आधारित है जिसका स्वयं तथ्यों के द्वारा समर्थन नहीं हुआ है। मानव-इतिहास के किसी भी काल को बुद्धि से निम्न स्तर कहना उचित नहीं है। जिस प्रकार हमारे देश में गांधी और श्री अरविन्द हुए वैसे ही हजारों साल पहले प्राचीन यूनान में प्लेटो और अरस्तू थे। श्री अरविन्द ने स्वय यह स्वीकार किया है कि भारतवर्ष मे वेदों और उपनिषदों के युगों मे ऋषियों में अत्यन्त ऊँचा ज्ञान पाया जाता था। अस्तु, वे यह कैसे स्थापित कर सकते हैं कि मनुष्य बुद्धि से निम्न स्तर से बौद्धिक स्तर पर आया है। पुनः, श्री अरविन्द ने वर्तमान युग को बौद्धिक युग कहा है। समकालीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षिक और धार्मिक दृश्यों के सर्वेक्षण से यह बात असिद्ध हो जाती है क्योंकि सब-कहीं अबौद्धिक प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं। विज्ञान की प्रगति के साथ अनेक पुराने अन्धविश्वास समाप्त हो गए हैं, किन्तु उनका स्थान नए अन्धविश्वासों ने ले लिया है। भारतवर्ष में तो स्थिति और भी बुरी है। अस्तु, वर्तमान युग को बौद्धिक युग कहना किसी भी प्रकार से उपयुक्त नहीं है। इसलिए मानव के अतिबौद्धिक स्तर पर विकास का प्रश्न ही नहीं उठता। और यह जरूरी भी नहीं है। प्राचीन भारतीय चिन्तन के अनुसार विश्व में शुभ और अशुभ की शक्तियाँ सदैव रही हैं और रहेंगी क्योंकि मानव की नैतिक और आध्यात्मिक प्रगति के लिए किसी-न-किसी प्रकार का संघर्ष सदैव आवश्यक होता है। मानव को उसकी समस्याओं का सुलझाव तो चाहिए, किन्तु इस गारण्टी की कोई जरूरत नही है कि उसके सन्मुख भविष्य में नवीन समस्याएँ उत्पन्न नहीं होंगी। इतिहास एक निरन्तर प्रक्रिया है और यह प्रक्रिया नवीन समस्याओं, नवीन संकटों और उनके अतिक्रमणों से होकर निरन्तर आगे बढ़ती रहेगी। किसी ऐसे भविष्य का आदर्श, जबकि सभी समस्याएँ सुलझ जाएँगी, न तो न्यायोचित है और न उसकी इच्छा करने का कोई अर्थ है। यह वेद, उपनिषद् और गीता मे उपस्थित भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्वों के भी विरुद्ध है।

5. प्रतिभा के मनोविज्ञान का विरोध—मानव के भविष्य के विषय में श्री अरविन्द की परिकल्पनाएँ प्रतिभा के मनोविज्ञान के विरुद्ध हैं। यदि दिव्य प्राणियों का समाज, जिसको कि वे इतना अधिक चाहते हैं, वास्तविक रूप से प्राप्त कर लिया जाए तो किसी भी क्षेत्र में प्रतिभा के विकास का कोई अवसर नहीं रहेगा। प्रतिभा सदैव अपवाद के रूप में जन्म लेती है और कभी भी नियम नहीं बनती। वह तो परिस्थितियों की चुनौती का परिणाम होती है और इसी में उसका महत्त्व होता है। मानव-प्राणियों के अभीप्सित आदर्श सत्य, शिव और सुन्दर अवश्य खोजे जाने चाहिएँ, किन्तु इसीलिए क्योंकि वे कभी भी पूर्णतया प्राप्त नहीं होते। एक ऐसी अवस्था का स्वप्न देखना, जबकि वे स्वाभाविक बन जाएँगे और जनसमूह में प्राप्त होंगे, मानवीय आदर्श नहीं हो सकता क्योंकि इस प्रकार की अवस्था सभी प्रकार की मानव-प्रकृति की विरोधी होगी।

6. **व्यक्तित्व के बिना उत्तरदायित्व नहीं**—श्री अरविन्द ने यह कहा है कि अतिमानसिक स्तर पर भी व्यक्ति की वैयक्तिकता बनी रहेगी। किन्तु व्यक्तित्व और और वैयक्तिकता ऐसे शब्द हैं जोकि उन मानसिक मानव-प्राणियों पर लागू होते हैं जोकि वर्तमान काल में पाए जाते हैं और यह समझना कठिन है कि तथाकथित चेतना के उच्चतर स्तरों पर उन्हें किस प्रकार बनाए रखा जाएगा। इस नैतिक कठिनाई से बचने के लिए कि व्यक्तित्व के बिना उत्तरदायित्व नहीं हो सकता, श्री अरविन्द ने यह स्वीकार किया है कि अतिमानसिक प्राणी में व्यक्तित्व होगा। किन्तु फिर यह मानकर कि आध्यात्मिक व्यक्ति में निश्चित अर्थों में व्यक्तित्व नहीं होता, वह दूसरे हाथ से उसे ले लेते है जोकि वे पहले हाथ से देते हैं।

7. **अतिमानसिक समाज दर्शन बुद्धिगम्य नहीं है**—मानव-भाषा मानसिक है और उसके नियम बुद्धि के नियम हैं। अब या तो श्री अरविन्द का समाज दर्शन मानसिक अथवा बौद्धिक होना चाहिए ताकि वह बुद्धिगम्य हो और यदि वह इनका अतिक्रमण करता है तो वह अबुद्धिगम्य रहस्यवाद बनकर रह जाता है।

8. **व्यक्तिगत नहीं बल्कि सामूहिक आरोहण**—श्री अरविन्द की भविष्य-वाणियाँ चेतना के क्षेत्र में उनके अपने निजी अनुभव पर आधारित रही हैं। यदि उनके आरोहण को मान भी लिया जाए तो इससे यह आशा करना उचित नहीं है कि उसे सार्वभौम पैमाने पर प्राप्त किया जा सकेगा। श्री अरविन्द यह मानते हैं कि प्रकृति पहले व्यक्तिगत स्तर पर प्रयोग करती है और तब उसे सार्वभौम स्तर पर लागू करती है। यह बात न तो तर्क से समर्थित होती है और न इतिहास से प्रमाणित होती है। सुकरात, ईसा, मोहम्मद और बुद्ध के जन्म की प्रकृति की सफलता से इस प्रकार के महान् व्यक्तियों की किसी प्रजाति का जन्म नहीं हुआ। व्यक्तिगत मनोविज्ञान जनमनोविज्ञान से भिन्न होता है। जनसमुदाय में चेतना का स्तर कभी भी वह बौद्धिकता, सन्तुलन, सकलन और गहराई प्राप्त नहीं करता जो व्यक्तियों में मिलती है। ऐसा कभी भी नहीं हुआ और इसलिए यह आशा करने का कोई कारण नहीं है कि वैसा कभी भी होगा।

9. **समष्टिगत आरोहण के लिए योग की सीमा**—श्री अरविन्द स्वभाव से ही एक अदम्य पूर्णतावादी थे। यही कारण है कि वे सामाजिक और राजनीतिक अन्दोलनों से कभी भी सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने यह अनुभव किया कि यह उपचार अधिक-से-अधिक अस्थायी और आंशिक है। इसलिए उन्होंने राजनीति छोड़ दी और मानव-समस्याओं के अधिक स्थायी सुलझावों की खोज में योग की और वह तथा राजनीतिक नेताओं के बार-बार प्रार्थना करने पर भी सक्रिय राजनीति में नहीं लौटे। अभूतपूर्व उपचार और भारी प्रयासों से उन्होंने स्वयं को चेतना के आरोहण में लगा दिया और सर्वांग योग के रूप में एक प्रणाली का विकास किया। व्यक्तिगत स्तर पर उनकी इस प्रणाली की प्रभावोत्पादकता के विषय में कुछ कहने की जरूरत नहीं है और न यह कोई समाज-दार्शनिक की समस्या ही है। किन्तु जब यह प्रणाली समष्टि के स्तर पर लागू की जाती है तो वह अत्यधिक सीमित हो जाती है। 'पांडिचेरी आश्रम' जैसे समूह में भी व्यक्ति चेतना के क्षेत्र में सामूहिक रूप से नहीं बल्कि व्यक्तिगत रूप से ही आरोहण

करते रहे हैं। वास्तव में श्री अरविन्द चेतना के उच्चतर स्तरों में अपने आरोहण से इतने अधिक प्रेरित हुए कि वे मानव-समस्याओं के स्थायी सुलझावों के लिए सामूहिक विकास की कठिनाइयों को नजरअन्दाज करते हुए योग को ही विश्व की सभी समस्याओं का सुलझाव मानने लगे।

10. पूर्णतावादी पक्षपात—मानव के भविष्य का श्री अरविन्द का वर्णन पूर्णतावादी पक्षपात दिखलाता है। श्री अरविन्द के साथ यदि यह मान भी लिया जाए कि मानव की कठिनाइयाँ उसके मानसिक संघर्ष और आन्तरिक असमन्वय मे होती हैं तो भी मानसिक स्तर का अतिक्रमण एक ऐसा उपचार है जो उसी प्रकार का है जैसे कि शंकर के अनुयायी जगत् में माया की समस्या को सुलझाने के लिए माया से ऊपर उठने का सुझाव देते हैं। इस कारण शंकर को 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहा गया और शंकर का विरोध करने के बावजूद इसी कारण श्री अरविन्द को 'पलायनवादी' कहा जाता है।

11. अतिसरलीकरण—मानव की समस्याओं के निदान में पहला सोपान यह अनुभव करना है कि वे वास्तविक और तथ्यात्मक समस्याएँ हैं और इसके लिए समाज-दार्शनिक को समाज-विज्ञानों की सहायता से उनके उपचार उपस्थित करने चाहिएँ। किन्तु मानव-प्राणियों की सभी समस्याओं का एकमात्र यौगिक उपचार उपस्थित करके श्री अरविन्द ने अतिसरलीकरण की तार्किक भूल की है। उन्होंने सभी सामाजिक रोगों की एक ही रामबाण औषधि बतलाने का अनुचित प्रयास किया है। निःसन्देह योग और आध्यात्मिकता मानव-समस्याओं के सुलझाव में महत्त्वपूर्ण सहायता दे सकते हैं, किन्तु उन्हें मानव-समस्याओं का एकमात्र और पर्याप्त उपचार मानना हमारी समस्याओं की जटिलता के विषय में अज्ञान ही दिखलाता है।

12. मनोकेन्द्रित कठिनाई—जबकि मनुष्य की गहन समस्याओं के लिए गहन सुलझावों की आवश्यकता होती है, सतही समस्याएँ सतही उपचारों से ही सुलझती है। मनुष्य मूल रूप से एक मनोवैज्ञानिक प्राणी अवश्य है, किन्तु उसकी सभी आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, विभिन्न प्रकार की समस्याओं को एकमात्र मनोवैज्ञानिक समस्या मान लेना अथवा उसे चेतना के आरोहण की समस्या ठहराना मनोकेन्द्रित भ्रान्ति कहा जा सकता है। श्री अरविन्द का समाज दर्शन मनोकेन्द्रित अथवा योगकेन्द्रित भूल दिखलाता है। यह उनके महान् ग्रन्थ 'दिव्य जीवन' के प्रारम्भ मे स्थापित सर्वांग दृष्टिकोण के विरुद्ध है। यदि तपस्वी का निषेध उतना ही एकांगी है जितना कि सुखवादी का निषेध, तो योगी का निषेध, चाहे वह सर्वांग योगी ही क्यों न हो, उतना ही एकांगी है जितना कि अर्थशास्त्री, राजनीतिज्ञ अथवा समाज-सुधारक इत्यादि का निषेध एकांगी है।

13. मानववादी कठिनाइयाँ—मानव-भविष्य के विषय में अपनी काल्पनिक उड़ानों में श्री अरविन्द ने एक रेखाचित्र खींचा है जो विश्व-इतिहास में मानव के स्वर्णिम भविष्य के चित्रों में सबकी सीमाएँ लांघ गया है और पृथ्वी माता से किसी भी प्रकार का सम्पर्क नहीं रखता जबकि श्री अरविन्द ने स्वयं यह माना था कि मनुष्य

पृथ्वी की सन्तान है और इसलिए इससे सम्पर्क बनाए रखना उसके लिए अनिवार्य है। इस आदर्श समाज में सामाजिक संस्थाएँ और मानव-सम्बन्ध सब प्रकार की मानवीय उग्रता और घनिष्ठता से हीन होंगे। अतिमानसिक चेतना से लगातार प्रयास के द्वारा अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करने के आनन्द का कोई स्थान नहीं होगा। मनुष्य की मानवता सीमित-असीम प्राणी होने में है और यदि उसमें असीम अत्यधिक मूल्यवान है तो भी उसका सीमित तत्त्व ही प्रमुख रूप से उसकी मानवता निर्माण करता है। अपने कार्य के प्रति सच्चे समाज-दार्शनिकों को मानवीय प्रसंग में ही मानव-प्राणियों के लिए रास्ता सुझाने चाहिए। यहाँ पर श्री अरविन्द का समाज-दर्शन सन्तोषजनक नहीं है। महापुरुषों को उन तत्त्वों के कारण प्यार नहीं किया गया है जोकि उन्हें अपने साथियों से भिन्न बनाते हैं बल्कि उन तत्त्वों, उन मानवीय दुर्बलताओं और अपूर्णताओं के कारण चाहा गया है जोकि उन्हें अन्य मानव-प्राणियों जैसा दिखलाते हैं। श्री अरविन्द ने अपनी पत्नी को जो पत्र लिखे थे और जिनमें वे उन्हें उनकी शक्ति के रूप में उनके साथ काम करने के लिए कहते हैं, श्री अरविन्द के प्रति हमारा प्रेम और सम्मान बढ़ाते हैं। माँ के अन्तिम संस्कार करने के लिए शंकर का संन्यासियों के नियमों का उल्लंघन, जनता के लिए बहाए हुए गांधी के आँसू और सामान्य नर-नारी के लिए बुद्ध की करुणा ही वे मानवीय तत्त्व हैं जो उन्हें प्रेम के योग्य बनाते हैं और उनकी महानता दिखलाते हैं। यह मानवीय तत्त्व श्री अरविन्द के अतिमानसिक प्राणियों में नहीं होगा। श्री अरविन्द ने यह माना है कि अतिमानसिक जीवन में शरीर, प्राण और मानस की परिपूर्ति होगी। परन्तु इस पूर्ति के साधनों के परिवर्तन से यह उससे बहुत भिन्न हो जाएगा जोकि मनुष्य आज तक शरीर, प्राण और मानस में खोजता रहा है।

श्री अरविन्द के समाज दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन

अगले कुछ पृष्ठों में श्री अरविन्द के समाज दर्शन की हमारे युग के कुछ प्रमुख समाज-दार्शनिकों जैसे—कार्ल मार्क्स, मो० क० गांधी और रवीन्द्रनाथ के समाज-दर्शनों से तुलना की जाएगी। इनमें से पहले दो जनसमुदाय में उनके प्रभाव की व्यापकता के कारण चुने गए हैं। अन्तिम को इसलिए चुना है क्योंकि वह श्री अरविन्द के समकालीन एक आदर्शवादी समाज-दार्शनिक थे। जबकि इस तुलना से हमें समकालीन समाज-दर्शनों में श्री अरविन्द के समाज दर्शन का स्थान पता लगाने में सहायता मिलेगी, इससे श्री अरविन्द के समाज दर्शन के अनेक पहलुओं के विवेचनात्मक मूल्यांकन में भी सहायता मिलेगी जिनको हम पिछले पृष्ठों में समीक्षात्मक विवेचन में छोड़ आए हैं। यहाँ पर यह तुलना विस्तार में नहीं होगी बल्कि केवल उन पहलुओं में सीमित होगी जहाँ पर तुलनाओं से श्री अरविन्द के समाज दर्शन के विषय में हमारी सूझ बढ़ती है और समीक्षात्मक विवेचन में सहायता मिलती है।

श्री अरविन्द और कार्ल मार्क्स

अन्तर के बिन्दु

अपनी पूर्णतया भिन्न पृष्ठभूमि और प्रभाव के कारण कार्ल मार्क्स और श्री अरविन्द अपने समाज-दर्शनो को पूर्णतया भिन्न पूर्व-मान्यताओं से आरम्भ करते हैं। जबकि मार्क्स भौतिकवाद, द्वन्द्वात्मक विकास और इतिहास की आर्थिक व्याख्या से प्रभावित थे, श्री अरविन्द पर प्राचीन भारतीय वेदान्त दर्शन का प्रभाव था। जबकि मार्क्स के लिए मानव-समाज की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समस्याएँ आर्थिक हैं, श्री अरविन्द के लिए मानव की समस्याएँ मुख्य रूप से मनोवैज्ञानिक हैं। जबकि मार्क्स ने ऐतिहासिक प्रक्रिया की व्याख्या आर्थिक सोपानों के रूप में की है, श्री अरविन्द ने इतिहास की एक मनोवैज्ञानिक व्याख्या मनोवैज्ञानिक सोपानों में प्रस्तुत की है। इस प्रकार जबकि कार्ल मार्क्स ने वर्तमान संकट का उपचार मानव का आर्थिक पुनर्उद्धार दिखलाया है, श्री अरविन्द ने मनुष्य की सभी समस्याओं को सुलझाने के लिए मनोवैज्ञानिक रूपान्तरण का सुझाव दिया है। अस्तु, मार्क्स ने प्रोद्योगिकी और विज्ञान पर जोर दिया है तथा श्री अरविन्द धर्म और योग पर जोर देते हैं। सामाजिक क्षेत्र में कार्ल मार्क्स ने विकास के साधन के रूप में वर्ग-संघर्ष पर जोर दिया है और श्री अरविन्द ने आध्यात्मिक आरोहण की बात की है।

सामाजिक आदर्शों की भिन्नता

कार्ल मार्क्स और श्री अरविन्द दोनों ही वर्गीकरण, पूँजीवाद और शोषण के विरुद्ध थे। दोनों ही हृदय से मानववादी थे और विश्व को बेहतर बनाना चाहते थे। किन्तु उनके भिन्न समाज दर्शन भिन्न निष्कर्षों और उपचारों पर ले जाते हैं। मार्क्स ने सब प्रकार के शोषण से मुक्त एक वर्गविहीन समाज का स्वप्न देखा था। श्री अरविन्द ने दिव्य प्राणियों के भावी समाज का चित्र उपस्थित किया जोकि निश्चय ही मार्क्स के चित्र से अधिक शानदार है।

जन-प्रेरणा में अन्तर

इस प्रकार कार्ल मार्क्स और श्री अरविन्द दोनों के समाज-दर्शनों में काल्पनिक तत्त्व पाया जाता है, किन्तु जहाँ तक प्रभाव का प्रश्न है, जन-प्रभाव में श्री अरविन्द के समाज दर्शन की कार्ल मार्क्स के सामने कोई स्थिति नहीं बनती। इसका कारण यह तथ्य है कि पृथ्वी पर मानव-प्रजाति के इतिहास में, विज्ञान की सभी प्रगति के बावजूद, अस्तित्व के साधन, वनस्पति और पशु, खाना और कपड़ा, माँग की तुलना में पूर्ति में सदैव पीछे रहे हैं। निःसन्देह यह पूर्ति आगामी लाखों वर्षों तक होती रहेगी, किन्तु जनसंख्या की अभूतपूर्व वृद्धि और उसके अनुरूप आर्थिक विकास के अभाव में आज विश्व की लगभग एक-तिहाई जनसंख्या दरिद्रता के बोझ के नीचे कराह रही है और

उनके लिए आर्थिक समस्याएँ ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। मार्क्स ने यह अनुभव किया और इसलिए उनके मूलभाव पर ध्यान दिया। इसी कारण उनका समाज दर्शन इतना अधिक फैला है। दूसरी ओर श्री अरविन्द ने मानव-जीवन के इस महत्वपूर्ण पहलू की अवहेलना की और उसके विषय में अधिक कुछ नहीं कहा। यही कारण है कि श्री अरविन्द के समाज दर्शन की विवेचना में सम्पत्ति अथवा अन्य आर्थिक संस्थाओं के विषय में इस पुस्तक में कोई अलग से अध्याय नहीं बन सका। इस कमी के कारण श्री अरविन्द के समाज दर्शन में सामाजिक न्याय का विवेचन भी नहीं हो पाता।

सामाजिक संस्थाओं की अवहेलना

समाज दर्शन के एक अन्य महत्वपूर्ण क्षेत्र में श्री अरविन्द ने कुछ भी नहीं कहा है और यह सामाजिक संस्थाओं का क्षेत्र है। यहाँ भी कार्ल मार्क्स श्री अरविन्द से बहुत आगे जाते हैं। जबकि मार्क्स ने परिवार, विवाह, सामाजिक वर्ग इत्यादि संस्थाओं का सूक्ष्म विवेचन उपस्थित किया है, श्री अरविन्द ने शायद ही कहीं कुछ इनके बारे में कहा हो। इस तथ्य को ध्यान मे रखते हुए कि सामाजिक संस्थाओं का मानव-प्राणियो के विकास में अत्यधिक महत्व होता है, श्री अरविन्द का समाज दर्शन कार्ल मार्क्स और मोहनदास करमचन्द गांधी के समाज-दर्शनों के सामने न्यून बैठता है। परिवार, विवाह और सामाजिक स्तरीकरण के विवेचन के बिना श्री अरविन्द के समाज दर्शन में मानव, व्यक्ति और समष्टि के रूपान्तरण की बातें अत्यधिक एकांगी और काल्पनिक प्रतीत होती हैं। यदि मानव की समस्या मुख्य रूप से मनोवैज्ञानिक है, यदि आज हमें आध्यात्मिक विकास की अत्यधिक आवश्यकता है तो यह समझना कठिन है कि मनुष्य के दृष्टिकोण, व्यक्तित्व और अभिव्यक्तियो के रूपान्तरण में सबसे अधिक प्रभावशाली सामाजिक संस्थाएँ परिवार, विवाह और सामाजिक वर्गों का कार्य-भाग बतलाए बगैर श्री अरविन्द उसे कैसे प्राप्त करना चाहते हैं। दिव्य प्राणियों के समाज के विषय में भविष्यवाणी करते हुए श्री अरविन्द ने सर्वांग ज्ञान और योग का कार्य-भाग तो बतलाया है, किन्तु इन सामाजिक संस्थाओं का कुछ भी कार्यभाग नहीं बतलाया जिनके बिना किसी भी भावी समाज का विकास नहीं हो सकता, चाहे वह दिव्य हो या अदिव्य हो। दूसरी ओर कार्ल मार्क्स ने सामाजिक संस्थाओं की सूक्ष्म विवेचना की है यद्यपि यह विवेचना मुख्य रूप से आर्थिक बनी रही है। आध्यात्मिक विकास मानव-वयस्कों के विषय में फिर भी सम्भव माना जा सकता है, किन्तु बालकों और किशोरों का क्या होगा? ये ही तो मानव के भविष्य के निर्माता हैं और सर्वांग योग निश्चय ही इनके लिए नहीं है। इन पर शिक्षा, सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक और धार्मिक संस्थाओं का निःसन्देह कहीं अधिक प्रभाव पड़ता है। यदि यह मान भी लिया जाए कि योग के बिना वे आध्यात्मिकता के क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकेंगे तो भी उनके भौतिक, संवेगात्मक, सामाजिक, नैतिक और सौन्दर्यात्मिक विकास के बिना केवल योग के माध्यम से और परिवार एवं शैक्षिक संस्थाओं के अभाव में उनका विकास सम्भव नहीं होगा। अपने शिक्षा दर्शन में भी जबकि श्री अरविन्द ने शिक्षण पद्धति इत्यादि मे भारी अन्तर्दृष्टि दिखलाई,

उन्होंने परिवार की संस्था के प्रभाव के विषय में अथवा बालक के विकास में शिक्षक-संरक्षक सहयोग के विषय में कुछ नहीं लिखा है।

श्री अरविन्द और मो० क० गांधी

गांधीजी के समाज दर्शन का व्यापक प्रभाव

यदि हम कार्ल मार्क्स के व्यापक प्रभाव की किसी समकालीन भारतीय समाज-दार्शनिक के अपने समाज पर प्रभाव से तुलना कर सकते हैं तो वह श्री अरविन्द नहीं हैं बल्कि मोहनदास करमचन्द गांधी हैं। हमारे देश में गांधीजी को वही स्थान प्राप्त था जोकि सोवियत रूस में लेनिन के माध्यम से कार्ल मार्क्स को मिला था। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संस्थाओं के विषय में उनके विचारों ने न केवल इस देश के पुरुषों और स्त्रियों को प्रभावित किया है बल्कि विश्व में सब-कहीं प्रभाव दिखलाया है। सर्वांग दृष्टिकोण पर जोर देते हुए भी श्री अरविन्द का समाज दर्शन वैसा जन-प्रेरक नहीं बन सका जैसे कि मार्क्स और गांधी के दर्शन थे यद्यपि इनमें से कोई भी सर्वांगता की कसौटी पर श्री अरविन्द के समाज दर्शन का मुकाबला नहीं कर सका। एक धार्मिक व्यक्ति होते भी गांधीजी ने सामाजिक संस्थाओं की समस्याओं, स्त्रियों के पुनर्उद्धार, अस्पृश्यता के निराकरण, पिछड़े वर्गों के विकास, दरिद्रता के उन्मूलन, रोगियों और वृद्धों की समस्याओं के उपचार तथा भारत के करोड़ों अशिक्षितों के लिए जन-शिक्षा की समस्याओं पर सूक्ष्म और व्यापक विचार प्रस्तुत किए। आस्था और कर्म में गीता के सच्चे अनुयायी के समान गांधीजी ने नेताओं और अनुगामियों, पुरुषों और स्त्रियों, संरक्षकों और बालकों, शिक्षकों और शिक्षितों, सरकार और जनता, हिन्दुओं और मुसलमानों के पारस्परिक कर्त्तव्यों का विवेचन किया। भारत जैसे गुलाम देश में आजादी को सबसे प्रमुख समस्या मानकर गांधीजी ने देश से विदेशी शासन को उखाड़ फेंकने के लिए आजीवन संघर्ष किया। इस कठिन संघर्ष में उन्होंने जनता का सफलतापूर्वक नेतृत्व किया। वे एक सामान्य भारतीय के समान, उस जैसे वस्त्र धारण करते हुए रहे और इसलिए वे सामान्य भारतीयों की कठिनाइयों को समझ सके और उनके सुझाव निकाल सके। जन-समाज से यह प्रत्यक्ष सम्पर्क श्री अरविन्द को उपलब्ध नहीं था। अपने परिवार और देशवासियों से कटे रहकर कोई भी समाज-दार्शनिक उनकी समस्याओं को समझने और सुलझाने की आशा नहीं कर सकता। रोगियों, निर्धनों, पिछड़े वर्गों और ग्रामीण क्षेत्रों में अशिक्षित लोगों के बीच रहते हुए गांधीजी ने उनकी समस्याओं को अधिक निकट से देखा और समझा। यही कारण था कि उनका समाज दर्शन अधिक यथार्थवादी बना और उसका व्यापक प्रसार हुआ।

श्री अरविन्द द्वारा पिछड़े वर्गों की अवहेलना

कार्ल मार्क्स और श्री अरविन्द की तुलना में हम पहले यह दिखा चुके हैं कि श्री अरविन्द ने आर्थिक और सामाजिक संस्थाओं पर पर्याप्त रूप से ध्यान नहीं दिया

यहाँ पर गांधीजी का समाज दर्शन श्री अरविन्द के समाज दर्शन से अधिक व्यापक है। भारतीय प्रसंग में गांधीजी ने आर्थिक और सामाजिक संस्थाओं का विस्तारपूर्वक विवेचन किया, उनकी समस्याओं का विश्लेषण किया और सुझाव उपस्थित किए जोकि अनेक विचारकों को सन्तुष्ट न करने के बावजूद उनके समाज दर्शन को बहुमुखी बनाते हैं। समकालीन भारतीय सामाजिक क्षेत्र में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति दुर्बल और पिछड़े वर्गों, तथाकथित अस्पृश्यों, किसानों और श्रमिकों, स्त्रियों और बालकों में जागृति है। श्री अरविन्द ने इन वर्गों की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया। वे भूतकाल में इनके शोषण के विषय में कुछ भी नहीं कहते। वे इनकी कठिनाइयों का विश्लेषण नहीं करते और इसलिए इनके विषय में कोई सुझाव प्रस्तुत नहीं करते। दूसरी ओर गांधीजी ने अपना सम्पूर्ण जीवन और चिन्तन का बड़ा भाग इन्हीं वर्गों के विषय में लगाया, सुझाव उपस्थित किए और सुधारों के लिए संघर्ष किया। इनकी प्रेरणा और निर्देशन से ही हमारे देश के इन वर्गों में जागृति उत्पन्न हुई और उन्होंने अपनी बिगड़ी हुई दशा को पहचाना तथा समाज के अन्य वर्गों के समक्ष आने के लिए प्रयास आरम्भ किए। दूसरी ओर श्री अरविन्द का समाज दर्शन इस दिशा में कुछ भी निर्देशन नहीं देता। शीर्ष पर सुदृढ़ और ऊँचा होने के बावजूद यह नींव में कमजोर है। श्री अरविन्द के चिन्तन के प्रसिद्ध विद्वान् स्वर्गीय प्रो० एस० के० मैत्र श्री अरविन्द के दर्शन में मानव के भविष्य के विषय में परिकल्पनाओं को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बतलाते हैं, किन्तु यह भी कोई निकट-भविष्य नहीं है बल्कि अत्यधिक दूर की बात है जोकि वास्तव में इतनी दूर है कि औसत मनुष्य उसकी सम्भावना में भी विश्वास नहीं कर सकता। और क्योंकि श्री अरविन्द की दृष्टि मानव के सुदूर भविष्य पर लगी हुई थी इसलिए वह मानव के वर्तमान, उसकी समस्याओं और उनके उपचारों के प्रति पर्याप्त रूप से ध्यान नहीं कर सके। मानव के भविष्य के दार्शनिकों में श्री अरविन्द का स्थान निश्चित रूप से गांधी और मार्क्स से ऊँचा है; परन्तु हमारे युग के समाज-दार्शनिकों में मार्क्स और गांधी का प्रभाव अधिक है क्योंकि उन्होंने शोषित वर्गों पर ध्यान केन्द्रित किया और मानव-जीवन की नित्य प्रति की समस्याओं के सुझाव उपस्थित किए।

ग्रामीण संस्थाओं की अवहेलना

'मानव-एकता के आदर्श' और 'मानव-चक्र' जैसे अपने ग्रन्थों में श्री अरविन्द ने राज्य जैसी राजनीतिक संस्थाओं और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, मानव-एकता, युद्ध और शान्ति जैसे राजनीतिक प्रश्नों पर विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। इस सम्बन्ध में विवेचन उनकी अन्य अनेक पुस्तकों और दर्जनों पत्रों में पाए जा सकते हैं। किन्तु यहाँ पर भी उनकी दृष्टि समस्त विश्व और मानवता पर रही है और इसलिए वे मानव-समाज की छोटी इकाइयों, सोवियतों और पंचायतों में काम करने वाली राजनीतिक संस्थाओं को भूल जाते हैं जोकि राजनीति और प्रशासन के विकेन्द्रीकरण की इकाइयाँ हैं। यहाँ पर मार्क्स और गांधी ने श्री अरविन्द से अधिक सूक्ष्म विवेचन किया है। गांधीजी ने भारतीय ग्रामों और उनकी दशाओं के विषय में विस्तारपूर्वक लिखा है,

उनकी समस्याओं का विश्लेषण किया है और व्यावहारिक सुझाव उपस्थित किए है। भारत एक ग्रामों का देश है और यह स्वाभाविक था कि बुनियादी शिक्षा, ग्रामीण और कुटीर उद्योग, स्त्रियों में सुधार, निर्धनता उन्मूलन, ग्रामीण पुनर्निर्माण, अस्पृश्यता उन्मूलन, रोग और गन्दगी के निराकरण इत्यादि प्रश्नों को उठाने वाला गांधीजी का समाज दर्शन ग्रामीण समाज को अधिक आकर्षित करता है। इस बात को श्री अरविन्द की शिक्षा योजना, जैसी कि वह 'पांडिचेरी आश्रम' में चलती रही है, की गांधीजी की 'बुनियादी शिक्षा योजना' से तुलना करके भी समझा जा सकता है। इस तुलना के विस्तार में जाए बगैर यहाँ पर केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जबकि श्री अरविन्द की शिक्षा योजना भले ही शिक्षा के सच्चे अर्थों में कुछ नई दिशा देती हो, वह भारत के करोड़ों अशिक्षितों को शिक्षा देने की आदर्श शिक्षा योजना नहीं हो सकती। दूसरी ओर बुनियादी शिक्षा की गांधीजी की योजना, उसकी समस्त सीमाओं के बावजूद, भारतीय जनसमुदाय को शिक्षित करने के लिए एक उपयुक्त और व्यावहारिक योजना हो सकती है।

मानववादी प्रेरणा का अभाव

इस प्रकार मानववादी दृष्टिकोण मे गांधी और मार्क्स दोनों ने श्री अरविन्द के समाज दर्शन से अधिक प्रेरक समाज दर्शन उपस्थित किए हैं। यही बात उनकी लेखन शैली से भी स्पष्ट होती है। जबकि गांधी और मार्क्स की रचनाएँ सामान्य व्यक्ति तथा शिक्षित और बौद्धिक व्यक्ति दोनों के समझ में आ सकती हैं, क्योंकि उन्होंने साधारण प्रत्ययों और भाषा का प्रयोग किया है, श्री अरविन्द ने ऐसी भाषा लिखी है जोकि औसत व्यक्ति की पहुँच से परे है। साहित्यिक दृष्टिकोण से निःसन्देह यह प्रशंसनीय है, किन्तु मानववादी दृष्टिकोण मे इसकी अपनी हानियाँ हैं। श्री अरविन्द नवीन प्रत्ययों को गढ़ने मे अत्यन्त कुशल रहे हैं और इसलिए भी उनकी रचनाओं को समझने की कठिनाई बढ़ जाती है। अस्तु, कोई आश्चर्य नहीं है कि उनके ग्रन्थ अत्यन्त उच्च शिक्षित लोगों के भी पल्ले नहीं पड़ते है। समाज दर्शन में इससे और भी कठिनाई आती है क्योंकि उसका लक्ष्य केवल सैद्धान्तिक विवेचन मात्र नहीं है बल्कि मानव के सामाजिक पुनर्निर्माण का निर्देशन करना भी है।

अपने राजनीतिक नीतिशास्त्र में श्री अरविन्द ने अधिक यथार्थवादी दृष्टिकोण दिखलाया है। जबकि गांधी किसी भी परिस्थिति में हिंसा का समर्थन नहीं करते, गीता के अनुरूप श्री अरविन्द ने आवश्यकता पड़ने पर हिंसा का समर्थन किया है। इसी प्रकार श्री अरविन्द ने गांधीजी की तुलना में चिन्तन की अधिक मौलिकता दिखलाई है। वास्तव मे गांधी और श्री अरविन्द ने चिन्तन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में श्रेष्ठता दिखलाई है, किन्तु समाज दर्शन के दृष्टिकोण से गांधीजी का प्रभाव श्री अरविन्द से अधिक व्यापक रहा है।

श्री अरविन्द और गांधी के समाज-दर्शनों की उपरोक्त तुलना से श्री अरविन्द के दर्शन के वे पहलू स्पष्ट होते हैं जिनकी अन्य समाज-दर्शनों से तुलना की जा सकती

है। इस प्रकार जे० एस० मैकेन्जी, बर्ट्रेण्ड रसल, तथा अन्य समकालीन समाज-दार्शनिको ने समाज में परिवार, विवाह, आर्थिक संस्थाओं, औद्योगिक संस्थाओं तथा राजनीतिक, सांस्कृतिक और धार्मिक संस्थाओं के कार्यभाग की विवेचना की। दूसरी ओर श्री अरविन्द ने सामाजिक, आर्थिक और औद्योगिक संस्थाओं के विवेचन की अवहेलना की है। इससे उनका समाज दर्शन कम व्यापक, कम व्यावहारिक और इसलिए एकांगी और अनुपयोगी हो जाता है। इसी से वह हमारे युग की समस्याओं को सुलझाने में पर्याप्त नहीं होता, भले ही उसने सर्वांग योग की सहायता से समस्त मानवता को एक नई विकासवादी अवस्था में ले जाने का वायदा किया हो।

श्री अरविन्द और रवीन्द्रनाथ

धर्म में मानववादी दृष्टिकोण

लगभग सभी समकालीन भारतीय समाज-दार्शनिक जिनमें श्री अरविन्द, गांधी, विवेकानन्द और रवीन्द्रनाथ शामिल हैं, अपने धर्म और समाज दर्शन में मानववादी प्रवृत्ति दिखलाते हैं। श्री अरविन्द और रवीन्द्रनाथ दोनों ने ही मानव-एकता के आदर्श के साक्षात्कार के लिए आवश्यक एक मानववादी धर्म की रूपरेखा दी है। श्री अरविन्द उसे मानवता का धर्म कहते हैं और रवीन्द्रनाथ ने उसे मानव का धर्म कहा है। श्री अरविन्द के अनुसार मानवता के धर्म के अन्तर्गत मूल सिद्धान्त यह है कि, "मनुष्य को सभी प्रकार की प्रजाति, सम्प्रदाय, वर्ण, राष्ट्रीयता, स्थिति, राजनीतिक और सामाजिक प्रगति की विविधताओं को छोड़कर पवित्र माना जाना चाहिए।"[1] रवीन्द्रनाथ का मानव का धर्म मानव के सम्मान पर आधारित है। उसमें मनुष्य को केन्द्रीय स्थान प्राप्त है। रवीन्द्रनाथ के शब्दों में, "धर्म मानवता पर केन्द्रित है, जोकि हमारी बुद्धि को प्रकाशित करता है, हमारी मेधा को प्रेरित करता है, हमारे प्रेम को उकसाता है और हमारी बौद्धिक सेवा का दावा करता है।" श्री अरविन्द और रवीन्द्रनाथ ने, गांधी और विवेकानन्द के समान, धर्म में कर्मकाण्ड की आलोचना की। इन सभी समकालीन भारतीय समाज-दार्शनिकों ने धर्म के प्रति समन्वयवादी दृष्टिकोण दिखलाया है। उन्होंने मानव-जगत् को बेहतर बनाने के लिए प्रत्येक धर्म का मूल्य और महत्त्व स्वीकार किया है। उन्होंने धर्मान्धता और रूढ़िवादिता का खण्डन किया है।

जनसम्पर्क

रवीन्द्रनाथ सदैव सामान्य जनसम्पर्क में रहते थे और इसलिए उनके समाज दर्शन में सामान्य मनुष्य के सामाजिक, आर्थिक और नैतिक सुधार के लिए सुझाव भरे पड़े हैं। गांधीजी के समान उन्होंने जमींदारी उन्मूलन का समर्थन किया और यह सुझाव दिया कि धनिकों को स्वयं को राष्ट्र की सम्पत्ति का न्यासी समझना चाहिए। उन्होंने जातिवाद. अस्पृश्यता तथा स्त्रियों और पिछड़े वर्गों की अनर्हताओं के उन्मूलन का समर्थन किया गांधीजी की तरह ही उन्होने भी लघु उद्योगो ग्रामीण सहकारिता

आन्दोलन, स्वायत्त शासन तथा ग्रामीण विकास की योजनाओं पर जोर दिया। उन्होंने वयस्क ग्रामीण जनों की शिक्षा के लिए नई तकनीकें सुझाईं। उन्होंने तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली की आलोचना की और अनेक सुझाव दिए। श्री अरविन्द का गांधी और रवीन्द्र के समान सामान्य नर-नारियों से सम्पर्क नहीं था। अपने आश्रम की चहारदीवारी में रहकर अपनी समस्त शक्तियों को लेखन और योग में लगाते हुए उनका बाह्य जगत् से केवल परोक्ष सम्पर्क रहता था। उनके अत्यधिक केन्द्रीयकरण से उनका समाज दर्शन गहरी अन्तर्दृष्टियों और व्यापक अर्थों से भरा पड़ा है, किन्तु उन्होंने सामान्य जनों की उपरोक्त समस्याओं की अवहेलना की है। कम-से-कम वे उस रूप में उनका विवेचन नहीं करते जिसमें कि वे दैनिक जीवन में पाई जाती हैं।

राष्ट्रवाद के अग्रदूत श्री अरविन्द

श्री अरविन्द और रवीन्द्रनाथ दोनों ने ही राष्ट्र के लिए तीव्र भक्ति दिखलाई है और राष्ट्रीयता का महत्त्व बतलाया है। दोनों ने ही राष्ट्रीय अहंकार का खण्डन किया है और विश्व-एकता का समर्थन किया है। किन्तु फिर जबकि रवीन्द्रनाथ ने अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर विशेष झुकाव दिखलाया है, श्री अरविन्द ने अन्तर्राष्ट्रीयता को मानव-एकता के आदर्श से बहुत नीचा माना है। जबकि रवीन्द्र सार्वभौमिकता का समर्थन करते हैं, श्री अरविन्द ने विविधता में एकता पर जोर दिया है। जबकि गांधी और रवीन्द्रनाथ विभिन्न धर्मों और संस्कृतियों के समझौतों से विश्व-एकता निर्माण करना चाहते थे, श्री अरविन्द ने यह कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म और संस्कृति का पूरी सच्चाई से पालन करना चाहिए और इसी से वह मानवता के विकास में अपना योगदान दे सकेगा। अस्तु, जबकि श्री अरविन्द के चिन्तन में राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रवाद से अधिक प्रभावशाली है, रवीन्द्रनाथ ने अन्तर्राष्ट्रीयता पर इतना अधिक जोर दिया है कि उनके चिन्तन में राष्ट्रवाद की धारा उसके नीचे दब गई है। यही अन्तर श्री अरविन्द और रवीन्द्रनाथ के द्वारा स्थापित शिक्षा संस्थाओं में दिखलाई पड़ता है। पांडिचेरी में 'श्री अरविन्द विश्वविद्यालय' में आज भी अविभाजित भारत का नक्शा लगा हुआ है जबकि 'विश्वभारती' में विदेशी अध्ययनों और विदेशी भाषाओं के विभाग प्रमुख रूप से पाए जाते हैं। राजनीतिक क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ जनतन्त्र के सामान्य अर्थों में उसके पक्के समर्थक थे। श्री अरविन्द का राजनीतिक विश्लेषण अधिक गहरा है। उन्होंने जनतन्त्र का विश्लेषण किया है, उसके लाभों और हानियों का मूल्यांकन किया है और यह सुझाव दिया है कि मानव के आन्तरिक रूपान्तरण के बगैर जनतन्त्र के आदर्शों को प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस अन्तर का कारण यह है कि राजनीतिक क्षेत्र में श्री अरविन्द का अनुभव रवीन्द्रनाथ से कहीं अधिक गहरा और व्यापक था। उनका प्रखर राष्ट्रवाद पांडिचेरी जाने से पहले उनके सार्वजनिक भाषणों में अभिव्यक्त होता है। यह तेजस्वी राष्ट्रवाद गांधी अथवा रवीन्द्रनाथ में दिखलाई नहीं पड़ता। इसकी एकमात्र तुलना विवेकानन्द के भाषणों से की जा सकती है। अन्तर्राष्ट्रीयतावाद पर जोर देते हुए रवीन्द्रनाथ ने पूर्व और पश्चिम आध्यात्मिकता और ——— धर्म और विज्ञान के समन्वय की बा

की है। मानव-एकता के आदर्श में अदम्य आस्था रखते हुए भी श्री अरविन्द ने इस प्रकार के कृत्रिम सूत्रों की आलोचना की है जैसे कि शान्ति निकेतन में विभिन्न संस्कृतियों का अध्यापन अथवा गांधीजी की प्रार्थना-सभाओं में कुरान, गीता और बाइबिल सभी का पठन इत्यादि। श्री अरविन्द की मानव-एकता की खोज एक अधिक गहरे स्तर पर आधारित है। उनके अनुसार स्वधर्म पालन ही प्रत्येक मानव का एकमात्र धर्म है। जो कोई भी अपने धर्म का पूरी सच्चाई से पालन करता है वह सभी धर्मों के अन्तर्गत छिपी आध्यात्मिकता पर पहुँच जाता है। जो कोई भी अपनी संस्कृति का अनुसरण करता है वह सभी संस्कृतियों के सार पर पहुँच जाता है। दूसरे शब्दों में एकता बाह्य लेन-देन से प्राप्त नहीं की जा सकती बल्कि अपने अन्दर उस आध्यात्मिक सार पर पहुँचकर प्राप्त की जा सकती है जोकि सब-कहीं एक ही है।

गांधी और रवीन्द्रनाथ तथा श्री अरविन्द की तुलना से समकालीन भारतीय समाज-दार्शनिकों में श्री अरविन्द का स्थान स्पष्ट होता है। समकालीन भारतीय समाज-दार्शनिकों में श्री अरविन्द राष्ट्रवाद के अग्रदूत के रूप में जाने जायेंगे जबकि हमारे युग के समाज-दर्शनों में उनका समाज दर्शन भावी मानव-प्रजाति के पुनर्निर्माण, रूपान्तरण और दैवीकरण में अन्तर्दृष्टि से जाना जाएगा। मानव के भविष्य में अत्यधिक लगाव होने के कारण श्री अरविन्द ने अनेक वर्तमान समस्याओं की अवहेलना की, किन्तु इसी से वे मानव-एकता के आदर्श के भविष्य के मसीहा कहलायेंगे।

REFERENCES

ƆCIAL PHILOSOPHY IN AN AGE OF CRISIS

Sri Aurobindo, *The Synthesis of Yoga*, The Sri Aurobindo Library Inc., New York (1951), pp. 179-180.
Sri Aurobindo, *The Life Divine*, The Sri Aurobindo Library Inc , New York (1951), p. 933.
Spengler, O., *Man and Techniques*, p. 90.
Fromm, E., *The Sane Society*, p. 172.
Sri Aurobindo, *The Life Divine*, The Sri Aurobindo Library Inc., New York (1951), p. 932.
Schweitzer, A., *Civilization and Ethics*, p. 6.
Sri Aurobindo, *The Human Cycle*, The Sri Aurobindo Library Inc., New York (1950), p. 86.
Sri Aurobindo, *The Life Divine*, The Sri Aurobindo Library Inc., New York (1951), p. 932.
Sri Aurobindo. *The Human Cycle*, The Sri Aurobindo Library Inc., New York (1950), p. 87.
Ibid, p. 99.
Sri Aurobindo, *The Life Divine*, American Edition, p. 933.
Sharma, R. N., *The Philosophy of Sri Aurobindo*, 3rd Ed. (1978), Kedar Nath Ram Nath, Meerut (U.P.) India.
Sri Aurobindo, *The Life Divine*, American Edition, pp. 932-33.
Lenin, *Socialism and War*, Moscow, 1949, p. 1.
Hopkins, P., *The Psychology of Social Movement*, p. 280.
Elwood, C. A., *The Social Problem*, New York (1918), p. 11.
Einstein, A., *Why Socialism*, in 'Monthly Review', Vol. 1, No. 1 1949, p. 9.
Sri Aurobindo, *The Life Divine*, American Edition, p. 2.
Titus, H. H., *Living Issues in Philosophy*. Preface to the 2nc Edition.
Sri Aurobindo, *The Life Divine*. American Edition, p. 927.

-SOCIAL PHILOSOPHY ITS : METHOD

Sri Aurobindo, *Essays on the Gita*, Second Series, Arya Publish ing House, Calcutta (1949), p. 134.

2. Sri Aurobindo, *The Life Divine*, Vol. II. 2nd Edition, p. 43.
3. Ibid, p. 42.
4. Ibid, Vol. I, 2nd Edition, p. 72.
5. Sri Aurobindo, *The Human Cycle*, p. 92.
6. La Piere, Richard T., *Sociology*, p. 311.
7. Russell, B., *The Impact of Science on Society*, p. 96.
8. Sri Aurobindo, *The Life Divine*. Vol. I. 2nd Edition. p. 258.
9. Ibid. p. 84.
10. Sri Aurobindo, *The Synthesis of Yoga*, p. 660.
11. Sorokin, Pitirim A., *Social Philosophies of an Age of Crisis*, p. 308.
12. Sri Aurobindo, *The Life Divine*. Vol. II. 2nd Edition, p. 299.
13. Sri Aurobindo, *Essays on the Gita*, 2nd Series. Arya, p. 134.
14. Berdyaev, M., *Solitude and Society*, p. 48.
15. Sri Aurobindo, *The Life Divine*, Vol. II, 2nd Edition, p. 305.
16. Sri Aurobindo, *The Synthesis of Yoga*, 1st University Edition,. p. 351.
17. Sri Aurobindo, *The Life Divine*. Vol. I, 2nd Edition, p. 92.
18. Sri Aurobindo, *The Life Divine*, Vol I, p. 25
19. Sri Aurobindo, *The Riddle of This World*, p. 24.
20. Sri Aurobindo, *Lights on Yoga*, p. 37.
21. Sri Aurobindo, *Evolution*, p. 29.
22. Sri Aurobindo, *The Life Divine*, Vol. II, p. 219.
23. Sri Aurobindo, *The Life Divine*, Vol. II, 2nd Edition, p. 456.
24. Ginsberg, M., *Sociology*, p. 17.
25. Roy, D. K. *Among the Great*, p. 315.
26. Sharma, R. N. *The Philosophy of Sri Aurobindo*, D. Phil. thesis.
27. Sri Aurobindo, *The Life Divine*, Vol. I, 2nd Edition, p. 163.
28. Sri Aurobindo, *The Synthesis of Yoga*, American Edition.
29. Sri Aurobindo, *The Renaissance in India*, p. 72.
30. Sri Aurobindo, *Heraclitus*, p. 45.
31. Quoted in *Mother India*, Aug. 1952.
32. Lapiere, Richard T., *Sociology*, p. 18.
33. Ibid, p. 5.
34. Mackenzie, J. S. *Outlines of Social Philosophy*, p. 14.

III—PHILOSOPHICAL BASIS OF SOCIAL DEVELOPMENT

1. *The Life Divine*, American Edition, p. 20.
2. Sharma, R. N., *The Philosophy of Sri Aurobindo*, D.Phil. thesis.

3 Sri Aurobindo *The Life Divine* Vol I 2nd Edition p 27
4 *Letters of Sri Aurobindo*, First Series, Sri Aurobindo Circle, Bombay (1950), pp. 81-82.
5 Sri Aurobindo, *The Advent*, Vol. IX, No. 2, p. 22.
6. Sri Aurobindo, *The Life Divine*, Vol. II, 2nd Edition, p. 107.
7. Sri Aurobindo, *The Life Divine*, Vol. I, 2nd Edition, p. 177.
8. Sri Aurobindo, *The Mother*, p. 66.
9. Sri Aurobindo, *The Life Divine*, Vol. I, 2nd Edition. p. 134.
10 Ibid, p. 318.
11. Ibid, p. 213.
12. Ibid, p. 174.
13. Sri Aurobindo, *The Life Divine*, Vol. I, 2nd Edition, p. 334.
14. Sri Aurobindo, *The Life Divine*, Vol. II, 2nd Edition, p. 809.
15. Sri Aurobindo, *Sri Aurobindo Mandir Annual*, No. 11, p. 23.
16. Sri Aurobindo, *The Life Divine*, Vol. II, 2nd Edition, p. 305.
17. Ibid, p. 551.
18. Sri Aurobindo, *The Life Divine*, Vol. I, 2nd Edition, p. 571.
19 Ibid, p. 402.

IV—PSYCHOLOGICAL BASIS OF SOCIAL DEVELOMENT : THE STRUCTURE AND DYNAMICS OF HUMAN NATURE.

1 Sri Aurobindo, *Essays on the Gita*, Second Series, Arya Publishing House, Calcutta (1949), p. 380.
2. Murphy, G., *Personality*, p. 926.
3 Ibid, p. 917.
4 Ibid, p. 919.
5 Ibid, pp. 918-919.
6. Sri Aurobindo, *The Human Cycle*, p. 105.
7 Ibid, p. 69.
8 Sri Aurobindo, *The Life Divine*, Vol. I, 2nd Edition p. 45.
9 Sri Aurobindo, *The Synthesis of Yoga*, Sri Aurobindo Library Inc., New York (1950), p. 231.
10. Sri Aurobindo, *The Synthesis of Yoga*, Vol. I, Arya, p. 54.
11 Ibid. p. 46.
12. Ibid. p. 37.
13. Sri Aurobindo, *The Problem of Rebirth*, p. 60.
14 Sri Aurobindo, *Sri Aurobindo Mandir Annual*, No. 6, p. 43.

15. Sri Aurobindo, *The Synthesis of Yoga*, pp. 717-718.
16. *Letter of Sri Aurobindo*, First Series., Sri Aurobindo Circle, Bombay (1950), p. 137.
17. Sri Aurobindo, *Lights on Yoga*, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry (1953), pp. 56-57.
18. Ibid, p. 29.
19. Sri Aurobindo, *Sri Aurobindo Mandir Annual*, No. 6 (August, 1947), p. 38.
20. Sri Aurobindo, *Lights on Yoga*, pp. 22-23.
21. Ibid, p. 23.
22. *Letters of Sri Aurobindo*, First Series, pp. 156-157.
23. Sri Aurobindo, *Lights on Yoga*, pp. 21-22.
24. Ibid, p. 18.
25. Ibid, pp. 19-20.
26. Sri Aurobindo, *The Life Divine*, Vol. II, p. 655.
27. Ibid.

V—PHILOSOPHY OF HISTORY

1. Sri Aurobindo, *The Human Cycle*, American Edition, p. 77.
2. Sri Aurobindo, *The Human Cycle*, American Edition, p. 298.
3. Ibid, p. 9.
4. Ibid, p. 10.
5. Russell, B.,*The Scientific Outlook*, p. 270.
6. Ibid.
7. Russell, B., *The Impact of Science on Society*, p. 139.
8. Russell, B., *An Outline of Philosophy*, p. 312.
9. Sri Aurobindo, *The Human Cycle*, American Edition, p. 25.
10. Ibid, p. 29.
11. Sri Aurobindo, *The Life Divine*, Vol. II, p. 929.
12. Sri Aurobindo, *The Human Cycle*, p. 38.
13. Cf. Wright, Dr. J. C., *The Humanization of History*, Hibbert Journal, Vol. XLI, 1942-43, pp. 145-146.
14. Caudwell, C., *Further Studies in a Dying Culture*, p. 139.
15. Sri Aurobindo, *The Human Cycle*, p. 45.
16. Sri Aurobindo, *The Human Cycle*, p. 63.

VI—PSYCHOLOGY OF SOCIAL DEVELOPMENT

1. Sri Aurobindo, *The Human Cycle*, Ame.ican Edition, p. 37.
2. Sri Aurobindo *The Human Cycle* Amer can Ed t on p 207

3. Sri Aurobindo, *The Life Divine*, American Edition, p. 927.
4. Cole, G. D. H., *Essays in Social Theory*, p. 99.
5. Hobbes, T., *Leviathan*, Edited by Earnest Rhys, p. 63.
6. Schumpeter, J. A., *Capitalism, Socialism and Democracy*, (1947), p. 269.
7. Cole, G. D. H., *Essays on Social Theory*, p. 101.
8. Sri Aurobindo, *The Human Cycle*, American Edition, p. 223.
9. Russell, B., *Authority and the Individual*, p. 125.
10. Sri Aurobindo, *Mother India*, p. 929.
11. Sri Aurobindo, *The Life Divine*, American Edition, p. 929.
12. Stalin, Quoted by Plekhanov, *The Role of Individual in History*, p. 8.
13. Sri Aurobindo, *The Life Divine*, American Edition, p. 930.
14. Marx, K. and Engels, F., *Selected Works*, Vol. I, Foreign Languages Publishing House, Moscow (1955), p. 34.
15. Cf. Marx, K., *Capital*, Vol. I. Foreign Languages Publishing House, Moscow (1958). p. 19.
16. Sri Aurobindo, *The Human Cycle*, p. 223.
17. Ibid.
18. Marx, K. and Engels F., *Capital*, Vol. I, Foreign Languages Publishing House, Moscow (1958), p. 764.
19. Sri Aurobindo, *The Human Cycle*, American Edition. p. 225.
20. Sri Aurobindo, Ibid, p. 227.
21. Ibid, p. 228.
22. Sri Aurobindo, *The Life Divine*, American Edition, p. 935.
23. Sri Aurobindo, *The Human Cycle*, American Edition, p. 234.
24. Ibid.
25. Engels, F., *Anti Duhring*, p. 315.
26. Sri Aurobindo, *The Human Cycle*, American Edition, p. 245.
27. Ibid. p. 245.
28. Ibid, pp. 299-300.

VII—THE IDEAL OF SOCIAL DEVELOPMENT

1. Sri Aurobindo, *The Human Cycle*, American Edition, p. 67.
2. Sri Aurobindo, *The Life Divine*, American Edition, p. 660.
3. Ibid, p. 610.
4. Ibid. p. 615.
5. Sri Aurobindo, *The Human Cycle*, p. 174
6. Ibid, p. 77.

7. Sri Aurobindo, *The Life Divine*, American Edition, p. 27.
8. Sri Aurobindo, *The Human Cycle*, p. 251.
9. Ibid, p. 255.
10. Ibid, p. 256.
11. Ibid.
12. Ibid, p. 260.
13. Ibid, p. 274.
14. Eddington, *Science and the Unseen World*, p. 20.

VIII—NATIONALISM AND HUMAN UNITY

1. Sri Aurobindo, *The Ideal of Human Unity*, Sri Aurobindo Ashram, Pondichery, 1950, p. 10.
2. Sri Aurobindo, *Bhawani Mandir*, Sri Aurobindo Mandir Annual, Jayanti Number 15, August 15, 1956.
3. Sri Aurobindo, *Sneeches* Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, 3rd Edition, 1952, p. 4.
4. Sri Aurobindo, *The Doctrine of Passive Resistance*, p. 83.
5. Ibid, pp. 77-78.
6. Sri Aurobindo, *Speeches*, p. 6.
7. Sri Aurobindo, *The Doctrine of Passive Resistance*, pp. 67-68.
8. Quoted by S. K. Maitra, *Sri Aurobindo and Indian Freedom*, Sri Aurobindo Library, Madras, 1948.
9. Sri Aurobindo, *The Human Cycle*, (1950), pp. 37-38.
10. Ibid, p. 38.
11. Ibid, pp. 37-38.
12. Sri Aurobindo, *The Ideal of Human Unity*, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1950, p. 8.
13. Ibid, p. 12.
14. Ibid, p. 14.
15. Ibid, p. 24.
16. Ibid, p. 39.
17. Ibid, pp. 62-63.
18. Ibid, p. 118.
19. Ibid, p. 128.
20. Ibid, p. 131.
21. Ibid, p. 139.
22. Ibid, p. 144.
23. Ibid p 146

24 Ibid, p. 150.
25. Ibid, p. 159.
26. Ibid, p. 180.
27. Ibid, p. 184.
28. Ibid, p. 297.
29. Ibid, p. 331.
30. Ibid, p. 341.
31. Ibid, p. 341.
32. Ibid, p. 364.
33 Ibid, p. 370.
34. Ibid, p. 399.
35. Ibid, Postscript Chapter - 1.

IX—CULTURE AND CIVILIZATION

1. Sri Aurobindo, *The Foundations of Indian Culture*, p. 93.
2. Murphy, G., *Personality*, p. 129.
3 Sri Aurobindo, *The Foundations of Indian Culture*, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry (1959), p. 59.
4. Ibid.
5. Ibid, p. 106.
6. Ibid.
7 Ibid, p. 107.
8 Ibid, p. 206.
9. Ibid. p. 365.
10 Sri Aurobindo, *The Human Cycle*, The Sri Aurobindo Library Inc., New York (1950), p. 102.
11 Ibid, p. 105.
12 Plato, *Republic*, Lindsay's translation, Book X, p. 311.
13 Sri Aurobindo, *The Human Cycle*, p. 107.
14. Ibid, p. 108.
15. Ibid, p. 109.
6 Cf "History is to be transcended in the Divine Blessedness"— Berdyaev, *Divine and the Human*, pp. 197-98.
7 Toynbee, *A Study of History*, Vol. III, p. 263.
18. *Op. Cit.* pp. 394-403.
19. Toynbee, *Civilization on Trial*, p. 12.
20 Toynbee *A Study of H-story* Vol III p 240
21 Srı Aurobmdo *The Foundat ons of Indıan Culture* p 5

22. Spengler, O., *Decline of the West*, Vol. I, p. 31.
23. Sri Aurobindo. *The Foundations of Indian Culture*. p. 14.
24. Radhakrishnan, S., *East and West in Religion*, pp. 45-46.
25. Sri Aurobindo, *The Foundations of Indian Culture*, pp. 13-14.
26. Ibid, p. 93.
27. Ibid, p. 199.
28. Ibid, p. 201.
29. Ibid, p. 202.
30. Ibid, p. 125.
31. Ibid, p. 444.

X—EDUCATION

1. *A System of National Education*, p. 5.
2. Sri Aurobindo, *Essays on the Gita*, Second Series, Arya Publishing House, Cal. (1949), p. 319.
3. Sri Aurobindo, *The Synthesis of Yoga*, The Sri Aurobindo Library, Inc., New York (1950), p. 2.
4. Sri Aurobindo, *A System of National Education*, Arya Publishing House, Cal. (1948), p. 1.
5. Cole, G. D. H., *Essay in Social Theory*, p. 47.
6. Altekar, A. S., *Education in Ancient India*, p. 8.
7. *Froebel's Chief Educational Writings on Education*, Translated by Dr. Fletcher, p. 32.
8. Nettleship, R. L., *The Theory of Education in Plato's Republic*, (1935), p. 4.
9. Sri Aurobindo, *A System of National Education*, pp. 3—6.
10. Rousseau, J. J., *Emile*, p. 251.
11. Sri Aurobindo, *The Human Cycle*, p. 35.
12. Sri Aurobindo, *A System of National Education*, p. 5.
13. Sri Aurobinbo, *Integral Education*, Compiled by Dr. Indra Sen, Sri Aurobindo International University Centre, Pondicherry (1952), p. 4.
14. Radhakrishnan, S., *Report of the University Education Committee*, Vol. I, p. 53.
15. Sri Aurobindo, *A System of National Education*, pp. 7—12.
16. Huxley, A., *Proper Studies*, Chatto and Windus, London (1928), p. 136.
17. Ibid, pp. 31—40.
18. Ibid, p. 39.

19. Ibid, p 38
20. Ibid, p. 44.
21. Ibid, p. 46.
22. Ibid, p. 49.
23. Ibid, p. 52.
24. Sri Aurobindo, *A System of National Education*, p. 20.
25. Ibid, pp. 24-25.
26. Ibid, p. 21.

XI—ETHICS

1. Sri Aurobindo, *Essays on the Gita*, 2nd Series, Arya Publishing House, Cal., p. 24.
2. Sri Aurobindo, *The Human Cycle*, p. 165.
3. Ibid, p. 272.
4. Sri Aurobindo, *The Riddle of this World*, Arya Publishing House, Cal. (1946), pp. 49-50.
5. Sri Aurobindo, *The Human Cycle*, p. 161.
6. Sri Aurobindo, *The Advent*, Vol. III, No. 3, p. 144.
7. Sri Aurobindo, *Essays on the Gita*, The Sri Aurobindo Library Inc., New York (1950), p. 30.
8. Sri Aurobinbo, *The Life Divine*, American Edition, p. 644.
9. Sri Aurobindo, *The Ideal of Karmayogin*, Arya Publishing House, Cal. (1945), p. 28.
10. Ibid.
11. Sri Aurobindo, *The Ideal of Karmayogin*, p. 60.
12. Sri Aurobindo, *The Life Divine*, American Edition, pp. 723-724.
13. Sri Aurobindo, *The Superman*, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry (1950), p. 17.
14. Ibid.
15. Ibid, p. 19.
16. Sri Aurobindo, *The Renaissance in inIda*, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry (1951), pp. 67-68.
17. Sri Aurobindo, *The Life Divine*, American Edition, p. 787.
18. Sri Aurobindo, *The Life Divine*, American Edition, p. 557.
19. Sri Aurobindo, *The Advent*, Vol. III, No. 4, p. 216.
20. Sri Aurobindo, *The Life Divine*, American Edition, p. 542.
21. Sri Aurobindo, *The Ideal of Karmayogin*, p. 4.
22. Ibid, p. 31.

23. Sri Aurobindo, *The Doctrine of Passive Resistance*, Arya Publishing House, Cal. (1948). pp. 30-31.
24. Ibid, p 31.
25. Ibid, p. 81.
26. Ibid, p 84.
27. Sri Aurobindo, *Essays on the Gita*, Sri Aurobindo Library Inc., New York (1950), p. 40.

XII--RELIGION

1. Sri Aurobindo, *Letters*, Vol. I, pp. 90-91.
2. Sri Aurobindo, *The Human Cycle*, p. 192.
3. Freud, S., *Moses and Monotheism*, p. 210.
4. Freud, S., *The Future of an Illusion*, p. 76.
5. Ibid, p. 55.
6. Freud, S., *New Introductory Lectures on Psycho-Analysis*, p. 216
7. Leuba, J. H., *The Psychology of Religious Mysticism*, p. 318.
8. Sri Aurobindo, *The Life Divine*, Vol. II, Second Edition, p. 696.
9. Sri Aurobindo, *The Human Cycle*, American Edition, p. 195.
10. Ibid, p. 197.
11. Leuba, J. H., *Monist*, July 1901.
12. Sri Aurobindo, *The Renaissance in India*, p. 75.
13. Caird, J., *Introduction to the Philosophy of Religion*, p. 47.
14. Sri Aurobindo, *The Human Cycle*, p. 143.
15. Ibid, p. 144.
16. Ibid, p. 145.
17. Sri Aurobindo, *The Views and Reviews*, p. 2.
18. Sri Aurobindo, *The Human Cycle*, p. 148.
19. Sri Aurobindo, *The Life Divine*, Pt. II, p. 726.
20. Ibid, p. 765.
21. Ibid, p. 765.
22. Sri Aurobindo, *Thoughts and Glimpses*, p. 39.
23. Sri Aurobindo, *The Human Cycle*, p. 295.
24. Sri Aurobindo, *The Synthesis of Yoga*, American Edition, p. 16.

XIII—THE INTEGRAL YOGA

1. Sri Aurobindo, *The Synthesis of Yoga*, American Edition, p. 93.
2. Sri Aurobindo, *Letters*, First Series, pp. 26-27.
3. Sri Aurobindo, *The Synthesis of Yoga*, Vol. I, p. 37.

4. Sri Aurobindo, *Letters*, First Series, p. 28.
5. Sri Aurobindo, *Letters*, Third Series, p. 327.
6. Sri Aurobindo, *The Problem of Rebirth*, p. 52.
7. Sri Aurobindo, *The Synthesis of Yoga*, Arya, Vol. I, p. 16.
8. Sri Aurobindo, *Letters*, First Series, p. 246.
9. Sri Aurobindo, *Base of Yoga*, p. 33.
10. Sri Aurobindo, *More Lights on Yoga*, p. 95.
11. Sri Aurobindo, *Letters*, First Series, p. 152.
12. Ibid, p. 23.
13. Ibid, p. 23.
14. Sri Aurobindo, *Letters on Yoga*, p. 52.
15. Sri Aurobindo, *Letters*, Second Series, p. 132.
16. Sri Aurobindo, *The Human Cycle*, p. 296.
17. Sri Aurobindo, *The Human Cycle*, p. 277.
18. Ibid, p. 282.

XIV—THE FUTURE OF MANKIND

1. Sri Aurobindo, *The Life Divine*, American Edition, p. 901.
2. Sri Aurobindo, *The Life Divine*, Vol. II, American Edition, p. 863.
3. Ibid, p 872.
4. Ibid, p. 875.
5. Ibid.
6. Ibid, p. 879.
7. Ibid, p. 893.
8. Ibid, p. 895.
9. Ibid, p. 897.
10. Ibid, p. 898.
11. Sri Aurobindo, *The Human Cycle*, p. 289.
12. Sri Aurobinbo, *The Life Divine*, p. 916.
13. Ibid, p. 918.
14. Ibid, p. 743.
15. Ibid,
16. Ibid, p. 749.
17. Ibid, p. 750.
18. Sri Aurobindo, *The Human Cycle*, pp. 283-284.
19. Ibid, p. 286.
20. Ibid.
21. Ibid.

XV—CONCLUDING REMARKS : CRITICAL AND COMPARATIVE ESTIMATE

1. Sri Aurobindo, *The Life Divine*, American Edition, p. 763.
2. Sri Aurobindo, *The Human Cycle*, p. 270.
3. Sri Aurobindo, *The Foundations of Indian Culture*, p. 209.
4. Ibid, p. 158.
5. Sri Aurobindo, *The Human Cycle*, p. 121.
6. Sri Aurobindo, *The Foundations of Indian Culture*, pp. 196-97.
7. Sri Aurobindo, *The Ideal of Human Unity*, p. 363.
8. Tagore, R. N., *The Religion of Man*, p. 144.

BIBLIOGRAPHY

Works by Sri Aurobindo

The Life Divine, Vol. II, Second Edition, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry.

The Life Divine (Complete), The Sri Aurobindo Library Inc., New York, 1951,

Essays on the Gita, Second Series, Arya Publishing House, Calcutta, 1949.

Essays on the Gita (Complete), The Sri Aurobindo Library Inc., New York, 1950.

The Human Cycle, The Sri Aurobindo Library Inc., New York, 1950.

The Synthesis of Yoga, 1st University Edition, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry.

The Synthesis of Yoga (Complete), Sri Aurobindo Library Inc., New York, 1950.

The Foundations of Indian Culture, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1959.

Letters of Sri Aurobindo, First Series, Sri Aurobindo Circle, Bombay, 1950.

" " " Second Series

" " " Third Series

" " " Fourth Series

Supramental Manifestation, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1952.

The Ideal of Karmayogin, Arya Publishing House, Cal; 1945.

The Renaissance in India, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1951.

The Doctrine of Passive Resistance, Arya Publishing House, Calcutta, 1948.

The Riddle of the World, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1946.

After the War, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1949.

On Nationalism, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1965.

On India : a compilation, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1957

Science and Culture, Aditi Karyalaya. Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1951.

Uttar Para Speech, 5th Ed: Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1950.

Unity and War and Self Determination, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry. 1962.

Sri Aurobindo on future of India Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1955.

The Spirit and Form of Indian Polity, Arya Publishing House, Cal., 1947.

Bankim-Tilak-Dayanand. 3rd Ed., Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry. 1955.

Social and Political Thought. Sri Aurobindo Birth Centenary Lib.. Pondicherry, 1970.

Heraclitus, 2nd Edition, 1947.

A System of National Education, Arya Publishing House, Cal., 1948.

The Mother, Arya Sahitya Bhawan, Cal., 1928.

Bases of Yoga, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1952.

Evolution, Arya Publishing House, Cal.. 1944.

Lights on Yoga, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry. 1953.

Thoughts and Aphorisms, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry 1958.

More Lights on Yoga, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry 1948.

Integral Education, compiled by Dr. Indra Sen, Sri Aurobindo International University Centre, Pondicherry, 1952.

The Yoga and its Objects, Sri Aurobindo Ashram, 1949.

The Problem of Rebirth, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1952.

Views and Reviews, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1946.

Articles by Sri Aurobindo

Ancient Indian Policy, Indian Review 38, 1937.

August 15, Bhawan's Journal (2), Aug. 29, 1954.

Aurobindo's Political Testament, Indian Review 21, 1920.

Bhawani Mandir, Sri Aurobindo Mandir Annual No. XII, 1956

The Early Indian Polity Advent 12(2) Apr 1955

Formation and Reformation in Society, S. A. Mandir No.
1947.

The Foundations of Nationality, Advent 6(2) April 1949.

Indian Nationalism, Advent 24(4) Nov. 1967.

Meaning and Aim of Swadeshi Movement, Advent 23(1) Fe
1966.

The Moderates Attitudes, Advent 23(3) Aug. 1966.

Repressive Measures, Advent 24(1) Feb. 1967.

A Message to Europeans and Americans, Hindustan Review
1949.

New Conditions, Bande Matram, April 29, 1968.

The New Society, S. A. Circle No. XVI, 1960.

The Old and the New, Mother India 12(5) June 1960.

The Problem of Past, Mother India 10(1) Feb. 1958.

The Resurgence of Asia and Africa, Advent 22(3) Aug. 1965

Sri Aurboindo on Indian and European Politics, Sri Aurobin
Action 1(11), Aug. 1971.

Sri Aurobindo on the U N.O., S. A. Action 1(2) Nov. 1970

Sri Aurobindo on the War, Advent 1(1) Feb. 1944.

Task before New India, Bhawan's Journal 3(2) April 1965

The Three Stages of Human Society, Mother India 11(4) M
1959.

Towards Human Unity, Mother India 17(10-11) Dec 1965.

True Meaning of Freedom, Mother India 12(4) May 1960.

The Turn towards Unity, World Union 8(1) Jan/March 1968.

The Vitality of Hindu Culture, Indian Review 21, 1920.

The Way of Unity, Bhawan's Journal 2(7) 6 Nov. 1955.

A Word about Society, Mother India 11(5) June 1959.

OTHER WORKS

Alexander, S., *Space, Time and Deity*, Vols. I and II, 1920.

Altekar, A. S., *Education in Ancient India.*

Berdyaev, M., *Solitude and Society.*

— *Divine and the Human*, 1947.

Bharati, S., *Sri Aurobindo, the Divine Master*, Pudu
Nilayam, Pondicherry, 1948.

Bradley, F. H., *Appearance and Reality*, 2nd Edition,
Impression.

Caudwell C *Further Studies in Dying Culture.*

Comte, A., *Philosophie Positive*, 1839.

Caird, J., *Introduction to the Philosophy of Religion*, Chukerverty Chatterjee & Co., Cal., 1956.

Cole, G. D. H. *Essays in Social Theory*. Macmillan & Co., London, 1950.

Eddington *Science and the Unseen World.*

Baig, M. R. A. *In Different Saddles*, Asia Publishing House, Bombay, 1967.

Elwood, C. A. *The Social Problem*, New York, 1918.

Engels, F., *Anti Duhring*, Foreign Languages Publishing House, Moscow.

Fromm, E., *The Sane Society.*

Freud, S., *Moses and Monotheism.*

— *The Future of an Illusion*, The Hogarth Press Ltd., London, 1949.

— *New Introductory Lectures on Psycho-Analysis*, The Hogarth Press Ltd., London, 1949.

— *Civilization and its Discontents*, The Hogarth Press Ltd., London, 1946

Froebel *Cheif Educational Writings*, Trans. by Dr. Fletcher.

Gandhi, Kishore H. *Social Philosophy of Sri Aurobindo and the New Age*, Sri Aurobindo Society, Pondicherry, 1965.

Ginsberg, M., *Studies in Society*, Oxford University Press, London.

Ginsberg, M., *On the Diversity of Morals.*

Gupta, N. K., *Towards a New Society*, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1946.

Hopkins, P., *The Psychology of Social Movement*. George Allen & Unwin Ltd., London, 1938.

Hobhouse, L. T., *The Element of Social Justice*, George Allen & Unwin Ltd., London 1949.

Hughes, A. G., *Education and the Democratic Ideal.* Longman's Green & Co., London, 1951.

Huxley, A., *Ends and Means*, Chatto and Windus, London, 1951.

— *Proper Studies*, Chatto and Windus, London, 1951

Hobbes, T., *Leviathan*, Edited by Earnest Rhys, J. M. Dent & Sons, London, 1929.

Joshi, N. V., *Social Philosophy*.

Kewal Motwani *Sri Aurobindo on Social Sciences and Humanities for the New Age*, Longman, Cal., 1962.

Karan Singh *Prophet of Indian Nationalism*, Bharatiya Vidya Bhawan, Bombay, 1970.

Kartus, S., *Aurobindo : Prophet of Humanity*, Cultural Integration Fellowship, San Francisco, 1961.

Kroeber, A. L., *Nature of Culture*.

Leuba, J. H., *The Psychology of Religious Mysticism*, Kegan Paul, London, 1929.

Lenin, V. I., *Socialism and War*, Moscow, 1949.

Lapiere, R. T., *The Elements of Sociology*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1946.

MacIver, R. M., *Society : An Introductory Analysis*, Macmillan, London, 1952.

Maitra, S. K., *The Dawn Eternal*, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1954.

— *The Future of India*, Sri Aurobindo Library, Madras, 1941.

— *History of the Future*, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1968.

Maitra, S. K., *The Liberator : Sri Aurobindo and the World*, Jaico, New Delhi. 1954.

Maitra, Sir, S. K., *Resurgent India*, Allied Publishers, Bombay, 1963.

— *Sri Aurobindo and the New World*, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1957.

— *Vision of India*, Culture Pub., Cal., 1947.

Mukerjee H. and M. Mukerjee. *Sri Aurobindo's Political Thought*, Mukhopadhyaya, Cal., 1958.

Muirhead, J. H., *Elements of Ethics*.

Murphy, G., *Personality*.

Marx, K., *Selected Works, Vol. I*, Foreign Languages Publishing House, Moscow, 1955.

— *Capital*, Vol. I, Foreign Languages Publishing House, Moscow, 1958.

Nettleship, R. L., *The Theory of Education in Plato's "Republic"*, 1935

Pandit, M. P., *Current Problems*, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1968.

Plekhanov, G. V., *The Roll of Individual in History*, Foreign Languages Publishing House, Moscow, 1946.

Plato *Republic*, Trans. by A. D. Lindsay, J. M. Dent & Sons Ltd., London, 1954.

Rousseau, J. J., *Emile*, J. M. Dent & Sons, London, 1950.

Ray, B. G., *Gandhian Ethics*.

Roy, Anilbaran, *Sri Aurobindo and the New Age*, 2nd Ed., Divya Jiwan Sahitya Prakashan, Pondicherry 1965.

— *The World Crisis*, *Sri Aurobindo's Vision of the Future*, Allen and Unwin, London, 1947,

Roy, D. K., *Among the Great*, Nalanda Publishers, Bombay, 1947.

Radhakrishnan, S., *Report of the University Education Commission*, Vol. I.

— *East and West in Religion*, George Allen & Unwin Ltd, London, 1949.

Russell, B., *Principles of Social Reconstruction*, George Allen & Unwin Ltd., London, 1927.

— *The Scientific Outlook*, George Allen & Unwin Ltd London, 1949.

— *The Impact of Science on Society*, George Allen & Unwin Ltd., London, 1952.

— *An Outline of Philosophy*, George Allen & Unwin Ltd, London, 1949.

— *Authority and the Individual*, George Allen & Unwin Ltd, London, 1949.

Sastri, A. V., *The Psychology of Indian Nationalism*, Dipti Publications, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1968.

Sethna, K. D., *Indian Spirit and the World Problems*, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1953.

Sharma, R. N., *The Philosophy of Sri Aurobindo*, Third Edition, Kedar Nath Ram Nath, Meerut, 1977.

— *Philosophy, Religion and Science*, Agra University, J. Res. (Letters), Vol. VIII, Pt. I, 1960.

— *The Nature of Truth* Agra Uni J Res (Letters) Vo VII Pt I 1959

— *Sri Aurobindo's Integral Method in Philosophy*, Agra Univ. J. Res. (Letters), Vol. XI, Pt. II, 1964.

— *Control of Psi Phenomena in Sri Aurobindo's Yoga*, Indian Journal of Parapsychology, Vol. III, No. 4, 1961-62.

Schweitzer, A., *Civilization and Ethics*.

Sorokin, P. A., *Social Philosophies of An Age of Crisis*, Adam & Charles Black, London, 1952.

— *Cultural and Social Dynamics*

Shumpeter, J. A., *Capitalism, Socialism and Democracy*, 1947.

Spengler, O., *Man and Technique*.

— *Decline of the West*, Vol. I, Eng. Trans. by C. F. Atkinson.

Titus, H. H., *Living Issues in Philosophy*, Second Edition, American Book Co., New York, 1959.

Toynbee, A. J., *A Study of History*, Vol. III, Oxford University Press, London, 1956.

— *Civilization on Trial*, Thaker & Co., Bombay, 1948.

Verma, V. P., *Modern Indian Political Thought*, Lakshmi Narayan Agarwal, Agra. 1961.

— *Political Philosophy of Sri Aurobindo*, Asia Publishing House, Bombay, 1960.

Vivekanand, S., *The Complete Works*, Part I, IV Edition.

Wright, F. J., *The Elements of Sociology*, University of London Press Ltd , London, 1942.

Periodicals

Mother India	...	Aug. 1952.
The Advent	...	Vol. IX, No. 2.
—	...	Vol. III, No. 3.
—	...	Vol III, No. 4.
Sri Aurobindo Mandir Annual	...	Nos. 11, 6, 2.
Bulletin of Sri Aurobindo International Centre of Education	...	Vol. XII, No. 1, Feb. 1960.
Indian Opinion	...	Golden Number
Monist	...	July, 1901
Hibbert Journal	...	Vol. XII, 1942-43.
Monthly Review	...	Vol. I, No. 1, 1949.

पारिभाषिक शब्द-सूचक

A

Absolute	निरपेक्ष
Absoluteness	निरपेक्षता
Absorption	तल्लीनता
Abstract	अमूर्त
Abstraction	पृथक्करण
Active	सक्रिय
Activity	सक्रियता
Acceptance	स्वीकृति
Adaptation	अनुकूलता
Adhesion	अनुलग्नता
Adoration	पूजा
Aeon	कल्प, युग
Aesthetic	सौन्दर्यात्मक
Aesthetic sense	रस वृत्ति
Agnosticism	अज्ञेयवाद
All (The)	विश्व, सर्व
Analysis	विश्लेषण
Anthropology	मानवशास्त्र
A-moral	नैतिकता से परे
A-priori	अनुभव-पूर्व
Appearance	प्रतीति
Apprehending Consciousness	प्रतिबोधक चेतना
Apprehension	प्रतिबोध
Ascending	ऊर्ध्वगामी
Ascent	आरोहण
Aspiration	अभीप्सा
Attachment	आसक्ति
Attention	ध्यान
Attitude	अभिवृत्ति
Attraction	आकर्षण
Austerities	तपस्याएँ
Automaton	स्वचालित यन्त्र

B

Background	पृष्ठभूमि
Beatitude	दिव्यानन्द
Becoming	संभूति
Being	सत्
Being, Aesthetic	रसमय पुरुष
Being, external	बाह्य पुरुष
Being, mental	मनोमय पुरुष
Being, Physical	अन्नमय पुरुष
Being, Psychic	चैत्य पुरुष
Being, Subliminal	प्रच्छन्न पुरुष
Being, Supramental.	अतिमानसिक पुरुष
Being, Supreme	परम-पुरुष
Being, transcendental	अतिशायी पुरुष
Being, vital	प्राणमय पुरुष
Being, volitional	संकल्पात्मक पुरुष
Bliss	आनन्द
Boundless	असीम

C

Calm स्थिरता
Cannon अनुशासन
Category वर्ग
Causality कार्यकारणभाव
Centrifugal केन्द्रविमुख
Centripetal केन्द्राभिमुख
Classification वर्गीकरण
Coercion निग्रह
Cognition ज्ञान
Collectivism समूहतन्त्र
Complementary पूरक
Comprehending Consciousness समग्रबोधात्मक चेतना
Comprehension समग्र बोध
Concentration एकाग्रता
Concentric समकेन्द्रित
Conceivable काल्पनीय
Concept प्रत्यय
Conception प्रत्ययन
Concrete मूर्त्त
Conditional सापेक्ष
Consecration निवेदन
Consciousness चेतना
Contemplation निदिध्यासन
Contradiction विरोध
Convention रूढ़ि
Conversion धर्मान्तर
Conviction निश्चय
Correlation सह-सम्बन्ध
Correspondence अनुरूपता
Cosmic विश्वगत
Cosmic Consciousness विश्व-चेतना
Cosmic nature विश्व-प्रकृति
Cosmic self विश्वपुरुष
Cosmos विश्व
Creation सृष्टि
Creed मत
Criterion कसौटी
Cult सम्प्रदाय
Cycle चक्र

D

Deduction निगमन
Deity देवता
Delight आनन्द
Descent अवरोहण
Determinism नियतिवाद
Disgust घृणा
Disharmony असंगति
Disparate विषम
Divine (adj.) दिव्य
Divine Life दिव्य जीवन
Dual द्वैत
Dualism द्वैतवाद
Dynamic गतिमान

E

Earth Consciousness पार्थिव चेतना
Ego अहम्
Egoism अहंभाव
Electron विद्युत्कण
Element तत्त्व
Embodiment मूर्त्त स्वरूप
Emotion संवेग
Emotional being भावमय पुरुष
Empiricism अनुभववाद
Energy शक्ति
Equanimity सन्तुलन

Equation समीकरण
Essence सार
Essential सारभूत
Eternal शाश्वत
Ethics नीतिशास्त्र
Evolution विकास
Existentialism अस्तित्ववाद
Experience अनुभव
Extension विस्तार

F

Faith आस्था
Feeling अनुभूति
Fiat आदेश
Fidelity स्थिर निष्ठा
Force शक्ति
Form रूप
Formless अमूर्त
Formula सूत्र
Fundamental मौलिक
Fusion एकीकरण

G

Generalisation सामान्यीकरण
Gnosis विज्ञान
Gnostic being विज्ञानमय पुरुष
Grace कृपा
Gradation क्रमविन्यास

H

Harmony सामंजस्य
Hedonism सुखवाद
Hierarchy कोटिक्रम
Higher Mind उच्चतर मानस
Humanism मानवतावाद

I

Idealism आदर्शवाद
Identity तादात्म्य
Illumined mind ज्ञानदीप्त मानस
Immanent अन्तःस्थ
Inconscience निश्चेतना
Inconsistency असंगति
Indeterminate निर्विशेष
Individuality वैयक्तिकता
Instinct मूल प्रवृत्ति
Integral सर्वांग
Intellectual mind बौद्धिक मानस
Intuition सम्बोधि
Intuitive mind सम्बोधिमय मन
Involution निवर्तन

L

Life जीवन, प्राण
Life-energy प्राण-बल
Life-force प्राण-शक्ति

M

Manifestation अभिव्यक्ति
Matter जड़
Meditation ध्यान
Mental मनोमय
Metaphysics आध्यात्मशास्त्र
Method पद्धति
Monism अद्वैतवाद, एकवाद
Mystic रहस्यवादी

N

Nature प्रकृति
Negative नकारात्मक
Nescience निर्ज्ञान
Noumenon वस्तु स्वयं

O

Occult गुह्य
Over mind अधिमानस

P

Pantheism	सर्वेश्वरवाद
Person	पुरुष
Phenomenon	रूपात्मक सत्ता, प्रपंच
Poise	अवस्था
Positivism	विज्ञानवाद, भाववाद
Power	शक्ति
Pragmatism	व्यवहारवाद
Psychic	चैत्य
Psycho-Analysis	मनोविश्लेषण

R

Ratiocination	वितर्क
Real Idea	सत्य प्रत्यय
Reality	सद्वस्तु
Realisation	साक्षात्कार
Realism	यथार्थवाद
Reason	तर्क, बुद्धि
Recognition	प्रत्यभिज्ञा
Re-incarnation	पुनर्जन्म
Relative	सापेक्ष
Repression	निग्रह, दमन
Repulsion	द्वेष
Revelation	सत्य दर्शन

S

Seer	द्रष्टा
Self	आत्मन्
Self-Assertion	आत्मप्रतिष्ठा
Self-Awareness	आत्मभान
Self-Consecration	आत्मनिवेदन
Self-dedication	आत्मोत्सर्ग
Self-determination	आत्मनिरूपण
Self-delight	आत्मानन्द
Self-evident	स्वयंसिद्ध
Self-existent	स्वयंभू
Self-giving	आत्मदान
Self-knowledge	आत्मज्ञान
Self-observation	आत्मनिरीक्षण
Self-offering	आत्माञ्जलि
Self-Respect	आत्मसम्मान
Self-Sacrifice	आत्मबलिदान
Self-Surrender	आत्मसमर्पण
Sensation	संवेदन
Sheath	कोष
Soul	आत्मा, जीव
Space	दिक्
Spirit	अन्तरात्मा
Spiritual	आध्यात्मिक
Sub-Conscience	अवचेतन
Sub-Conscient	अवचेतन
Sub-conscious	अवचेतन
Sub-concient Being	अवचेतन पुरुष
Subject	विषयी
Subjective	आत्मगत
Sublimation	उन्नयन
Subliminal Being	तलवर्ती पुरुष प्रच्छन्न
Subliminal *Consciousness*	प्रच्छन्न चेतना
Substance	पदार्थ
Subtle	सूक्ष्म
Super-conscience	अतिचेतन
Super-conscient	अतिचेतना
Super-man	अतिमानव
Super-mind	अतिमानस
Supramental	अतिमानसिक
Supra-physical	अतिभौतिक
Supreme	परम
Supreme (The)	परात्पर

Symbol — प्रतीक
Synthesis — समन्वय

T

Tendency — प्रवृत्ति
Theory — मत, सिद्धान्त
Theoretical — मौखिक
Thought — विचार
Time — काल
Transient — अनित्य
Transition — संक्रमण
Transmute — परिवर्तन करना
Triune — त्रिविध
Truth — सत्य
Tradition — परम्परा
Transcendence — उत्क्रमण
Transcendent — विश्वातीत
Transformation — रूपान्तर

U

Ultimate — अन्तिम
Unity — एकता
Universal — सार्वभौम
The Universal — विश्वमय
Utilitarianism — उपयोगितावाद

V

Vision — दृष्टि
Vital — प्राणात्मक
Vitalism — प्राणवाद

W

Waking Consciousness — जाग्रत चेतना
Whole — पूर्ण
Will — संकल्प